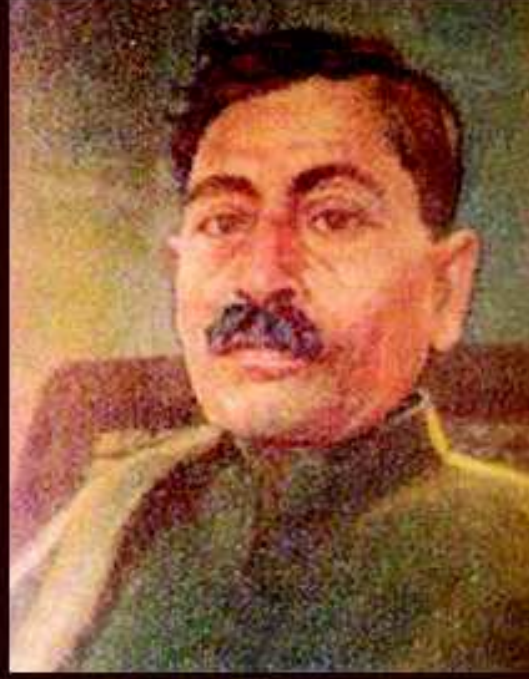




डॉ. महेंद्रभटनागर



प्रेमचंद

(विचारक, उपन्यासकार, कहानीकार)

समीक्षक

डॉ. महेन्द्रभटनागर

डा. महेन्द्रभटनागर ने प्रेमचंद के जीवन-दर्शन और मानवतावादी पक्ष का बहुत उत्तम विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि “ प्रेमचंद मानवतावादी लेखक थे। गांधीवादी या साम्यवादी सिद्धान्तों से उन्होंने सीधी प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उन्होंने जो कुछ जाना, सीखा, लिया; वह सब अपने अनुभव मात्र से। इसीलिए उनके साहित्य में अपरास्त शक्ति है। गांधीवाद और साम्यवाद कोई मानवता के विरोधी नहीं हैं; अतः प्रेमचंद के विचारों में जगह-जगह दोनों की झलक मिल जाती है। लेकिन उनका मानवतावाद सर्वत्र उभरा दीखता है।” यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि प्रेमचंद पूर्णरूप से मानवतावादी थे। उनके उपन्यासों में और लेखों में जड़-सम्पत्ति मोह चाहे वह परम्परागत सुविधा के रूप में हो, ज़मींदारी या महाजनी वृत्ति का परिणाम हो, या उच्चतर पेशों से उपलब्ध हो मानव की स्वाभाविक सद्वृत्तियों को रूद्ध करता है। प्रेमचंद ने सचाई और ईमानदारी को मनुष्य का सबसे बड़ा उन्नायक गुण समझा है। प्रेम उनकी दृष्टि में पावनकारी तत्त्व है। जब वह मनुष्य में सचमुच उदित होता है तो उसे त्याग और सचाई की ओर उन्मुख करता है। महेन्द्रभटनागर जी ने बड़ी कुशलतापूर्वक प्रेमचंद की इस मानवतावादी दृष्टि का विश्लेषण किया है। उनका यह कथन बिल्कुल ठीक है कि “ प्रेमचंद ने ‘औद्योगिक नैतिकता’ का वर्णन कर उद्योगपतियों की मनोवृत्ति के विरुद्ध जन-मत तैयार किया है।” उन्होंने उस मूक जनता का पक्ष लिया है जो दलित है, शोषित है, और निरुपाय है। पुस्तक में प्रेमचंद के उपन्यासों और लेखों से उद्धरण देकर उन्होंने इस बात का स्पष्टीकरण किया है। उनके निष्कर्ष स्वीकार योग्य हैं। प्रेमचंद के विचारों को उन्होंने बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता के साथ व्यक्त किया है। मुझे आशा है कि साहित्य-रसिक और समाज-सेवी इससे समान रूप से आनन्द पा सकेंगे। हमारे देश की बहु-विचित्र समस्याओं का इसमें उद्घाटन हुआ है और प्रेमचंद जैसे मनीषी का दिया हुआ समाधान इससे स्पष्ट हुआ है।

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी



डॉ. महेंद्रभटनागर

जन्म-तिथि : 26 जून 1926

जन्म-स्थान : झाँसी / उत्तर-प्रदेश

शिक्षा : एम. ए. (1948), पीएच. डी. ('समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' / 1957)

भाषा-ज्ञान : हिंदी, अँगरेज़ी

कार्य : प्रोफेसर-अध्यक्ष :

हिन्दी स्नातकोत्तर / शोध-विभाग।

कार्य-क्षेत्र : बुंदेलखंड, मालवा, चम्बल-अंचल।

द्विभाषिक कवि हिन्दी-अँगरेज़ी और आलोचक।

अधिकांश साहित्य 'महेंद्रभटनागर - समग्र' के सात खंडों और 'महेंद्रभटनागर की कविता-गंगा' के तीन खंडों में समाविष्ट।

सम्पर्क :

110 बलवन्तनगर, गांधी रोड,

ग्वालियर-474 002 (म. प्र.)

फ़ोन : 0751-4092908

E-Mail : drmahendra02@gmail.com

प्रेमचंद

(विचारक, उपन्यासकार, कहानीकार)

समीक्षक

डॉ. महेंद्रभटनागर

प्रेमचंद

(विचारक / उपन्यासकार / कहानीकार)

भाग - 1

- 1 प्रेमचंद-युग
- 2 मध्य-वर्ग और प्रेमचंद
- 3 साहित्य-अवधारणाएँ और प्रेमचंद
- 4 आदर्शोन्मुख यथार्थवाद
- 5 जीवन-चिन्तन
- 6 मानवतावादी दृष्टि

भाग-2

- 7 उपन्यासकार प्रेमचंद

भाग-3

- 8 स्वतंत्रता आन्दोलन
- 9 कठपुतली शासक और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद
- 10 साम्प्रदायिक सौमनस्य
- 11 अस्पृश्यता
- 12 शिक्षा : उद्देश्य और व्यावहारिकता
- 13 औद्योगिक विकास : आर्थिक व समाजशास्त्रीय पक्ष
- 14 ग्रामीण भारत
- 15 भारतीय नारी (क) वैवाहिक-समस्या
- 16 भारतीय नारी (ख) दाम्पत्य जीवन
- 17 भारतीय नारी (ग) विधवा-समस्या

18 भारतीय नारी (घ) वेश्या-समस्या

भाग-4

19 प्रेमचंद-विरचित कतिपय कहानियाँ

भाग-5

परिशिष्ट

1 प्रेमचंद-विरचित कहानियों का वैशिष्ट्य

2 प्रेमचंद-विरचित कहानी 'कफ़न'

प्रश्न : डा. कमलकिशोर गोयनका : उत्तर : डा. महेन्द्रभटनागर

3 'गोदान' : परिच्छेदानुसार रेखांकन

4 'प्रेमचंद' : कथा-कोश / कहानी-तालिका

5 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' : अभिमत ।



प्रेमचन्द-युग

प्रेमचन्द का जन्म 31 जुलाई सन् 1880 ई. को हुआ था। उनका साहित्यिक जीवन लगभग सन् 1901 से प्रारम्भ होता है। सन् 1901 से 1936 तक भारत प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टि का केन्द्र रहा। अतः यह अवश्यक है कि प्रेमचन्द के समय के भारत की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक दशा पर पहले विचार कर लिया जाय; क्योंकि प्रेमचन्द व्यक्तिवादी लेखक नहीं थेउन पर उस समय की परिस्थितियों तथा समस्याओं का पूरा-पूरा प्रभाव है। किसी काल-विशेष में जो दृष्टिकोण मान्यता प्राप्त करता है उसका सम्बन्ध जागरूक लेखकों से निकट का रहता है। वस्तुतः विचारक और लेखक ही अपने समय की विचारधारा के वाहक होते हैं। वे ही राष्ट्र तथा समाज को जीवन व गति प्रदान करते हैं।

प्रेमचन्द-युग भारतीय जनता के राष्ट्रीय संघर्ष का युग है। पराधीनता के कारण प्रत्येक क्षेत्र में भारत का विकास रुका हुआ था और उसकी सभी समस्याओं का निराकरण बिना स्वाधीनता-प्राप्ति के सम्भव नहीं हो पा रहा था। राष्ट्रीय पराधीनता एक ग्रन्थि के समान बन गई थी जो भारतीय जीवन की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के सूत्रों को सुलझाने नहीं देती थी। सबसे पहला प्रश्न देश को साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त करने का था। भारत की समग्र चेतना व कर्म-शक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने में लगी हुई थी। अतः सर्वप्रथम राजनीतिक भारत पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश में निराशा का वातावरण छाया हुआ था। सन् 1857 का स्वाधीनता-संग्राम विफल हो चुका था। ब्रिटिश सरकार का दमनचक्र अपनी पूरी गति से चल रहा था। भारतीय जन-जीवन उसमें कोई राह न पाकर अनिश्चितता के बीहड़ प्रदेश में भटक रहा था। सन् 1885 में 'इंडियन

नेशनल कांग्रेस' का निर्माण हुआ। भारत के सुप्त प्राण पुनः जाग उठे। देश में एक नई हलचल उत्पन्न हुई।

सन् 1901 में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के पश्चात् सप्तम एडवर्ड गद्दी पर बैठे। सन् 1885 से 1905 तक 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' ने काफी प्रगति की और वह जन-संस्था के रूप में देखी जाने लगी। इस बीच कांग्रेस के कार्य शांतिपूर्ण समझौते तथा विश्वास के आधार पर ही हुए। "कांग्रेसियों के दिलों में कभी-कभी कुछ उत्तेजना और रोष के भाव आ गए हों, पर इसमें कोई शक नहीं कि ठेठ 1885 से 1905 तक कांग्रेस की जो प्रगति हुई उसकी बुनियाद थी वैध आन्दोलन और अंग्रेजों की न्यायप्रियता के प्रति उनका दृढ़ अटल विश्वास ही।"¹

बीसवीं शताब्दी के प्रथम पाँच वर्ष लार्ड कर्जन के दमनपूर्ण शासन के थे। भारत को इस दमन का सबसे बड़ा धक्का बंग-भंग से लगा। बाँगला भाषा-भाषी जनता की इच्छा के प्रतिकूल बंगाल को दो प्रान्तों में बाँट दिया गया। सन् 1911 की शाही घोषणा से बंग-भंग का निर्णय वापस ले लिया गया। इसी समय भारत के राजनीतिक मंच पर सर आगा ख़ाँ के दर्शन हुए। आगा ख़ाँ के नेतृत्व में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई जिसने साम्प्रदायिक पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग की और इस प्रकार भारत-विभाजन की नींव डाली। "1912 में लार्ड हार्डिंग जब जुलूस के साथ हाथी पर नई राजधानी दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे, किसी ने उन पर बम फेंका और वह मरते-मरते बचे।"² अफ्रीका के भारतीय आन्दोलन से भी देश की राष्ट्रीय चेतना को नया बल मिला।

जुलाई, 1914 में महासमर छिड़ गया। इस समर में भारतीय फौजों ने ब्रिटेन की पूरी रक्षा की। महात्मा गांधी ने सरकार को पूर्ण सहयोग दिया, क्योंकि युद्ध 'आत्मनिर्णय' के आधार पर किया गया था। लेकिन भारत की पराधीनता ज्यों-की-त्यों रही। इसी समय अंग्रेज़ सरकार द्वारा रोलट बिल (1919) को कानून बनाने के प्रयत्न किये गये। गांधी जी ने इसका कड़ा विरोध किया। "गांधी जी ने यह घोषणा की कि यदि रोलट कमीशन की सिफारिशों को बिल का रूप दिया गया तो वे सत्याग्रह-युद्ध छेड़ देंगे।"³ गांधी जी ने सम्पूर्ण देश का दौरा किया और अन्त में उन्हें आन्दोलन छेड़ना पड़ा। देश ने चारों तरफ़ से इस आन्दोलन का साथ दिया। जगह-जगह गोलियाँ चलीं। सबसे भयंकर नर-संहार जलियांवाला बाग (अमृतसर) में जनरल डायर द्वारा हुआ।

"सबसे बड़ी दुख बात वास्तव में यह थी कि गोली चलाने के बाद मृतकों

के शव और वे लोग जो सख्त घायल हो गये थे, उन्हें सारी रात वहीं पड़ा रहने दिया गया। वहाँ उन्हें रात-भर न तो पानी ही पीने को मिला और न डाक्टरी या कोई अन्य सहायता ही। डायर का कहना था, जैसा कि बाद को उसने प्रकट किया: 'चूँकि शहर को फौज के कब्जे में दे दिया गया था और इस बात की डौंडी पिटवा दी गई थी कि कोई भी सभा करने की इजाजत नहीं दी जायगी, तो भी लोगों ने उसकी अवहेलना की, इसलिए मैंने उन्हें एक सबक देना चाहा, ताकि वे उसकी खिल्ली न उड़ा सकें।' आगे चलकर उसने कहा कि 'मैंने और भी गोली चलाई होती, अगर मेरे पास कारतूस होते। सोलह सौ बार ही गोली चलाई, क्योंकि मेरे पास कारतूस खत्म हो गये थे।' उसने कहा : 'मैं तो एक फौजी गाड़ी (आरमर्ड कार) ले गया था, लेकिन वहाँ जाकर देखा कि वह बाग के भीतर घुस ही नहीं सकती थी। इसलिये उसे वहीं छोड़ दिया था।' ⁷⁴ सितम्बर 1919 में हण्टर-कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई। जिससे पंजाब के उपद्रवों की जाँच करने के लिए कहा गया। गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

आगे चलकर 1920 के असहयोग-आन्दोलन ने जोर पकड़ा। सन् 1920 की 28 मई को हण्टर-रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसके कारण देश में क्षोभ और छा गया। भारतीय सदस्य उस रिपोर्ट से सहमत नहीं थे। असहयोग की योजना 1 अगस्त से प्रारम्भ हुई। जगह-जगह आन्दोलनों की बाढ़-सी आ गई। अनेक आन्दोलनकारी जेलों में ठूस दिये गये। नवम्बर, 1920 में प्रिन्स ऑफ वेल्स के स्वागत का बहिष्कार किया गया। आन्दोलन सफलता की सीमा को पहुँचने लगा। लोगों के हौसले बहुत बढ़े हुए थे। असहयोग-आन्दोलन में हिन्दू-मुसलमानों ने मिलकर संघर्ष किया। लार्ड रीडिंग भी इस आन्दोलन से परेशान हो उठे। असहयोग-आन्दोलन अहिंसात्मक था, लेकिन चौराचौरा के एक थाने पर लोगों ने आक्रमण किया और उसे जला दिया। गांधी जी ने हिंसा देख, आन्दोलन स्थगित कर दिया। गांधी जी भी इस आन्दोलन में छह वर्ष के लिए जेल भेजे गये।

सन् 1922 में टैक्स न देने का आन्दोलन छिड़ा, जिसमें सरकार ने बड़ी कठोरता से काम लिया। सन् 1923 में जेलों से छूटे नेताओं ने कौंसिलों में जाने का निश्चय किया। स्वराज्य पार्टी का निर्माण हुआ। साइमन कमीशन का बहिष्कार किया गया; क्योंकि उसमें एक भी भारतीय नहीं था। सन् 1927 में होने वाले हिन्दू-मुस्लिम दंगों को शांत करने के लिए ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने साइमन कमीशन भेजा था, लेकिन उसमें कोई भी भारतीय न होने से भारत ने उसे अपना

अपमान समझा। धीरे-धीरे असंतोष तीव्रतर होता गया। जवाहरलाल नेहरू ने मद्रास कांग्रेस में भाग लिया। कांग्रेस में नया खून आया और गांधी जी द्वारा विरोध करने पर भी पूर्ण स्वराज्य की घोषणा कर दी गई। 1930 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में नमक-कानून भंग करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। 6 अप्रैल, 1930 को दाण्डी पहुँचकर नमक बनाया गया। स्त्रियों ने पर्दा छोड़कर इस आन्दोलन में भाग लिया। ब्रिटिश सरकार ने लाठियों और गोलियों से इस आन्दोलन को भी दबाना चाहा। गांधी-इरविन पैक्ट सामने आया। तत्पश्चात् गांधी जी कांग्रेस के प्रतिनिधि बनकर गोलमेज कान्फ्रेंस में भाग लेने इंग्लैंड गए। गांधी जी जब वापस लौटे तब देश की हालत और भी बिगड़ी दिखाई दी। उस समय लार्ड विलिंगटन का शासन था, जो बड़ा कठोर था। संयुक्त-प्रान्त के किसान लगान-बन्दी आन्दोलन कर रहे थे। नये भारत-कानून के अनुसार हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने की चेष्टा की गई। गांधी जी ने इस साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आमरण अनशन की घोषणा कर दी। बाद में पूना-पैक्ट हुआ और व्रत तोड़ दिया गया। सन् 1935 में भारतीय शासन-विधान बना। कांग्रेस ने विधान के अनुसार चुनावों में भाग लिया; यद्यपि वह संतुष्ट न थी। इस प्रकार कांग्रेसी बहुमत वाले प्रान्तों में शासन-सूत्र कांग्रेस के हाथ में आ गया। मंत्रिमंडल बन ही रहे थे कि 7 अक्टूबर, 1936 को प्रेमचन्द की मृत्यु हो गई।

प्रेमचन्द के जीवन-काल में भारत उपर्युक्त राजनीतिक घटना-चक्रों में से गुज़रा था। वास्तव में प्रेमचन्द का युग भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का युग है। उनके समय देश का यौवन अपने पूरे विकास पर था। एक ओर नवयुवक बड़े उत्साह से स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर रहे थे तो दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दमन-चक्र अपनी पूरी कठोरता व निर्दयता के साथ चल रहा था। देश में जगह-जगह सभाओं और आन्दोलनों की धूम थी। विशाल जनसमूह के जुलूस प्रमुख नगरों में प्रायः निकला ही करते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार और अर्थशास्त्री रजनी पामदत्त 'आज का भारत' नामक ग्रंथ में लिखते हैं : "1914-18 के पहले महायुद्ध से, और उसके बाद सारी दुनिया पर जो क्रांति की लहर छा गई थी, उससे दूसरे सभी उपनिवेशों की तरह हिन्दुस्तान में भी बड़े-बड़े परिवर्तनों का युग आरम्भ हुआ। 1919-22 में बड़े-बड़े जन-आन्दोलनों से भारत हिल उठा और विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद, जिसका हिन्दुस्तान पर बहुत असर पड़ा, 1930-34 में और भी जोरों से जन-आन्दोलनों की लहर आई। ब्रिटिश

हुकूमत इस उठते हुए राष्ट्रीय आन्दोलनों का मुकाबला बारी-बारी से सुधार और अमन के जरिये करती थी। एक तरफ भविष्य में खुदमुख्तार सरकार देने के वादे किए जाते थे, दूसरी तरफ वैधानिक सुधार किये जाते थे कि जिन हाथों में ताकत पहले थी वह वहीं बनी रहती थी।”⁶ प्रेमचन्द ने अपनी आँखों से भारतीय चेतना के इस उभार को देखा ही नहीं था; वरन् वे उस चेतना के वाहक एवं प्रसारक भी थे। व्यक्तिवादी लेखक न हाने के कारण वे अपने को उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण घटना-चक्रों से अलग नहीं रख सकते थे।

लेकिन उनके उपन्यास भारत के राजनीतिक जीवन का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते, वरन् उसके आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी दृष्टिपात करते हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द के उपन्यास भारत की राष्ट्रीय भावनाओं और उसकी विविध ज्वलंत समस्याओं के प्रतीक हैं। वे मात्र ऐतिहासिक महत्त्व के उपन्यास नहीं हैं। वर्तमान जीवन अर्थनीति पर निर्भर है। आर्थिक संगठन का सामाजिक जीवन पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। प्रेमचन्द के समय देश की आर्थिक स्थिति बड़ी भयानक थी। स्वयं प्रेमचन्द का जीवन आर्थिक अभावों का जीवन था। उन्होंने गरीबी का कटु अनुभव किया था। ग्रामों और नगरों में समान रूप से उनका जीवन बीता था। हिन्दुस्तान की निर्धनता और उससे मुक्त होने का उसका संग्राम प्रेमचन्द के उपन्यासों में एक विशेष महत्त्व रखता है। भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द से पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था :

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ।।
ताहू पैं महँगी काल रोग विस्तारी ।
दिन दिन दूने दुःख ईस देत हा हा री ।।
सब के ऊपर टिक्स की आफत आई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।

अंग्रेजी राज्य में भारतीय जनता के शोषण का यह यथार्थ चित्र है। इस देश की सारी सम्पत्ति धीरे-धीरे ब्रिटेन पहुँच रही थी। भारतीय जनता आर्थिक अभावों में बड़ी कठिनाई से जीवन काट रही थी। इस अपार निर्धनता के बीच जनता पर विभिन्न करों का भारी बोझ लाद दिया गया था; और इस प्रकार भारतीय जनता के रक्त से ब्रिटिश साम्राज्य का भव्य भवन बन रहा था। हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्य की धुरी था। यहाँ के व्यापार का सबसे बड़ा भाग अंग्रेजों के हाथ में था।

हिन्दुस्तान के दारिद्र्य के संबंध में भारतके प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह और खंबाटा ने लिखा

“हिन्दुस्तानियों की औसत आमदनी इतनी होती है कि तीन आदमियों की आमदनी से दो का ही पेट भर सकता है। उनको तीन बार खाना खाने की ज़रूरत होती है। तीन बार न खाकर दो ही बार खाएँ तो इतना हो सकता है कि इन तीनों आदमियों का पेट भर जाय। लेकिन इसके लिए शर्त यह है कि वे कपड़े न पहनें न घर में रहें बल्कि साल-भर बाहर ही दिन काटें। तभी अपनी आमदनी से वे भरपेट खाना खा सकते हैं, लेकिन यह खाना भी ऐसा होना चाहिए जो सबसे मोटा-झोटा और शारीरिक शक्ति के लिए बिलकुल मामूली हो।”⁷

सरकारी रिपोर्टों से भी साधारण जनता की दयनीय दशा प्रकट होती है :

“कुशल मज़दूरों को छोड़कर हिन्दुस्तान के मज़दूरों को इतनी पगार मिलती है कि मुश्किल से ही उनका पेट भर सकता है और तन ढका रह सकता है। हर जगह इनकी बस्ती में ठूँसा-ठूँस मची हुई है। गन्दगी और तबाही की कोई हद नहीं।”⁸

“हिन्दुस्तान के लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा अब भी ऐसी गरीबी में दिन काट रहा है कि इस तरह की चीज़ पश्चिम के देशों में है ही नहीं। ज़िन्दगी और मौत के कगार पर इनके दिन कट रहे हैं।”⁹

“उद्योग-धंधों के अधिकांश केन्द्रों में मज़दूरों की कुल आबादी का दो-तिहाई भाग ऐसे लोगों का है जो कर्ज़ में डूबे हुए हैं।.... अधिकांश लोगों का खर्च उनकी तीन महीने की मज़दूरी से ज़्यादा और अक्सर इससे भी बहुत ज़्यादा पड़ता है।”¹⁰

“आजकल बंगाल के अधिकतर किसान ऐसा भोजन करते हैं जिसके सहारे चूहे भी पाँच हफ़्ते से ज़्यादा नहीं चल सकते। उचित खुराक न मिलने से उनकी शक्ति इतनी क्षीण हो गई है कि वे गन्दी बीमारियों की छूत का मुक़ाबला कर ही नहीं सकते।”¹¹

प्रेमचन्द के उपन्यासों में किसान-वर्ग का चित्रण बड़े विस्तार से किया गया है। भारतीय गाँवों और किसानों की दशा से वे अत्यधिक निकट से परिचित थे। ‘प्रेमाश्रम’ और ‘गोदान’ ग्रामीण जनता अथवा किसान-वर्ग के महाकाव्य माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त ‘वरदान’, ‘सेवासदन’ आदि उपन्यासों में भी प्रेमचन्द ने किसान और उसकी विभिन्न समस्याओं की ओर सशक्त संकेत किये हैं।

भारत की अधिकांश जनता का धंधा खेती रहा है। खेती पर निर्भर लोगों

का अनुपात सन् 1891 से 1931 तक की जनसंख्या-रिपोर्ट से देखा जा सकता है।¹² सन् 1933 के लगभग भारतीय किसान और खेती की दशा के सम्बन्ध में प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान में भूमि की समस्या' में लिखते हैं :

“धरती से जीविका चलानेवालों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि खेत बिल्कुल छोटे-छोटे हो गये हैं। इन छोटे खेतों में एक पूरे परिवार को भी पूरा काम नहीं मिलता।.....साथ ही ज़मींदार अपने पुराने और सम्मानपूर्ण चलन को नहीं निभाते। वे किसी तरह की दौलत पैदा नहीं करते, उनका काम सिर्फ़ लगान वसूल करना है। न वे खेती के लिए पूँजी देते हैं, न किसान के धंधों का संचालन करते हैं। इनके नीचे कारिन्दों की एक ऐसी जमात है, जो उलझी हुई भूमि-व्यवस्था से पूरा फ़ायदा उठाती है। इससे खेत जोतने वाले किसान की हालत बद से बदतर होती जाती है।”¹³

“युक्त-प्रान्त में खास तौर से मालगुज़ारी की दर बेतहाशा बढ़ाई गई है।”¹⁴

“युक्त-प्रान्त की विकट स्थिति’ शीर्षक से डा.पट्टाभि भारतीय किसान की दशा का विवरण इस प्रकार देते हैं: “युक्त-प्रान्त में विकट परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी।.....युक्त-प्रान्त में किसानों की, अधिकांशतः ताल्लुकेदारों व जमींदारों के अधीनस्थ किसानों की, आर्थिक दशा बहुत खराब हो रही थी। उनकी विपत्ति बढ़ रही थी। लगान-वसूली के तरीकों में नरमी का नाम-निशान न था।..... बेदखलियों तथा दबाव की ज़्यादाती से यह विपत्ति और भी अधिक गंभीर हो गई। अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में तो किसानों पर आतंक का राज्य छा गया और उनके साथ क्रूरता पर क्रूरता होने लगी।”¹⁵ यह विवरण लगभग सन् 1931 की स्थिति को दृष्टि में रखकर दिया गया है।

इसके अतिरिक्त भारतीय किसान कर्ज़ के बोझ से भी बुरी तरह लदा हुआ था। इस कर्ज़ का कारण आर्थिक है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक इस कर्ज़ का कारण किसानों की फ़िज़ूलखर्ची बताते हैं, जैसे-ब्याह-शादी, मुंडन-छेदन आदि-आदि अवसरों पर निरर्थक व्यय होनेवाला द्रव्य। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। बंगाल में दक्षिण-पश्चिमी वीरभूम के देहातों के कर्ज़ की जाँच (1933-34) के अनुसार¹⁶ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्ज़ का लगभग एक-चौथाई भाग लगान देने के लिए लिया गया है¹⁷। अतः कर्ज़ के कारण आर्थिक हैं, मात्र सामाजिक कुरीतियों व अंधविश्वासों तक ही सीमित नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के समय भारत राजनीतिक पराधीनता के पाश में ही बद्ध न था; वरन् भयंकर गरीबी का भी शिकार था। कर्ज के बोझ लदा हुआ अधिकांश भारतीय समाज असंतोष के धुँएँ में साँस ले रहा था। इसका प्रमुख कारण अंग्रेज़ी राज की लूट-नीति थी। अंग्रेज़ी शासकों ने भारतीय जनता की गरीबी दूर करने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया; वे शोषण-शस्त्र से अपना ही घर भरते रहे।

प्रेमचन्द ने भारत की इस लूट को अपनी आँखों देखा था। उन्होंने समाज के प्रत्येक अंग मज़दूर, किसान, मध्यमवर्गीय परिवार आदि की आर्थिक स्थिति अपने उपन्यासों में चित्रित की। तत्कालीन भारत की आर्थिक दशा का यथार्थ ज्ञान प्रेमचन्द-साहित्य से होता है। आर्थिक समस्या का सीधा सम्बन्ध राष्ट्रीय पराधीनता से था, अतः देश को स्वाधीन करने का प्रश्न प्रमुख था। प्रेमचंद ने पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन को इसीलिए प्राथमिकता दी। सामाजिक समस्याएँ आर्थिक कारणों पर ही अवलिम्बित रहती हैं। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन होने से सामाजिक ढाँचा अपने-आप बदलने लगता है। अनेक सामाजिक कुरीतियों को जन्म देने वाली दूषित अर्थव्यवस्था ही होती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जहाँ कहीं भी सामाजिक समस्याएँ आई हैं उनका आधार आर्थिक है। वेश्यावृत्ति, विधवा-विवाह, अनमेल-विवाह, छुआछूत, शिक्षा, ग्राम्य-जीवन आदि सभी के मूल में आर्थिक पहलू है। हमें यह देखना चाहिए कि प्रेमचन्द ने अपने समय के भारत का किस प्रकार प्रतिनिधित्व किया। वे कौन-कौन-सी तत्कालीन समस्याएँ थीं, जिनकी युग-धर्म को माननेवाला जागरूक साहित्यकार उपेक्षा नहीं कर सकता था।

संदर्भ-संकेत

- 1 कांग्रेस का इतिहास, पहला खंड डॉ. पट्टाभि सीतारमैया, पृ. 58
- 2 वही, पृ. 67
- 3 वही, पृ. 129
- 4 कांग्रेस का इतिहास, पहला खंड डॉ. पट्टाभि सीतारमैया, पृ. 113
- 5 “1926 के मध्य में हमें देश की राजनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन करने के लिए उत्तर जाना चाहिए। 6 अप्रैल 1926 को लार्ड इर्विन भारत में आये। लगभग उसी समय कलकत्ते में बड़ा ही भयानक साम्प्रदायिक दंगा हो गया।”
 कांग्रेस का इतिहास, पृ. 243
 “सन् 1927 की गर्मियों में अन्य सालों की भाँति कोई मार्क का क़ानून नहीं पास हुआ, लेकिन देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बाढ़-सी आ गयी। सबसे भीषण दंगा लाहौर में हुआ, जो 3 मई से 7 मई तक होता रहा और जिसमें व्यक्ति मारे गये और 272 घायल हुए। बिहार,

	मुल्तान (पंजाब), बरेली (युक्त-प्रांत) व नागपुर (मध्य-भारत) में भी इसी प्रकार के दंगे हुए।”			
	काँग्रेस का इतिहास, पृ. 252			
6	आज का भारत, पृ. 8			
7	भारत दुर्दशा			
8	भारत की सम्पत्ति और उसकी करोपयोगी क्षमता, 1924, पृ. 153			
9	1927-28 में हिन्दुस्तान			
10	1929-30 में हिन्दुस्तान			
11	व्हिटले कमीशन, 1929, पृ. 224			
12	‘बंगाल स्वास्थ्य रक्षा विभाग’ के डायरेक्टर की रिपोर्ट, 1927-28			
13	जनसंख्या रिपोर्ट के अनुसार खेती पर निर्भर लोगों का अनुपात			
	सन् 1891	61.1	फीसदी
	सन् 1901	66.5	”
	सन् 1911	72.2	”
	सन् 1921	73.0	”
	सन् 1931	66.6	”
14	पृ. 161-62			
15	पृ. 206			
16	काँग्रेस का इतिहास, पृ. 404			
17	लगान देने के लिए	रु. 13,000	24.2	फीसदी
	पक्के सुधार के लिए	12,736	23.7	”
	सामाजिक और धार्मिक कार्यों के लिए	12,021	22.3	”
	पुराना कर्ज अदा करने के लिए	4,503	8.4	”
	खेती के लिए	2,423	4.5	”
	मुकदमों के लिए	708	1.3	”
	फुटकर	8,471	15.6	”
	(एस. बोस आँकड़ों की हिन्दुस्तानी पत्रिका, सितम्बर, 1937)			

मध्य-वर्ग और प्रेमचन्द

भारत में मध्य-वर्ग का उदय अंग्रेजी साम्राज्य के फलस्वरूप हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय मध्यवर्गीय समाज का स्वरूप सामने आया। सुप्रसिद्ध कवि और विचारक श्री हुमायूँ कबिर अपनी पुस्तक 'दि इंडियन हेरिटेज' में तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं : “समस्त प्राचीन मूल्यों और विश्वासों को चुनौती दी जा रही थी। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ तीव्र गति से टूट रही थीं। भारत वास्तविक अर्थ में परिवर्तन की अनिश्चित दशा में था। प्राचीन सामाजिक संगठन अव्यवस्थित हो रहा था। नए तत्त्व उभर रहे थे, जिनकी किसी भी बीते युग में कोई मिसाल नहीं मिलती।”¹

“सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का परम्परागत ढंग अव्यवस्थित ही नहीं, कहीं-कहीं, नष्ट तक हो रहा था। यही नहीं, नए और सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण के निर्माण का भी कोई प्रयत्न नहीं था जो अतीत की विरासत को पश्चिम से आये नये तत्त्वों के साथ जोड़ता। पर, प्रकृति रिक्त स्थिति नहीं रहने देती। निदान असंगठित तथा खंडित विश्वास और स्वभाव जीवन के प्राचीन ढंग का स्थान लेने लगे। प्राचीन अप्रत्याशित रूप से नष्ट हो रहा था, लेकिन नए दृष्टिकोण का उत्पन्न होना अभी शेष था।”² भारतीय समाज पर पाश्चात्य प्रभाव बढ़ता गया जिसके फलस्वरूप मध्यवर्ग का जन्म हुआ।

यह वर्ग पढ़े-लिखे लोगों का बना। अंग्रेजी राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न कार्यालयों में पढ़े-लिखे व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। इस आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त अंग्रेजों ने देश-भर में विद्यालय और महाविद्यालयों की स्थापना की और अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया। इन विद्यालयों और

महाविद्यालयों से इस वर्ग के मस्तिष्क का उत्तरोत्तर विकास हुआ और मध्यवर्ग देश के प्रधान बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में सामने आया। ब्रिटिश शासकों की शैक्षणिक नीति का स्पष्टीकरण करते हुए हुमायूँ कबिर आगे लिखते हैं: “ काफी समय तक शासन व्यावसायिक लाभ को दृष्टि में रखकर किया जाता रहा। देश के साधनों का पूर्णरूपेण शोषण करने के हेतु ब्रिटेन को ऐसे मध्य श्रेणी के मनुष्य-समुदाय की आवश्यकता थी जो उसके और भारतीय लोगों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सके। शासन-प्रबन्ध की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी यही समस्या थी। उच्चस्तरीय नीति स्वयं अंग्रेज़ नियत करते थे, पर शासन-प्रबन्ध में उसके दैनिक प्रयोग के लिए भारतीय लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती थी। परिणाम यह हुआ कि प्रबंध के लिए एक व्यापक कर्मचारी वर्ग का निर्माण हुआ, जिसने अंग्रेज़ों को शासन-प्रबन्ध और व्यापार में सहायता दी। इन सेवकों की प्रमुख योग्यता अंग्रेज़ी भाषा में ‘प्रवीणता’ मानी जाती थी। शिक्षा का स्वरूप भी शासकों की आवश्यकतानुसार निर्मित हुआ। मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण के स्थान पर शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य अंग्रेज़ी की भाषागत प्रवीणता प्राप्त करना हो गया।”³

मध्यवर्ग पर एक ओर पाश्चात्य प्रभाव पड़ रहा था तो दूसरी ओर भारतीय सुधारवादी संस्थाओं का। वास्तव में मध्यवर्ग की स्थिति का कोई निश्चित रूप दिखाई नहीं देता। इस वर्ग में अनेकरूपता मिलती है। हुमायूँ कबिर के शब्दों में: “पढ़े-लिखे नए वर्गों ने अपने विचार अधिकतर पश्चिम से ग्रहण किये। उन्होंने किसी-न-किसी रूप में अंग्रेज़ों के सम्पर्क के कारण उनके रहन-सहन को भी अपनाया।.....अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान गत शताब्दी में लगातार बढ़ता गया। जिसके कारण मध्यवर्ग का अत्यधिक फैलाव हुआ”⁴ इसके अतिरिक्त इस नवोदित वर्ग पर कुछ सुधारवादी संस्थाओं का भी प्रभाव पड़ा। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी, कांग्रेस आदि संस्थाओं का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा। बुद्धिजीवी मध्यवर्ग अपने को इन सुधारवादी आन्दोलनों से मुक्त न रख सका और इस प्रकार उसके मानस पर सुधारवादी रंग भी चढ़ता गया। यह भारतीय मध्यवर्ग की मानसिक बनावट का विशिष्ट पहलू है जो उसे विश्व के अन्य मध्यवर्गीय जनों से पृथक करता है। मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक श्रेणियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं। हुमायूँ कबिर लिखते हैं: “मध्यवर्ग कभी एकरूप नहीं हो सकता। कोई भी सामाजिक वर्ग पूर्ण रूप से एकरूप नहीं होता; लेकिन मध्यवर्गीय लोगों में स्तरहीन विभाजन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। एक ओर तो वे बिल्कुल

निम्नवर्ग की सीमा पर होते हैं तो दूसरी ओर उनमें और पूँजीपतियों में अन्तर करना कठिन हो जाता है।”⁵

मध्यवर्ग के उदय और विकास में पूँजीवादी व्यवस्था का भी हाथ है। पूँजीवादी देशों में मध्यवर्ग की स्थिति काफी अच्छी है। भारत चूँकि पराधीन रहा इसलिए यहाँ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का स्वतंत्रतापूर्वक विकास न हो सका। भारतीय मध्यवर्ग की स्थिति अच्छी न होने के कारण मध्यवर्गीय जनता में सर्वाधिक असंतोष व्याप्त है। हुमायूँ कबिर जैसा लिखते हैं, “सभी जगह मध्यवर्ग यह अनुभव करने लगा है कि उसका कोई भविष्य नहीं है। भारत में उसकी दशा और भी दयनीय है। पूँजीवाद के विकास ने अन्य देशों में सामाजिक अर्थव्यवस्था में उनके लिए स्थान बना दिया है, पर भारत में पूँजीवाद को अंग्रेजों ने राजनीतिक और आर्थिक दबावों के कारण बढ़ने नहीं दिया। इस पर भी, समाज की अन्य श्रेणियों का झुकाव, मध्यवर्ग की अपेक्षा, अधिक अच्छी दशा देख कर उसकी ओर बराबर हो रहा है। मध्यवर्ग इतना बढ़ा कि मौजूदा आर्थिक स्थिति उस संख्या को संभाल न सकी। उसके सदस्य आर्थिक श्रेणी के निचले स्तर पर वापस जाने को उद्यत नहीं थे और पूँजीवाद के प्रति उनके बढ़ते हुए कदम हज़ारों तरीकों से रोक दिए गए। बेकारी बढ़ती गई और उसके साथ-साथ असंतोष भी।”⁶

भारत का सर्वाधिक चिंत्य वर्ग यही मध्यवर्ग है। इसकी अधिकांश समस्याएँ इसकी स्वयं की दुर्बलताओं के कारण हैं। मध्यवर्ग के व्यक्तियों के स्वभाव का विश्लेषण करने पर यह तथ्य समाने आता है कि उनके मन और मस्तिष्क का आधार अभिजातवर्गीय समाज की श्रेणी तक पहुँचने की भावना है; पर यह भावना आर्थिक अभावों के कारण कुठित हो जाती है। इस कारण मध्यवर्गीय परिवारों में ‘दिखावे का रूप’ प्रायः पाया जाता है। बाहर से वे अपने ऊपर एक अभिजात वर्गीय परदा डाले रहते हैं। यह परदा इस कारण प्रभावहीन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि मध्यवर्गीय व्यक्ति मानसिक विकास में किसी से पीछे नहीं होते विकसित मानसिक धरातल के साथ अभिजातवर्गीय ढोंग निभ जाता है। पर, जीवन-संवर्ष के बीच मध्यवर्ग का यथार्थ रूप सहज ही प्रकट हो जाता है। घर में धन के नाम पर कुछ नहीं निकलता। पर, सम्मान-भावना के पीछे मध्यवर्गीय परिवार कर्ज लेते हैं और अपने जीवन को धीरे-धीरे उलझाते हैं। यदि अभिजात-वर्ग की प्रतिस्पर्धा की भावना का लोप इस वर्ग में हो जाए तो इस वर्ग की अधिकांश समस्याएँ दूर हो सकती हैं अथवा उनको सुलझाने में सुगमता उत्पन्न हो सकती है।

निःसंदेह दिखावे की भावना के कारण ही आर्थिक तंगी का विशेष शिकार इस वर्ग को रहना पड़ता है।

मध्यवर्गीय समाज के मनोवैज्ञानिक पहलू और उसकी अन्य श्रेणियों से तुलना करते हुए श्री हुमायूँ कबिर लिखते हैं: “आधुनिक भारत का संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य मध्यवर्ग का असंतुलित फैलाव है। सम्पूर्ण विश्व में मध्यवर्ग के लोग अशांत? आलोचनात्मक और व्यक्तिवादी हैं। ऐसी स्थिति के कारण उनकी आर्थिक स्थिति डावाँडोल है। पूँजीवादी श्रेणी में ऊपर उठाने की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप उनमें बहुत से निम्न श्रेणी की स्थिति में पहुँच जाते हैं। वे अनुभव करते हैं कि उन्हें सम्मानपूर्ण स्तर बनाए रखना आवश्यक है; जो प्रायः उनके साधनों की पहुँच के बाहर होता है। लगातार आर्थिक संघर्ष उनके जीवन के समस्त दृष्टिकोण पर प्रभाव डालता रहता है। अपनी स्थिति के सम्बन्ध में निश्चिन्त होने के कारण अभिजातवर्गीय कभी अपने महत्त्व को जताने की आवश्यकता नहीं समझता। निम्नवर्गीय भी अपने भाग्य से संतुष्ट रहता है। मध्यवर्ग संतुष्ट नहीं रहता और वह प्रायः उद्वेग, आत्मप्रदर्शनकारी और मुँहफट होता है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए वह दूसरों की आलोचना करता है।”

कुल की तथाकथित मर्यादा मध्यवर्ग के विकास में सबसे बड़ी रुकावट है। यह समस्या उच्च और निम्नवर्ग में नहीं है। निम्नवर्ग में प्रायः सभी सदस्य काम करते हैं और इस प्रकार अपना-अपना जीविकोपार्जन करते हैं। उनको एक-दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। परिवार के सभी सदस्य युवक, बालक, स्त्रियाँ आदि कुछ भी काम करके थोड़ा-बहुत धन कमा ही लेते हैं। दूसरे, उनकी आवश्यकताएँ भी अधिक नहीं होती। वह बहुत कुछ संतुष्ट रहता है, पर निम्नवर्ग क तुलना में मध्यवर्ग की स्थिति बड़ी भयावह होती है। मध्यवर्गीय परिवार में कमानेवाला केवल एक सदस्य होता है। कुल की मर्यादा के कारण स्त्रियाँ नौकरी नहीं करती। इस प्रकार परिवार का सारा आर्थिक बोझ केवल एक व्यक्ति के कंधे पर पड़ता है, और फिर मध्यवर्ग को अपनी थोथी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए भी अनावश्यक बातों में अनिवार्य रूप से खर्च करना पड़ता है। इस प्रकार मध्यवर्ग आर्थिक अभावों में बुरी तरह ग्रस्त मिलेगा। उच्चवर्ग के पास पैसा है। वह अपने धन के बल पर हर वस्तु खरीद सकता है। अतः मध्यवर्ग का जीवन ही सर्वाधिक जटिल और अभावग्रस्त जीवन है।

पर मध्यवर्गीय अपने वर्ग को, अपने स्वतंत्र अस्तित्व को छोड़ना नहीं

चाहता। “.....इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मध्यवर्गीय भावनाओं से युक्त जनसमूह प्रतिस्पर्द्धा के दृष्टिकोण के होते हुए भी न तो ‘शासक-वर्ग’ में विलीन हुआ है; और न शोषित औद्योगिक कामगारों के समान बना है। प्रत्युत पूँजीवाद के विस्तार-युग में उसकी संख्या बढ़ी है और उसने उस युग के महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों में प्रायः निर्णयात्मक भाग लिया है।”⁸

मध्यवर्ग की नारी की समस्या भी जटिल समस्या है। आर्थिक पराधीनता तो उसके साथ है ही सामाजिक और नैतिक नियमों से भी वह बुरी तरह बँधी हुई है। निम्नवर्ग की नारी एक पति को छोड़कर दूसरा पति कर सकती है। इसी प्रकार उच्चवर्ग की नारी में भी यौन-पवित्रता को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता, पर मध्यवर्ग में नारी घर की लक्ष्मी समझी जाती है। उस पर उस घर की प्रतिष्ठा आधारित रहती है। मध्यवर्गीय नारी को अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है। प्रेमचन्द ने ‘गुबन’ की ‘रतन’ में और ‘निर्मला’ में यही तथ्य प्रस्तुत किया है।

मध्यवर्ग प्राचीन संस्कारों से बुरी तरह ग्रस्त है। उसमें अभी भी प्राचीन संस्कारों को नष्ट करने की शक्ति नहीं आई है, भले ही प्राचीन संस्कारों के प्रति मोह न रहा हो। परम्परागत रूढ़ियों को मध्यवर्ग आज भी इच्छा-अनिच्छा से ढोये जा रहा है। इन्हीं संस्कारों के फलस्वरूप मध्यवर्गीय नारी-समाज की दशा सर्वाधिक शोचनीय है। सामाजिक क्षेत्र में एक प्रकार का पिछड़ापन मध्यवर्ग के नारी-समाज में प्रायः मिलता है।

मध्यवर्ग में दुलमुल नीति का अवगुण भी मिलता है। उसके निश्चय बहुत कम पूरे हो पाते हैं। इसका कारण मध्यवर्ग का आत्मनिर्भर न होना है। उसे श्रम-क्षेत्र में निम्नवर्ग के और अधिकार-क्षेत्र में उच्चवर्ग के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण उसे समय-समय पर अनेक विरोधी तत्त्वों से समझौता करना पड़ता है। समझौते की भावना इसलिए और भी उससे मिलती है, क्योंकि वह संघर्ष से यथासंभव बचना चाहता है। मध्यवर्ग के अधिकांश लोग नौकरी-पेशा पाये जाते हैं। सरकारी या गैर-सरकारी नौकरी करने वाले व्यक्तियों की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वे सरकार अथवा अपने मालिकों के विरुद्ध कोई कदम उठा सकें। निदान उन्हें समझौते का मार्ग अपनाना पड़ता है। इससे उनके दैनिक जीवन में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। मध्यवर्गीय व्यक्ति यदि कुछ आगे बढ़ेगा भी तो मात्र सुधार-भावना तक ही। वह कोई ठोस क्रांतिकारी कार्य करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। बौद्धिक दृष्टि से यद्यपि उसमें कोई कमी नहीं होती फिर भी

सक्रिय रूप में वह कोई आन्दोलन सफलतापूर्वक नहीं चला पाता।

प्रेमचन्द मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लेखक थे। वे जितनी सफलता से साथ मध्य और निम्नवर्गों का चित्रण कर सके उतनी सफलता के साथ उच्च वर्ग का नहीं ; यद्यपि इस क्षेत्र में भी उनका व्यक्तित्व अप्रतिम है। पर, जब हम उनके समस्त व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मन जितना मध्य और निम्नवर्गों का समस्याओं में रमा है उतना उच्चवर्ग की समस्याओं एवं प्रश्नों में नहीं। स्वयं प्रेमचन्द और उनका घराना मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखता है। मध्यवर्गीय होने के कारण मध्यवर्ग से उनकी निकटता स्वाभाविक थी। वास्तव में मध्यवर्ग से वे सर्वाधिक परिचित थे। यदि निम्नवर्ग का अधिकांश चित्रण उन्होंने तत्कालीन वातावरण को देखकर किया तो मध्यवर्ग का चित्रण व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर।

प्रेमचन्द के समय भारतीय मध्यवर्ग की स्थिति का यथार्थ वर्णन और वैज्ञानिक विश्लेषण डा. इन्द्रनाथ मदान ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' में काफ़ी विस्तार से किया है। वे लिखते हैं : “मध्यम वर्ग जीवन के प्रधान और नवीन आदर्शों के संघर्ष के बीच से गुज़र रहा था। पूँजीवाद या पाश्चात्य सभ्यता का आघात ने जीवन के मध्यकालीन और आधुनिक दृष्टिकोण के बीच एक गहरी खाई खोद दी थी। प्रेमचन्द की प्रारंभिक कृतियों का सम्बन्ध विशेष रूप से मध्यवर्गीय समाज के इसी संघर्ष से है। वह सुधार करने के लिए कटिबद्ध था।.... सामाजिक मामलों में मध्यवर्ग ने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का अधिक उपयोग आरम्भ किया।.....यह मध्यवर्ग उन जायदाद रखने वाले सज्जनों से मतभेद रखता था, जो अपने किराये की आमदनी के बल पर भविष्य की सभी चिंताओं से मुक्त थे। इसलिए मध्यवर्ग और उत्साह के साथ नैतिकता को अपना रहा था।”⁹

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग के इसी दल का चित्रण किया है। उनकी सहानुभूति इसी सामाजिक दल के साथ रही। उनके प्रमुख मध्यवर्गीय औपन्यासिक पात्र नैतिकता को अपनाकर चले हैं। चूँकि प्रेमचन्द की नैतिक मूल्यों पर गहन आस्था थी इसलिए उन्होंने अनीति की कहीं विजय नहीं बताई। सत्य की सदैव असत्य पर विजय बताना ही उनका जीवन-दर्शन था। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज में उभरने वाले इस प्रगतिशील मध्यवर्ग के नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं

वे स्वयं के मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण समझौते का मार्ग अपना लेते हैं। समझौते की भावना मध्यवर्गीय समाज के मानस में विशेष रूप से दिखाई देती है और इससे प्रेमचन्द भी नहीं बच सके हैं।

प्रेमचन्द के प्रथम उपन्यास 'वरदान' का सम्बन्ध मध्यवर्ग के जीवन से ही है। ब्रजरानी, प्रताप, कमलाचरण जैसे प्रमुख पात्र मध्यवर्ग के ही हैं और उनकी समस्याएँ भी मध्यवर्गीय परिवारों की समस्याओं से सम्बन्ध रखती हैं। मध्यवर्गीय समाज में विवाह और प्रेम का जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है उसका बड़ा ही सफल कथात्मक चित्रण 'वरदान' में हुआ है। प्रारम्भिक और साधारण उपन्यास होते हुए भी 'वरदान' से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेमचन्द का मन किस प्रकार मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं की ओर आकर्षित हो रहा था।

'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ने विधवाओं के पुनर्विवाह की समस्या का उद्घाटन मध्यवर्गीय समाज की पृष्ठभूमि पर ही किया है। मध्यवर्ग में पाई जाने वाली इस सामाजिक कुरीति का यथार्थ चित्रण 'प्रतिज्ञा' की प्रमुख विशेषता है। वे विधवाओं के जीवन की दयनीय स्थिति बताकर विधवा-विवाह के प्रचलन पर जोर देते हैं। चूंकि 'प्रतिज्ञा' का युग मध्यवर्ग के जागरण और संघर्ष का उषाकाल था अतः प्रेमचन्द का दृष्टिकोण भी इस उपन्यास में सुधारवादी रहा है। वे सुधार के द्वारा इस सामाजिक कुरीति को मिटाना चाहते हैं। 'प्रतिज्ञा' का प्रमुख मध्यवर्गीय पात्र अमृतराय है जो विधवाओं की दशा सुधारने में ही अपने जीवन का होम कर देता है। प्रेमचन्द ने मध्यवर्गीय विशिष्ट नैतिक मूल्यों का अमृतराय के चरित्र में भली-भाँति बताया है।

'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' के पश्चात् 'सेवासदन' में प्रेमचन्द मध्यवर्ग के जीवन का बड़े विस्तार से चित्रण करते हैं। वास्तव में 'सेवासदन' मध्यवर्ग के जीवन का ही उपन्यास है। उसमें मध्यवर्गीय परिवारों की एक ज्वलंत समस्या पर प्रकाश डाला गया है यह समस्या नारी-जीवन की समस्या है जो वैवाहिक, वैधव्य और वेश्यावृत्ति के पहलू विशेष रूप से रखती है। डा. इन्द्रनाथ मदान 'सेवासदन' की समीक्षा करते हुए एक स्थल पर लिखते हैं, " उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र मध्यवर्ग के हैं और उनका चरित्र-चित्रण जीवन के सुधारवादी दृष्टिकोण से ही किया गया है। लड़की के पिता कृष्णचन्द्र में इस वर्ग के सब गुण और अवगुण विद्यमान हैं।"¹⁰पद्मसिंह मध्यवर्ग का एक विशेष प्रकार का प्रतिनिधि है। वह पुराने विचारों का है और अपने व्यवहार में नैतिकता का आग्रह रखता

है।¹¹ इस प्रकार 'सेवासदन' की कहानी भी मध्यवर्गीय परिवारों की कहानी है। उसमें प्रायः सभी पात्र मध्यवर्गीय संस्कारों को अपनाए हुए चलते हैं।

'वरदान', 'प्रतिज्ञा' और 'सेवासदन' के पश्चात् मध्यवर्गीय समाज का उपन्यास 'निर्मला' हमारे सामने आता है। इसके पूर्व 'प्रेमाश्रम' लिखा जा चुका था, पर 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द किसानों और जमींदारों के संघर्ष में ही उलझ जाते हैं। मध्यवर्गीय समाज का चित्रण उसमें प्रधान नहीं है। 'निर्मला' में दो समस्याएँ हैं (1) दहेज-प्रथा और (2) एक ऐसे वृद्ध से, जिसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी हो, एक युवा लड़की का विवाह। उपन्यास की कथा तीन मध्यवर्गीय परिवारों के जीवन से गुँथी हुई है एक परिवार बाबू उदयभानु का है, दूसरा बाबू तोताराम का और तीसरा सिन्हा साहब का। इन तीनों परिवारों के पारिवारिक जीवन के चित्रण में मध्यवर्ग के संस्कारों और धारणाओं का बड़ा ही सफल अंकन हुआ है।

'निर्मला' के उपरान्त 'रंगभूमि' आता है। 'रंगभूमि' में औद्योगिक समस्या प्रमुख है; अतः इस उपन्यास में थैलीशाहों अथवा पूँजीपतियों का उल्लेख ही अधिक है। किसानों और ग्रामीण जनता का भी चित्रण समानांतर हुआ है। अतः 'रंगभूमि' निम्न और उच्च वर्गों के जीवन से सम्बन्ध रखता है।

'कायाकल्प' में अवश्य उच्च, मध्य और निम्न वर्गों का सम्मिलित चित्रण द्रष्टव्य है। औपन्यासिक कथा के दो भाग इस उपन्यास में देखे जा सकते हैं। एक भाग का सम्बन्ध सामाजिक समस्या से है और दूसरे का सम्बन्ध आध्यात्मिक और रहस्यमय लोक के चित्रण से। प्रस्तुत उपन्यास में छह प्रसंग हैं : (1) चक्रधर-मनोरमा का प्रसंग, (2) अहल्या-चक्रधर की कथा, (3) मनोरमा-विशालसिंह की कहानी, (4) रोहिणी-विशालसिंह की कथा, (5) महेन्द्रसिंह-देवप्रिय की कहानी, और (6) हरिसेवक-लौंगी की कथा। उपर्युक्त प्रसंगों में केवल चक्रधर का प्रारम्भिक जीवन, उसके विचार और आचरण प्रगतिशील मध्यवर्गीय समाज के प्रतीक हैं, जबकि उसका पिता ब्रजधर पुरानी पीढ़ी के मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधि है।

'कायाकल्प' के पश्चात् मध्य-वर्ग का सबसे प्रसिद्ध और विशिष्ट उपन्यास 'ग़बन' लिखा गया है। वास्तव में देखा जाए तो 'ग़बन' प्रेमचंद का मध्य-वर्ग की समस्याओं का उद्घाटन करने वाला सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। 'ग़बन' का प्रमुख पात्र रमरकान्त है। रमाकांत के एवं अन्य प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन में लेखक विशेष सजग दिखायी देता है। पर, इसमें भी मध्यवर्गीय समाज की समस्याएँ प्रमुख हैं;

जिनके कारण 'ग़बन' भी समस्यामूलक उपन्यास ठहरता है। रमरकान्त स्वयं मध्यवर्गीय समाज का व्यक्ति है एवं मध्यवर्ग की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं। मध्यवर्गीय सम्मान-भावना के कारण ही रमाकान्त ग़बन करता है और अपने जीवन को संकट में डालता है।

'ग़बन' के बाद 'कर्मभूमि', 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' लिखे गए। 'मंगलसूत्र' प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास है। इसमें अभिजातवर्ग की झाँकियों के साथ-साथ संघर्ष-शील मध्यवर्ग का चित्रण मिलता है। सम्भवतः यह उपन्यास भी मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखने वाला बनता।

'कर्मभूमि' अछूतों की समस्या के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या से सम्बन्धित है। इसमें मध्यवर्ग वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं कर पाता। अमरकान्त की पत्नी और विधवा सास आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं कर पाता। अमरकान्त की पत्नी और विधवा सास आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग की सीमा में नहीं आते अतः उनकी समस्या मध्यवर्गीय न होकर सामान्य हो गई है।

'गोदान' किसान-वर्ग का उपन्यास है ग्रामीण जनता का महाकाव्य है। पूँजीपतियों और मिल-मालिकों का समावेश अभिजात-वर्ग के क्षयी स्वरूप को व्यक्त करने के निमित्त है। यह बात दूसरी है कि उसमें एक-दो पात्र मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्ग का विशेष महत्त्व है।

संदर्भ-संकेत

1 "All old values and beliefs were being challenged. Social economic and political institutions were breaking up at a terrifying pace. India was literally in the melting pot. The old social stratification was disturbed. New types emerged which have no parallel in any previous period." — Chap. Modern Ferment, p. 116-117.

2 "The old traditional pattern of social, economic and political life was disturbed and at times destroyed. Nor was there any attempt to build up a new and integrated outlook which could combine the heritage of the past with new ingredients brought from the west. Nature cannot, permit a vacuum. Haphazard and fragmentary belief and habits took the place of the old way of life. The old was destroyed beyond recall but the new remains still unborn." — The same, p. 119.

3 "Administration was long conducted with a view to commercial

advantage. For full exploitation of the country's resources, Britain needed a group of middle men who could act as interpreters between her and the Indian people. The needs of administration also posed the same problem. Higher policy could be determined by the British themselves, but its application to the daily routine of administration required the services of indigenous men. The result was the creation of a large ministerial class who helped the British in administration and commerce. The primary qualification for such subordinates was proficiency in the English language. Education was therefore remodelled to suit the needs of the rulers. Instead of development of human personality, the chief aim of education became the attainment of linguistic proficiency in English." — The Indian Heritage, p. 123-124.

4 "The new literate classes largely derive their ideas from the West. They also have in one way or another derived their living from the British connection Literacy in English has continually expanded in the course of the last century and led to an inordinate expansion of the middle classes." — The Indian Heritage, p. 125-126.

5 "For one thing, the middle classes can never be a homogeneous group. No social class is fully homogeneous. But stratification is even more marked in the case of the middle classes. At one extreme are those who just escape being proletariats. At the other are those who are hardly distinguishable from capitalists." — The same. p. 141.

6 "The middle classes have everywhere started to realise that they have no future. In India their plight is still more pitiable. The growth of capitalism has in other countries secured them a place in the social economy. In India, the expansion of indigenous capitalism was resisted by the British through political and economic pressure. And yet, the relative comforts enjoyed by the middle classes continually attract recruits from other strata of society. A middle class has developed which is too numerous for support by the existing economy. Its members refuse to go back to a lower level of economic competence. And yet their march forward to capitalism is hampered in a thousand ways. Un-employment has increased and so has discontent." — The Indian Heritage, p. 137-138.

7 "The unbalanced growth of the middle classes is perhaps the most significant fact of modern India. Middle classes all over the world are restless, critical and individualistic. From the nature of the case, they are economically unstable. Impelled by the urge to move upward into the ranks of the capitalist, many of them are yet fated to relapse into the ranks of the proletariat. They feel they have to maintain a standard

of respectability which is often beyond their means. The constant economic struggle colours their whole outlook of life. The aristocrat is so sure of his own standing that he feels no need to assert it. The proletariat also is apt to accept his lot. The middle class refuse to be content and often aggressive, self-assertive and loud. They seek to justify themselves by criticising others.' — The Indian Heritage, p. 141.

8 ''....there is considerable evidence that group marked by middle class sentiment, with their competitive attitudes and their refusal to become indentified with either the 'ruling class' or the exploited industrial workers, have grown in size during the period of expanding capitalism and have often played a crucial role in the important social changes of that era.'' — 'Society' by R. M. Maciver and C.H. Page, Chap. — 'Social Class and Caste', p. 364.

9 प्रेमचंद : एक विवेचना, पृ. 41-42

10 वही, पृ. 47

11 वही, पृ. 49

साहित्य-अवधारणाएँ और प्रेमचन्द

प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताओं के सम्बन्ध में काफी लिखा गया है। आलोचकों ने अपनी विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए या तो उनकी इन मान्यताओं को अपने अनुकूल प्रदर्शित किया है अथवा उनका खण्डन किया है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताओं की वास्तविकता छिपी रह गई है।

मनुष्य में वैचारिक परिवर्तन होते हैं। जीवन-अनुभवों से वह अनेक नयी-नयी बातें सीखता है। यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता। पहले, मनुष्य में अपनी पूर्व-धारणाओं के प्रति किंचित् अविश्वास-भाव जाग्रत् होता है। इस स्थिति में, वह नयी धारणाओं को अपने हृदय में एकदम स्थान नहीं दे पाता; क्योंकि उसे अपनी पूर्व-धारणाओं से, अविश्वास-अनुभूत होते हुए भी, मोह बना रहता है। क्रमशः उसके अविश्वास-भाव की पुष्टि होती है और वह नये विचारों की ओर आकर्षित होता है। एक समय आता है जब कि वह पूरी तरह से बदल चुका होता है। अतः यह वैचारिक परिवर्तन कुछ समय लेता है कम या अधिक। जिस साहित्यकार में वैचारिक परिवर्तन होता है; उसके साहित्य में उपर्युक्त स्थितियाँ कम या अधिक रूप में विद्यमान रहती हैं। कहीं-कहीं असंगतियाँ भी पाई जाती हैं। अतः उसके साहित्य में हमें उपर्युक्त मनः स्थितियों की वैज्ञानिक खोज करनी चाहिए तभी हम उसकी वास्तविक मान्यताओं को क्रमबद्ध रूप में समझ सकेंगे। प्रेमचन्द के साथ यही बात है।

उनमें एक विशेष बात और देखने में आती है। वह यह कि पारिभाषिक (टेकनिकल) शब्दों का जो अर्थ वे लेते हैं, वह कोई सर्वमान्य नहीं है। ऐसे पारिभाषिक शब्दों के अन्तर्गत अनेक शब्द हैं, यथा शृंगार, आनन्द, आदर्श, यथार्थ, कला कला के लिए, सौन्दर्यवृत्ति आदि। प्रेमचन्द ने इन पारिभाषिक शब्दों

का क्या अर्थ लिया है, हमें सर्वप्रथम उसके मूल में जाना चाहिए तभी हमारी व्याख्या उनके प्रति उचित न्याय कर सकेगी।

प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं अथवा यथार्थवादी अथवा उनके दृष्टिकोण में दोनों का सम्मिश्रण था, इसका निर्णय करने के पूर्व, प्रेमचन्द ने साहित्य और कला को किस अर्थ में अथवा किस रूप में ग्रहण किया है, उसकी व्याख्या करना आवश्यक है।

साहित्य

प्रेमचन्द साहित्य की परिभाषा अपने ढंग से करते हैं। वास्तव में, किसी एक सत्य को लेकर साहित्य की परिभाषा सीमित भी नहीं की जा सकती। विरोधी तत्त्वों को हम अलग-अलग कर सकते हैं, पर पूरक तत्त्वों को प्रधान या अप्रधान की श्रेणी में ही विभाजित किया जा सकता है। प्रेमचन्द प्रगतिशील साहित्यकार थे। वे प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी व अप्रगतिशील तत्त्वों के विरोधी थे। 'कलावाद' से उनका साहित्य कोसों दूर है। कलावाद काल्पनिक अधिक तथा श्लील-अश्लील की सीमाओं से मुक्त, नितान्त वैयक्तिक भावनाओं का प्रतीक है। प्रेमचन्द ऐसे साहित्य के समर्थक नहीं थे। वे साहित्य का वास्तविक जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध मानते हैं। जीवन साहित्य का आधार है, उससे कटकर साहित्य अपना महत्त्व खो देता है। वे लिखते हैं

“साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है।”¹

अब सहज ही प्रश्न उठता है कि जीवन क्या है और उसका क्या उद्देश्य है? प्रेमचन्द जीवन को सामाजिक सापेक्षता में ही देखते हैं। वे उसमें गति और संघर्ष ही नहीं चाहते प्रत्युत सद्भावों की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य मानते हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण महान है। ऐसे जीवन का उद्देश्य क्या आनन्द हो सकता है ? प्रेमचन्द कहते हैं

“जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द की खोज में पड़ा रहता है।”²

यहाँ आनन्द से अभिप्राय मात्र मनोरंजन अथवा भौतिक सुख-सुविधा की प्राप्ति से नहीं है। प्रेमचन्द आनन्द को मानसिक तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं और इसी से आनन्द का आधार सुन्दर और सत्य बताते हैं। जैसा कि वे आगे लिखते हैं

“किसी को वह (आनन्द) रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में, लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है।”³

इसीलिए साहित्य की परिभाषा जीवन, आनन्द, सत्य और सुन्दर के मेल से बनती है। जो कुछ सत्य और सुन्दर है, वही साहित्य है। आनन्द के साथ सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है

“जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों दूर भागता है।”⁴

प्रेमचन्द साहित्य को सत्य और सुन्दर का आराधक मानते हैं और उसी की अभिव्यक्ति को साहित्य की संज्ञा देते हैं

“मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं।”⁵

लेकिन सत्य की खोज केवल साहित्यकार ही नहीं करता, दार्शनिक और वैज्ञानिक भी करते हैं। प्रेमचन्द सत्य से आत्मा का तीन प्रकार का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं कि जहाँ सत्य आनन्द का स्रोत बन जाए वही वह साहित्य की सीमा में आ जाता है, यथा

“सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है। प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है।”⁶

अतः साहित्य जीवन-आनन्द के लिए सत्य की खोज और सुन्दर की प्रतिष्ठा करता है। साहित्यकार जीवन की अवहेलना नहीं कर सकता। जब समाज में जीवन का स्तर गिरने लगता है तब साहित्यकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसकी आलोचना करे। साहित्य जीवन की व्याख्या है, आलोचना है। वह हमें जीवन की महत्ता से परिचित कराता है। प्रेमचन्द कहते हैं

“साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा, ‘जीवन की आलोचना’ है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे

कहानियों के, काव्य के उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।”⁷

इतना ही नहीं, वह मानव-जीवन से सम्बन्धित समस्त समस्याओं पर भी विचार करता है, उनको हल करने का प्रयत्न करता है। मात्र आलोचना जीवन के लिए पर्याप्त नहीं है। इसीलिए प्रेमचंद कहते हैं कि साहित्य का लक्ष्य जीवन का सही रास्ता बताना है, जिससे उसकी पवित्रता एवं महानता बनी रहे

“साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या ? जीवन की आलोचना कीजिए, चाहे चित्र खींचिये आर्ट के लिए लिखिए, चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए, चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए, अगर उससे हमें जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, न अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।”⁸

साहित्य की उपर्युक्त परिभाषा से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह ‘नीतिशास्त्र’ का पर्यायवाची है। प्रेमचन्द साहित्य और नीतिशास्त्र का लक्ष्य एक मानते हैं। अन्तर केवल उपदेश की विधि में है। ‘नीतिशास्त्र’ का सम्बन्ध मस्तिष्क की तर्कशक्ति से है, जब कि साहित्य का हृदयगत भावों से

“नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का एक लक्ष्य है; केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है। साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।”⁹

इस प्रकार साहित्य भावों के द्वारा मनुष्य को उसके मौलिक अकृत्रिम यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

“मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। ज़माने के छल-प्रपंच या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है, उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं ; भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके।”¹⁰

साहित्य जाति के चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हिस्सा बँटाता है। साहित्यिक आदर्शों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं

“किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई।”¹¹

अतः प्रेमचन्द साहित्य को मानवीय उत्थान का साधन मानते हैं और अपने पूर्व की महान सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करते हैं।

कला, सामयिकता और साहित्यकार

कला के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचारों में कुछ असंगतियाँ भी दिखाई देती हैं; कहीं वे ‘कला के लिए कला’ का स्पष्ट समर्थन करते हैं, तो कहीं सैद्धान्तिक रूप से उसका महत्त्व प्रतिपादित कर मात्र वर्तमान में उसकी उपादेयता स्वीकार करते हैं तो कहीं उसका स्पष्ट खंडन करते हैं।

प्रेमचन्द ‘कलावादी’ नहीं थे, यह उनके समस्त साहित्य से स्पष्ट है। प्रेमचन्द के विरोधियों ने या प्रेमचन्दयुगीन कुछ आलोचकों ने उनके साहित्य पर कलाहीनता का आरोप भी लगाया था। किसी साहित्यकार की कृति को ‘कलावादी’ ठहराना एक अलग बात है तथा उसमें कलाहीनता बताना सर्वथा उससे भिन्न। प्रेमचन्द साहित्य और कला के सम्बन्धों को स्पष्ट करते समय ‘कलावाद’ और ‘कला’ में अन्तर नहीं कर पाए हैं। इसी कारण उनके वक्तव्यों में असंगतियाँ मिलती हैं। वास्तव में वे ‘कलावादी’ नहीं थे; यद्यपि साहित्य में कला का समावेश आवश्यक समझते थे। उस समय के ‘कलावादी’ आलोचकों को इससे संतोष न था। वे प्रेमचन्द के साहित्य में ‘कला के लिए कला’ की अभिव्यक्ति चाहते थे और जब उन्हें यह अभिव्यक्ति नहीं मिली तो उन्होंने निराश होकर प्रेमचन्द के साहित्य पर प्रचारवादी तथा कलाहीन होने के आरोप लगाये।

यदि तनिक गहराई से देखा जाय तो प्रेमचन्द के कला-सम्बन्धी विचारों में असंगतियाँ नहीं हैं, यह समझ में आ सकता है। इस दृष्टि से हमें उन अर्थों पर तटस्थ दृष्टि डालनी होगी जिनको प्रेमचन्द विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के लिए ग्रहण करते हैं।

एक स्थान पर ‘कला के लिए कला’ सिद्धान्त को साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श घोषित करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं

“साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाए। ‘कला के लिए कला’ के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।”¹²

इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में ‘कला के लिए कला’ का समर्थन और क्या हो सकता है ? पर यह भी देखना आवश्यक है कि प्रेमचन्द ‘कला के लिए कला’ का मतलब क्या समझते हैं। आगे चलकर वे ‘कला के लिए कला’ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं

“वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।”¹³

अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के लिए ‘कला के लिए कला’ का अर्थ कलावादियों का अर्थ नहीं है। वे उसे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति समझते हैं और इसी कारण सामयिक तथा शाश्वत साहित्य का प्रश्न समाने आता है। वे लिखते हैं

“.....‘कला के लिए कला’ का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। हम जब देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।”¹⁴

यहाँ सिद्धान्त रूप में ‘कला के लिए कला’ का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी वे वर्तमान सामयिक समस्याओं के सम्मुख, उसके ग्रहण की उपादेयता अस्वीकार करते हैं। सामयिक समस्याओं को मौलिक प्रवृत्तियों के सम्मुख प्राथमिकता देनी चाहिए। उन्होंने कलावादियों की समसामयिक की उपेक्षा का समर्थन नहीं किया। वे ‘कला के लिए कला’ की झोंक में आकर लोक-हित की चिन्ता करने की बात नहीं कहते। कलावादियों के ‘सौन्दर्य’ में श्लील-अश्लील में कोई अन्तर नहीं किया जाता। प्रेमचन्द ने इस सौन्दर्य-भावना को कहीं भी अच्छा नहीं बताया। अतः बिना ‘कला के लिए कला’ के प्रति प्रेमचन्द का निजी दृष्टिकोण समझे एवं बिना उनके भावों की गहराई में उतरे उनके विचारों में असंगतियाँ बताना अनुचित है।

समसामयिक साहित्य और शाश्वत साहित्य के बारे में लिखते हुए प्रेमचन्द कहते हैं कि सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियाँ सामयिक साहित्य में कभी भी लुप्त नहीं होतीं। और जब-तक वे मौलिक प्रवृत्तियाँ उसमें विद्यमान हैं वह मिट नहीं सकता। चाहे उसका विषय कोई सामयिक समस्या हो और चाहे कोई शाश्वत सत्य। प्रेमचन्द एक उदाहरण देते हुए कहते हैं

“.....टाम काका की कुटिया’ गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं। पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं।”¹⁵

अतः वे कलावादियों की तरह लेखक को देश-काल के बन्धन से मुक्त नहीं करते ; जब तक वह देश-काल का नहीं बनता, तब-तक सर्वदेशीय और सर्वकालिक भी नहीं बन सकता। प्रेमचंद लिखते हैं

“साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।”¹⁶

साहित्य मानवीय इतिहास का सच्चा लेखा-जोखा है। युग का प्रतिबिम्ब है

“जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।”¹⁷

लेकिन प्रेमचन्द ने सामयिकता का मात्र ऊपरी स्पर्श नहीं किया था। जैसा डा. रामविलास शर्मा लिखते हैं

“उनका उद्देश्य सामयिकता व देश-काल की विशेषता से परे नहीं था, उनका साहित्य सामयिकता की सतह को छूने वाला साहित्य नहीं था, उसमें गहराई से डूबने वाला, देश-काल की विशेषताओं के परस्पर संबंध को चित्रित करने वाला साहित्य था। इसलिए वह इतना सशक्त और प्रभावशाली है।”¹⁸

कला, उपयोगिता और आनन्द के संबंध भी पर्याप्त विवादग्रस्त हैं। यहाँ भी

‘आनन्द’ शब्द अपनी विशिष्टता का परिचायक है। प्रारम्भ में यह बताया जा चुका है कि प्रेमचन्द आनन्द का आधार सुन्दर और सत्य मानते हैं। वह मनुष्य को मानसिक तृप्ति प्रदान करता है। उसे मनोरंजन या मनबहलाव के अर्थ में ग्रहण करने पर हम प्रेमचन्द-साहित्य की वास्तविकता से दूर चले जाएंगे। कला और उपयोगिता के संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं

“मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।”¹⁹

यहाँ भी आनन्द को प्रमुखता दी गई है। कला की उपयोगिता आनन्द के निमित्त भी है। जो साहित्यकार कला को उपयोगिता के दृष्टिकोण से ग्रहण करता है वही युगधर्म को निबाहता है। ऐसा करने से वह मानव-जाति को जीवन-आनन्द की ओर ले जाता है। आनन्द तक पहुँचना ही मनुष्य जाति का लक्ष्य है। जो लोग कला को उपयोगिता के लिए ग्रहण न करके ‘कला के लिए ही’ ग्रहण करते हैं, उनके संबंध में प्रेमचन्द कहते हैं

“कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है; भक्ति, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चों वाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुला पसीना बहा रही है, उसने निश्चय कर लिया है कि रँगें होंटों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुन्दरता का वास है, उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियों पड़े हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ ? पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है।”²⁰

यहाँ उनकी कला समस्त कलावादियों व सौंदर्यवादियों से पृथक दिख रही है। प्रेमचन्द की कला हमें यही व्यापक दृष्टि प्रदान करती है। अतः प्रेमचन्द का साहित्य कलापूर्ण है। वह, जैसा कि कुछ आलोचकों ने बताया है, कलाहीन कदापि

नहीं। 'कला कला के लिए' के समर्थकों को उनके साहित्य में, यह सच है, जैसी कला वे चाहते हैं, उसके दर्शन नहीं होते। अतः वे अपनी संकीर्ण दृष्टि से देखने के कारण उनके साहित्य को ही कलाहीन घोषित कर देते हैं। प्रेमचन्द ने स्पष्ट लिखा

“कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है।”²¹

कला की आवश्यकता पर उन्होंने पूरा-पूरा ज़ोर दिया है, क्योंकि बिना कला के लेखक अपनी बात प्रभावशाली ढंग से नहीं कह सकता और इस प्रकार वह अपने उद्देश्य में भी सफल नहीं हो सकता। सामाजिक उत्तरदायित्व निबाहने वाले लेखक कला की उपयोगिता को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। कला क्रांति-भावना को तीव्रता प्रदान करती है। क्रांति से समाज-व्यवस्था में परिवर्तन आता है और यह परिवर्तन मानव-जीवन को आनन्द की ओर ले जाता है ; सत्य और सुन्दर की ओर ले जाता है। साहित्यकार इसी क्रांति का साधक व उपासक है। इसी क्रांति को लाने के लिए वह कला के माध्यम से अपने विचारों का प्रसार करता है। कलायुक्त साहित्य प्रचार का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। प्रेमचन्द लिखते हैं

“मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएँ उपयोगिता के सामने घुटने टेकती हैं, प्रोपेगंडा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए और इस तरह प्रोपेगंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा।”²²

एक स्थल पर वे प्रचार की आवश्यकता बताते हुए लिखते हैं

“जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े।”²³

अवश्य, वह प्रचारत्मक साहित्य अपने ऊँचे पद से गिर जाता है जो कला की उपेक्षा करके चलता है। साहित्य के द्वारा कलात्मक प्रचार भी सत्य और सुन्दर की प्रतिष्ठा के लिए है। आनन्द के लिए है।

आनन्द और मनोरंजन शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। प्रेमचन्द मनोरंजन को

साहित्य का निकृष्ट उद्देश्य मानते हैं

“साहित्य केवल मनबहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है।”²⁴

साहित्यकार के लक्ष्य के सम्बन्ध में लिखते समय वे कहते हैं

“साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं, उसका दर्ज़ा इतना न गिराए।”²⁵

मनोरंजन को एकमात्र उद्देश्य मानकर जो रचना की जाएगी वह तत्त्वहीन होगी। कहानी कला के संबंध में लिखते समय प्रेमचंद ने मनोरंजन की निकृष्टता के बारे में फिर लिखा है

“तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाए, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों का उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं।”²⁶

आगे चलकर पठकों का मन बहलाने वाले साहित्यकारों की तुलना वे भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसख़रों से करते हैं

“साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसख़रों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम-से-कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।”²⁷

अतः प्रेमचन्द का साहित्य सत्य और सुन्दर की प्रतिष्ठा करने वाला, हमें मानसिक तृप्ति प्रदान करने वाला, संघर्ष के लिए प्रेरित करने वाला सत्-साहित्य है। वह ‘दिमागी ऐयाशी’ का साहित्य नहीं है। जीवन में श्रृंगारिक मनोभावों की सत्ता अवश्य है; पर वे हमारे जीवन के अंग-मात्र हैं। साहित्यकार को अपनी दृष्टि श्रृंगारिक मनोभावों तक ही सिमित नहीं कर लेनी चाहिए

“क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो, जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव संबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है ? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र हैं, और जिस साहित्य का अधिकांश

इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और वर्ग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।”²⁸

कुछ साहित्यकार यथार्थवाद के नाम पर यौन-संबंधों का नग्न चित्रण करते हैं अथवा श्लील-अश्लील के बन्धन से मुक्त हो साहित्य में अति शृंगार का प्रचार करते हैं। प्रेमचन्द ऐसे कामोत्तेजक साहित्य के सख्त विरोधी थे। उन्होंने इस नंगी संस्कृति का सदैव लिखकर तथा प्लेटफार्मों से विरोध किया। समाज की नैतिक गिरावट के लिए बहुत कुछ साहित्य उत्तरदायी होता है। प्रेमचन्द अश्लीलता को सहन नहीं कर सकते थे, चाहे वह कलावादियों की ओर से प्रकट हो और चाहे यथार्थवादियों की। ‘भारतीय साहित्य परिषद्’ नामक टिप्पणी में परिषद् के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं

“एक दल साहित्यकारों का ऐसा भी है जो साहित्य को श्लील-अश्लील के बन्धन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और वाल्मीकि की रचनाओं से अश्लील शृंगार की नज़ीर देकर अश्लीलता की सफ़ाई देता है। अगर कालिदास या वाल्मीकि या और किसी नए या पुराने साहित्यकार ने अश्लील शृंगार रचा है तो उसने सुरुचि और सौंदर्य की भावना की हत्या की है। जो रचना हमें कुरुचि की ओर ले जाए, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज में गंदगी फैलाए, वह त्याज्य है, चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊँचा उठाना है। उसे नीचे गिराना नहीं।”²⁹

रति-वर्णन या नग्न-विलास को साहित्य का ऊँचा आदर्श कौन लोग समझते हैं, इस संबंध में प्रेमचन्द आगे लिखते हैं

“जो आँख केवल नग्न चित्र ही में सौंदर्य देखती है, और जो रुचि केवल रति-वर्णन या नग्न-विलास में ही कवित्व का सबसे ऊँचा विकास देखती है, उसके स्वस्थ होने में हमें संदेह है। यह ‘सुन्दर’ का आशय न समझने की बरकत है। जो लोग दुनिया को अपनी मुट्ठी में बंद किए हुए हैं, उन्हें दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है। पर जहाँ फाका और नग्नता है और पराधीनता है, वहाँ का साहित्य अगर नंगी कामुकता और निर्लज्ज रति-वर्णन पर मुग्ध है तो उसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित्त पूरा नहीं हुआ और शायद दो-चार सदियों तक उसे गुलामी में ज़िन्दगी और बसर करनी पड़ेगी।”³⁰

अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द उस शृंगार के विरोधी थे जो हमें कुरुचि की ओर ले जाता है, जो समाज के नैतिक स्तर को गिराता है। शृंगार और प्रेम का हमारे

जीवन में अस्तित्व है, लेकिन साहित्यकार को समय देखकर चलना चाहिए। 'रंगभूमि' में सोफी के मुख से प्रेमचन्द यही बात कहलाते हैं। सोफी प्रभुसेवक की कविता पर टिप्पणी देती है

“तुम्हारी कविता उच्च कोटि की है। मैं इसे सर्वांग सुन्दर कहने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की ज़रूरत नहीं होती, इसे तुम स्वीकार करोगे।”³¹

साहित्य के संबंध में प्रेमचन्द की क्या मान्यता थी, वे उसके लिए कौन-कौन से अनिवार्य तत्त्व मानते थे उन पर भी दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है। मनोरंजन और विलासित को ही साहित्य समझने वालों से प्रेमचन्द कहते हैं

“हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं।”³²

साहित्य युग का प्रतिबिम्ब होता है। जाति की गतिहीनता, उसका हास ऐसे साहित्य से मालूम पड़ता है जिसमें प्रेम-वासना और वैराग्य-भावनाओं की प्रधानता है

“पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए की जाति जड़ता और हास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें दुनिया का देखने और समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।”³³

एक स्थल पर प्रेमचन्द शृंगार-रस के बारे में लिखते हैं

“साहित्य में केवल एक रस है और वह शृंगार है।”³⁴

उनके इस वाक्य से ऐसा लगता है कि वे शृंगार-रस को ही साहित्य का एकमात्र उद्देश्य मान रहे हैं। यह वाक्य उनकी मान्यताओं में फिर असंगति उत्पन्न करता है। लेकिन वास्तव में असंगति कोई नहीं है। यहाँ शृंगार का अर्थ उन्होंने सौन्दर्य से लिया है। जैसा वे आगे लिखते हैं

“कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृंगार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है।”³⁵

प्रेमचन्द ने सौन्दर्य-प्रेम पर बहुत जोर दिया है, लेकिन यह सौन्दर्य-भावना शारीरिक नहीं है। उसका स्वरूप मानसिक है जो हमारे हृदय का संस्कार करता है। सौन्दर्य को देखकर हम मुग्ध होते हैं, उत्तेजित नहीं। प्रेमचन्द लिखते हैं

“कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता।”³⁶

“जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत् हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं।”³⁷

साम्प्रदायिक सद्भावना को साहित्य का लक्ष्य बताते हुए उन्होंने लिखा है

“जो साहित्य जीवन के उच्च आदर्शों का विरोधी हो, सुरुचि को बिगाड़ता हो अथवा साम्प्रदायिक सद्भावना में बाधा डालता हो, ऐसे साहित्य को यह परिषद् हरगिज़ प्रोत्साहित न करेगी।”³⁸

अतः साहित्यकार को उच्च भावों की अभिव्यक्ति करनी चाहिए

“साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सच्चाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है, वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है, द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है।”³⁹

साहित्य के विचारगत और कलागत तत्त्वों को प्रेमचन्द एक साथ लिखते हैं

“साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य के यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होते हैं, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।”⁴⁰

उपर्युक्त साहित्य के निर्माता का स्थान भी ऊँचा होना चाहिए। यदि साहित्यकार ऊँचे दर्जे का मनुष्य नहीं है तो वह सत्-साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। इसीलिए हमें पहले मनुष्य बनने की साधना करनी चाहिए, फिर साहित्यकार बनने की। प्रेमचन्द के मत से साहित्यकार को सत्यभाषी होना चाहिए। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, मनुष्यत्व को जगाता है, सद्भावों का संचार करता है तथा हमारी दृष्टि को व्यापक बनाता है साहित्य के लक्ष्य को बताते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं

“साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखती हुई चलने वाली सचाई है।”⁴¹

साहित्यकार का क्या कर्तव्य है ? प्रेमचन्द कहते हैं

“जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तागासा पेश करता है, और उसकी न्यायवृत्ति तथा सौन्दर्यवृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।”⁴²

लेकिन मात्र वकालत से काम नहीं चलता। साहित्यकार उपेक्षितों, तिरस्कृतों का पक्ष लेता अवश्य है, लेकिन सत्य का आँचल नहीं छोड़ता है। वह एक सत्यवादी वकील है।....

“पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक़िल की आरे से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें नहीं गढ़ता। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से ख़राब हो जाएगी और वह आपके खिलाफ़ फैसला सुना देगी।”⁴³

संदर्भ-संकेत

- 1 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 73
- 2 वही
- 3 वही
- 4 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 74

- 5 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 26
- 6 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 74
- 7 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 6
- 8 'हंस', जनवरी, 1935
- 9 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 8
- 10 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 79
- 11 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 80
- 12 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 41
- 13 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 42
- 14 वही
- 15 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 77
- 16 वही
- 17 वही
- 18 प्रेमचंद और उनका युग, पृ. 152
- 19 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 14
- 20 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 15-16
- 21 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 27
- 22 'प्रेमचंद', रामविलास शर्मा, पृ. 13
- 23 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 42
- 24 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 8
- 25 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 17
- 26 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 30
- 27 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 49
- 28 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 7
- 29 'हंस', मई 1936
- 30 वही
- 31 रंगभूमि (भाग-1), पृ. 155
- 32 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 21
- 33 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 7-8
- 34 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 74
- 35 वही
- 36 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 11
- 37 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 8
- 38 'हंस', मई 1936
- 39 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 11
- 40 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 6
- 41 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 17
- 42 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 9
- 43 वही

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

‘साहित्यकार एक सत्यवादी वकील है।’ प्रेमचंद। इस सत्यवादिता के साथ ही साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सत्यवादी आदर्श और यथार्थ दोनों पर अपनी समान दृष्टि रखता है। प्रेमचन्द का यही सिद्धान्त था, जिसे उन्होंने ‘आदर्शोन्मुख यथार्थवाद’ कहा है। या यों कहा जाय कि वे यथार्थवादी आदर्शवाद के समर्थक थे। साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद के प्रचलित अर्थों से उनका क्या सम्बन्ध था, यह उनके लेखों और उपन्यासों के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने अनेक पहलुओं से यथार्थवाद और आदर्शवाद को देखा है, यथा

1. उपयोगी यथार्थवाद
2. यथार्थवाद
3. अति-यथार्थवाद
4. आदर्शवाद
5. अस्वाभाविक आदर्शवाद

उपयोगी यथार्थवाद से अभिप्राय है समाज और व्यक्ति का ऐसा यथार्थ चित्रण जो मानव को विकास की ओर उन्मुख करे। इसमें ‘असत्’ पक्ष सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से चित्रित किया जाता है। ‘सत्’ पक्ष भी यथार्थ के अन्तर्गत है, पर सत् के चित्रण में सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं मानव-कल्याण का प्रतीक है। सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न ‘असत्’ पक्ष के साथ ही लगा हुआ है। समाज या व्यक्ति में जो अभाव हैं, दोष हैं या कुरूपताएँ हैं उनका यथार्थ चित्रण यदि मानव-विकास के दृष्टिकोण से किया जाएगा तो वह

उपयोगी यथार्थवाद कहलाएगा। यहाँ सामाजिक स्वास्थ्य की ओर दृष्टि रखना लेखक का प्रथम कर्तव्य माना जाता है।

यथार्थवाद के अन्तर्गत सामाजिक हित-अहित की कोई चिन्ता नहीं रहती। यथार्थवादी अपनी कला को फोटोग्राफी मानता है। जो है, उसका ज्यों-का-त्यों चित्रण कर देना ही उसका धर्म है। वह भौतिक सत्य को ही सब कुछ समझता है। मौलिक सत्य में उसे विश्वास होता अवश्य है, लेकिन वह उसका चित्रण उस समय तक नहीं कर सकता, जब तक वह भौतिक सत्य का रूप धारण न कर ले। यथार्थवाद के अन्तर्गत मनुष्य में पाई जानेवाली समस्त कु-प्रवृत्तियों का चित्रण होता है। वह नग्न और भयानक रूप में हमारे सामने आता है। यह नग्नता प्रायः शिष्टता की सीमा को भी लाँघ जाती है। यह भयानकता विश्वास-भावना तक को कुचल देती है और मनुष्य को निराशावादी या अविश्वासी बना देती है। यथार्थवाद के अन्तर्गत लेखक का कोई सामाजिक कर्तव्य नहीं होता। समाज उसके यथार्थवादी चित्रण से चौंक अवश्य जायगा, पर वह उसमें सत्प्रवृत्तियों का संचार नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत यदि वह सु-प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण करता है तब सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि सुप्रवृत्तियाँ स्वयं में मानव-कल्याण की द्योतक हैं। यथार्थवादी लेखक कु-प्रवृत्तियों पर ही अपनी दृष्टि रखते हैं।

अति-यथार्थवाद से अभिप्राय यथार्थ की अतिरंजना से है। उपयोगी यथार्थवाद के अन्तर्गत अल्परंजना रहती है। अल्परंजना सामाजिक सुधार के लिए उपयोगी प्रमाणित होती है; क्योंकि वहाँ लेखक का उद्देश्य न तो ज्यों-का-त्यों चित्रण कर देना है और न अतिरंजना से काम लेकर उसे अस्वाभाविक स्थिति तक ले जाना। अति-यथार्थवाद झूठा होता है। मनुष्य का पतन किस सीमा तक हो सकता है वह बताता है; चाहे उस सीमा तक मनुष्य पतित न भी हुआ हो। स्पष्ट है, ऐसा चित्रण मनुष्य को पतन की ओर ही ले जाएगा। समाज में अनाचार व व्यभिचार को ही प्रोत्साहित करेगा, क्योंकि उसे मानवी पतन-सीमा की यथार्थता प्रदर्शित-प्रमाणित करनी होती है। अति-यथार्थवाद समाज के लिये प्रत्येक स्थिति में घातक होता है वह मनुष्य के क्षयी व रुग्ण मन का परिचायक है।

यथार्थ के शाब्दिक अर्थ के अनुसार, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, उसमें सत् और असत् दोनों पक्षों का समावेश है। जब यथार्थ 'वाद' का रूप धारण कर लेता है, तब वह मात्र 'असत्' या 'कु' के चित्रण का परिचायक हो

जाता है। 'सु' का क्षेत्र आदर्शवाद ले लेता है। जो लोग 'सु' के चित्रण को भी यथार्थवाद के अन्तर्गत सम्मिलित कर लेते हैं; वे 'यथार्थ' के शाब्दिक अर्थ और प्रचलित यथार्थवाद के अर्थ में अन्तर नहीं करते।

आदर्शवाद मौलिक सत्य का उद्घाटन करता है। वह मनुष्य को मौलिक रूप में उपस्थित करता है। आज मनुष्य की क्या दशा है, इसकी वह चिन्ता नहीं करता। वह तो इस ओर ध्यान देता है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए। उसका वास्तविक रूप क्या है। आदर्शवादी महान् विचारक होता है।

यदि आदर्शवादी लेखक महान् विचारक नहीं है बौद्धिक नहीं है तो वह या तो अपने आदर्श का स्तर ओछा रखेगा या उसे अस्वाभाविक बना देगा। आदर्शवाद के अन्दर अस्वाभाविक तत्त्व तनिक-सी असावधानी से प्रवेश कर जाता है। इसी कारण आदर्शवादी लेखकों में यह दुर्बलता प्रायः पाई जाती है। अव्यावहारिक आदर्श को अस्वाभाविक आदर्शवाद कह सकते हैं।

कोरा आदर्शवादी सामाजिक स्वास्थ्य की ओर तो ध्यान देता ही है, वह वर्तमान समस्याओं से तटस्थ भी नहीं रहता। वर्तमान की सापेक्षता में ही वह अपना आदर्श सम्मुख रखता है। यदि आदर्शवादी ऐसा नहीं करे तो वह 'कला के कला' की श्रेणी में आ जाएगा। वह अलौकिक तथा काल्पनिक लोक में ही विचरण करता रहेगा।

प्रेमचन्द अपने लेखों और उपन्यासों के द्वारा 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का समर्थन करते हैं। वे आदर्श और यथार्थ का समन्वय करते हैं। उनका दृष्टिकोण उपयोगी यथार्थवाद और आदर्शवाद के समन्वय का है। अस्वाभाविक आदर्शवाद, यथार्थवाद और अति यथार्थवाद का उन्होंने समर्थन नहीं किया। ये विचार लेखों के अतिरिक्त उनके उपन्यासों के प्रमुख पात्रों के मुख से भी व्यक्त किए गए हैं। अति-आदर्शवाद और पात्रों के मुख से लेखक के बोलने के संबंध में वे लिखते हैं

“कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की ज़बान से खुद बोल रहा है।”¹

आदर्शवाद का ध्येय बताते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं

“साहित्य और कला में केवल मानव-जीवन की नक़ल को बहुत ऊँचा स्थान

नहीं दिया जाता। उसमें आदर्शों की रचना करनी पड़ती है। आदर्शवाद का ध्येय यही है कि वह सुन्दर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हें पुष्ट करे और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो, उसे साफ़ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जाँच यही है कि उसमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि हो। हम सब निर्बल जीव हैं, छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर हम विचलित हो जाते हैं, छोटे-छोटे संकटों के सामने सिर झुका देते हैं। और जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं जो प्रलोभनों को पैरों तले रौंदते और कठिनाइयों को धकियाते हुए निकल जाते हैं तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन मार्ग मिल जाता है।”²

अतः साहित्य में आदर्शवाद की स्थापना होनी चाहिए, लेकिन प्रेमचन्द सैद्धांतिक रूप से व्यावहारिक आदर्शवाद के समर्थक थे। उनका आदर्श उपयोगिता का शत-प्रतिशत पहलू रखता है। वे लिखते हैं

“साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में क़दम-क़दम पर आनेवाली कठिनाइयों का सामना कर सकें।”³

वे यथार्थवादियों के दोषों का उल्लेख करते हुए उपयोगी यथार्थवाद से आदर्शवाद का सम्मिश्रण करते हैं

“यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता; बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फ़ायदा ही क्या है, यह तो आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाएगा। वह साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जान पड़े।”⁴

यथार्थ भी उपयोगिता का पहलू रखता है। प्रचलित यथार्थवाद में और प्रेमचन्द के यथार्थवाद में यही अन्तर है। प्रचलित यथार्थवाद के सम्बन्ध में ‘कायाकल्प’ में चक्रधर एक स्थान पर कहता है

“यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और हम यथार्थ ही को आदर्श

मान लें, तो संसार नरक के तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलता पर न पड़नी चाहिए, बल्कि दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज करनी चाहिए।”⁵

प्रेमचन्द यथार्थवाद की एकांगिता के बारे में लिखते हैं

“यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है। नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं उनको नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है।) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है यहाँ तक कि उज्वल से उज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं, और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही नज़र आने लगती है।”⁶

यह एकांगिता विशुद्ध यथार्थवाद के अन्तर्गत ही है। प्रेमचन्द उपयोगी यथार्थवाद से समझौता ही नहीं करते वरन् उसे आवश्यक भी मानते हैं; लेकिन वे विशुद्ध या अति-यथार्थवाद के विरोधी हैं

“इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं ज़्यादा काला दिखाएँ जितना वह वास्तव में है; लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है।”⁷

आगे चलकर विशुद्ध यथार्थवाद की अनुपयोगिता का मनोवैज्ञानिक कारण देते हुए वे लिखते हैं

“फिर मानव-स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त

को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाए कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ। जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में खयाल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?”⁸

जहाँ वे एक ओर विशुद्ध यथार्थवाद की अनुपयोगिता प्रकट करते हैं वहाँ दूसरी ओर आदर्श की स्थापना उपयोगिता की आधारशिला पर ही करते हैं

“अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल-स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ-भावना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं।”⁹

यदि किसी को अँधेरी कोठरी में कार्य करने में असन्तोष है और वह अपनी वर्तमान स्थिति में परिवर्तन चाहता है, तो सर्वप्रथम उसे आदर्शवाद रूपी खुली हवा का ज्ञान होना आवश्यक है। तब उसे उस ‘अँधेरी कोठरी’ में पुनः कार्य करने की इच्छा नहीं होगी और वह अपने कार्यक्षेत्र को हवा से पूर्ण बनाने का उत्कट प्रयत्न करेगा।

लेकिन प्रेमचन्द जितने सजग यथार्थ की स्थापना में हैं, उतने ही आदर्श की

“यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह सुख है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हों जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।”¹⁰

वे अव्यावहारिक आदर्शवाद के समर्थक कभी नहीं रहे। उनमें उपयोगी यथार्थवाद और व्यावहारिक आदर्शवाद का अद्भुत समन्वय है। आगे चलकर वे लिखते हैं

“इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप ‘आदर्शोन्मुख यथार्थवाद’ कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिये।”¹¹

इसी प्रकार 'कर्मभूमि' में भी अमरकांत और डा. शान्तिकुमार के संवादों में आदर्श और यथार्थ के समन्वय की चर्चा आई है

“तुम आदर्श की धुन में व्यावहारिकता का बिलकुल विचार नहीं करते। कोरा आदर्शवाद ख्याली पुलाव है।

अमर ने चकित होकर कहा मैं तो समझता था, आप भी आदर्शवादी हैं।

शान्तिकुमार ने मानो इस चोट को ढाल पर रोककर कहा मेरे आदर्शवाद में व्यावहारिकता को भी स्थान है।

इसका अर्थ है कि आप गुड़ खाते है, गुलगुले से परहेज करते हैं।

जब तक मुझे रुपये कहीं से मिलने न लगे, तुम्हीं सोचो, मैं किस आधार पर नौकरी का परित्याग कर दूँ। पाठशाला मैंने खोली है। इसके संचालन का दायित्व मुझ पर है। इसके बन्द हो जाने पर मेरी बदनामी होगी। अगर तुम इसके संचालन का कोई स्थायी प्रबन्ध कर सकते हो, तो मैं आज इस्तीफ़ा दे सकता हूँ; लेकिन बिना किसी आधार के मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं इतना पक्का आदर्शवादी नहीं।

...

मुझे संसार का तुमसे ज़्यादा तजरबा है, मेरा इतना जीवन नये-नये परीक्षणों में ही गुजरा है मैंने जो तत्त्व निकाला है, यह कि हमारा जीवन समझौते पर टिका हुआ है। अभी तुम जो चाहे समझो, पर एक समय आवेगा, जब तुम्हारी आँखें खुलेंगी और तुम्हें मालूम होगा कि जीवन में यथार्थ का महत्त्व आदर्श से जौ भर भी कम नहीं है।”¹²

‘आदर्शोन्मुख यथार्थवाद’ का सुलझा हुआ रूप उनके लेखों में द्रष्टव्य है, लेकिन यह स्पष्टता तभी दिखाई देगी जब विशुद्ध यथार्थवाद, उपयोगी यथार्थवाद, आदर्शवाद और अति-आदर्शवाद आदि के सूक्ष्म अंतर को सामने रखा जाए। जो आलोचक इस अन्तर की ओर ध्यान नहीं देते वे या तो उनके विचारों में असंगतियाँ ढूँढ़ते हैं या फिर उन्हें आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर आते देखते हैं और ऐसा विश्वास प्रकट करते हैं कि प्रेमचन्द अगर और जीवित रहते तो वे निश्चय ही साहित्य में प्रचलित यथार्थवाद के समर्थक हो जाते। उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द अपनी साहित्यिक चेतना के प्रारम्भ से अन्त तक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के समर्थक रहे। इस दृष्टि से उनमें कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता।

संदर्भ-संकेत

- 1 प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ. 10
- 2 'हंस', मार्च, 1935
- 3 वही, जनवरी, 1935
- 4 प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ. 25
- 5 'कायाकल्प', पृ. 129
- 6 प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ. 39-40
- 7 प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ. 40
- 8 वही
- 9 वही
- 10 प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ. 40-41
- 11 प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ. 41
- 12 'कर्मभूमि', पृ. 110-111

जीवन-चिन्तन

प्रेमचन्द एक जागरूक कलाकार थे। कल्पना की अपेक्षा सत्य, अन्तर्मुख की अपेक्षा बहिर्मुख, मृत्यु की अपेक्षा जीवन, निराशा की अपेक्षा आशा तथा कुरूपता की अपेक्षा सौन्दर्य के वे सच्चे उपासक थे। उन्होंने यथार्थ का आँचल कभी नहीं छोड़ा। यथार्थ के सुदृढ़ धरातल पर ही उन्होंने अपने आदर्श-लोक का निर्माण किया, जिसे उन्होंने स्वयं 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का नाम दिया है। जीवन में जो कुछ स्वस्थ, सुन्दर, सत्य एवं कल्याणकारी है, वही उन्हें ग्राह्य है, शेष सर्वथा त्याज्य। उन्होंने अन्धकार को कभी प्रकाश पर छाने नहीं दिया। पशुता और दानवता के समाने मनुष्यता का सिर ऊँचा रखा। धन, अधिकार-मद, शोषण तथा प्रचलित धार्मिक अव्यवस्था के विरोध में उन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया। वे पीड़ित, पद-दलित व उपेक्षित जनता के लेखक थे। स्वयं मजदूर थे कलम के मजदूर। उनकी लेखनी फावड़े-कुदाली के समान युग-युग से संस्कारों, विश्वासों, धारणाओं रूपी कड़ी ज़मीन को खोदती चली गई। प्रेमचन्द भारत की महान सांस्कृतिक परम्परा के एक अंग हैं। सादगी व भोलेपन के वे साक्षात् अवतार थे।

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन अद्वितीय था। मानवतावादी लेखक होने के नाते उनका विकसित 'मनुष्य' उनके साहित्य से कहीं महान है। 'रंगभूमि' में सूरदास का गीत प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का प्रतीक है। इस गीत में उनके जीवन का रहस्य भरा हुआ है

भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
वीरों का काम है लड़ना,
कुछ काम जगत में करना
क्यों निज मरजादा छोड़े ?

भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
क्यों जीत की तुझको इच्छा,
क्यों हार की तुझको चिन्ता,
क्यों दुख से नाता जोड़े ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
तू रंगभूमि में आया
दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम नीति को तोड़े ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?¹

वे जीवन को एक खेल समझते थे। प्रत्येक प्राणी इस संसार-रूपी मैदान में खिलाड़ी बनकर आता है और अपना-अपना खेल खेलकर चला जाता है। खेल में हार-जीत होती ही है। सूरदास कहता है, “सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाज़ी पर बाज़ी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं। उनकी तयारियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती। दिल पर मालिन्य की छींटे भी नहीं आते, किसी से जलते हैं न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा ? खेल हँसने के लिए, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिये नहीं।”²

उनके जीवन का यह खेल धर्म व नैतिकता पर आधारित है, ‘क्यों धरम नीति तो तोड़े ?’ उनके जीवन का मूल मंत्र है। वे ‘विजय’ को विजय के साधनों से महान नहीं समझते। जीवन की सफलता मात्र विजय में निहित नहीं है। संघर्ष की प्रणाली और उसके साधनों का नैतिकता से गहरा संबंध है। चाहे उन साधनों से विजय मिले या न मिले। पराजय, अनैतिक प्रयत्नों की विजय से कहीं श्रेष्ठ है सूरदास कहता है, “हमारी बड़ी भूल यह है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आएगा? खेल तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबराए नहीं, ईमान को न छोड़े। जीतकर इतना न इतराए कि अब हार कभी होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिन्दगी के साथ है।”³

प्रेमचन्द के साहित्य में जीवन का यही दृष्टिकोण मिलेगा। वे बहुत हँसते थे। उनके पहुँचते ही मुर्दा गोष्ठियों में भी क़हक़हों की धूम मच जाती थी। हास्य उनके जीवन-दर्शन का एक अंग है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जगह-जगह ऐसे स्थल आये हैं, जहाँ प्रेमचन्द अपने पात्रों को बेहद हँसाते हैं तथा जिनके साथ

पाठक भी हँसते हैं। जीवन की गम्भीरतम, अत्यधिक निराशाजनक, विवशताजन्य तथा भयानक परिस्थितियों के बीच यह हास्य कोई साधारण चीज़ नहीं है। ऐसा लगता है, प्रेमचन्द जीवन की विभीषिकाओं को एक साधारण वस्तु समझते थे। वे विभीषिकाएँ प्रेमचन्द के साहसिक मन की चट्टान से टकराती थीं और लौट जाती थीं और एक उन्मुक्त हँसी सदैव वातावरण में गूँजती रहती थी। प्रेमचन्द ने जीवन की विपदाओं को वास्तविक रूप में हँस-हँसकर झेला था।

सुख और दुःख जीवन-रथ के दो पहिए हैं। हास और रुदन मानव-जीवन की पूर्णता के लिए अनिवार्य हैं। एक के अभाव में दूसरे का कोई महत्त्व नहीं है। जो व्यक्ति दुःख की सत्ता को अस्वीकार करता है, वह वास्तविकता पर आवरण तो डालता ही है, समाज को अलौकिक जीवन की मृग-मरीचिका में भी भटका देता है। लौकिक जीवन से निर्लिप्त जीवन की सत्ता प्रेमचन्द को मान्य नहीं थी। उनके सभी पात्र सुख-दुःख की धूप-छाँह में अपना लौकिक जीवन व्यतीत करते हैं। हँसते हैं और रोते हैं। वे कोई ऐसे आदर्श महापुरुष अथवा अतिमानव नहीं; जो सुख-दुःख में समभाव धारण करते हैं। उनके पात्र शत-प्रतिशत मनुष्य हैं और प्रेमचन्द को उनकी मानवीय दुर्बलताओं से प्रेम है, सहानुभूति है। जहाँ एक ओर उनके पात्र सुख-दुःख में हँसते और रोते हैं; वहाँ दूसरी ओर ऐसा नहीं है कि वे दुःख में निराश होकर आत्महत्या कर लें अथवा सुख के मद में मानवीय मूल्यों को भूल जाएँ। मनुष्य के सम्मुख सबसे बड़ी लौकिक वेदना मृत्यु है ; और जब यह असमय ही हो जाए तब और भी मर्यान्तिक है। मृत्यु मानव-जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। मृत्यु मानव-जीवन का अनिवार्य अंग होने के कारण उपेक्षित वस्तु नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जहाँ किसी पात्र की मृत्यु होती है वहाँ का वातावरण और वर्णन कितना गम्भीर और दहला देने वाला होता है कि देखते ही बनता है। प्रायः औसत बुद्धि और हृदय की औसत गहराई वाले लेखक मृत्यु जैसे मर्मस्पर्शी प्रसंग को एकदम साधारण घटना समझकर छोड़-से जाते हैं। किसी पात्र की मृत्यु हो गई और मानो कुछ हुआ ही नहीं। कथा आगे बढ़ती जाती है। लेकिन प्रेमचन्द के साथ ऐसा नहीं है। मृत्यु को दो पंक्तियों में अख़बारी समाचार की तरह लिखकर वे आगे नहीं बढ़ जाते, वरन् डूबते-उतराते हैं और अपने महत् जीवन-अनुभव से जो कुछ उन्होंने प्रहण किया है वह पाठकों के सामने रखते हैं। इतना मर्मस्पर्शी प्रसंग यदि पाठक को रुला न सका तो लेखक की जीवन-साधना उथली ही मानी जाएगी। प्रेमचन्द के उपन्यासों में वर्णित मृत्यु-प्रसंगों के कुछ उद्धरण, जीवन के

प्रति उनके दृष्टिकोण को समझने में सहायक होंगे

(क)“बसंतकुमार ने एक बार फिर जोर मारा, पर हाथ-पाँव न हिला सके। तब उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। तट पर लोगों ने डूबते देखा। दो-चार आदमी पानी में कूदे, पर एक ही क्षण में बसंतकुमार लहरों में समा गए, केवल कमल के फूल पानी पर तैरते रह गए, मानों उस जीवन का अंत हो जाने के बाद उनकी अतृप्त लालसा अपनी रक्तरंजित छटा दिखा रही हो।”⁴

(ख)“हमारा अंत समय कैसा धन्य होता है। वह हमारे पास ऐसे-ऐसे अहितकारियों को खींच लाता है, जो कुछ दिन पूर्व हमारा मुख नहीं देखना चाहते थे और जिन्हें इस शक्ति के अतिरिक्त संसार का कोई अन्य शक्ति पराजित न कर सकती थी। हाँ, यह समय ऐसा ही बलवान है और बड़े-बड़े बलवान शत्रुओं को हमारे अधीन कर देता है। जिन पर हम कभी विजय न प्राप्त कर सकते थे, उन पर हमको यह समय विजयी बना देता है। जिन पर हम किसी शस्त्र से अधिकार न पा सकते थे, उन पर यह समय शरीर के शक्तिहीन हो जाने पर भी हमको विजयी बना देता है। आज पूरे वर्ष भर के पश्चात् प्रताप ने इस घर में पदार्पण किया। सुशीला की आँखें बन्द थीं, पर मुख-मंडल ऐसा विकसित था, जैसा प्रभातकाल का कमल।”⁵

(ग)“अँधेरा हो चला था। सारे गृह में शोकमय और भयावह सन्नाटा छाया हुआ था। रोने वाले रोते थे, पर कंठ बाँध-बाँधकर। बातें होती थीं, पर दबे स्वरों से। सुशीला भूमि पर पड़ी हुई थी। वह सुकुमार अंग, जो कभी माता के अंक में पला, कभी प्रेमांक में पौढ़ा, कभी फूलों की सेज पर सोया, इस समय भूमि पर पड़ा हुआ था। अभी तक नाड़ी मंद-मंद गति से चल रही थी, मुंशीजी शोक और निराशा-नद में मग्न उसके सिर की ओर बैठे हुए थे। अकस्मात् सिर उठाया और दोनों हाथों से मुंशीजी का चरण पकड़ लिया। प्राण उड़ गये। दोनों कर उनके चरण का मण्डल बाँधे ही रहे। यह उसके जीवन की अन्तिम क्रिया थी।

रोने वाले रोओ, क्योंकि तुम रोने के अतिरिक्त कर ही क्या सकते हो ? तुम्हें उस समय कोई कितनी ही सान्त्वना दे, पर तुम्हारे नेत्र अश्रु-प्रवाह को न रोक सकेंगे। रोना तुम्हारा कर्तव्य है। जीवन में रोने के अवसर कदाचित् ही मिलते हैं। क्या इस समय तुम्हारे नेत्र शुष्क हो जायेंगे ? आँसुओं के तार बाँधे हुए थे, सिसकियों के शब्द आ रहे थे कि महाराजिन दीपक जलाकर घर में लायी। थोड़ी देर पहले सुशीला के जीवन का दीप बुझ चुका था।”⁶

(घ) “ लौंगी ने दोनों फैले हुए हाथों के बीच में अपना सिर दिया और अन्तिम प्रेमालिंगन के आनन्द में विह्वल हो गई। इस निर्जीव मरणोन्मुख प्राणी के आलिंगन में उसने उस आत्मबल, विश्वास और तृप्ति का अनुभव किया, जो उसके लिए अभूतपूर्व था। इस आनन्द में शोक भूल गई। पचीस वर्ष के दाम्पत्य जीवन में उसने कभी इतना आनन्द न पाया था। निर्दय अविश्वास रह-रहकर उसे तड़पाता रहता था। उसे सदैव यह शंका बनी रहती थी कि यह डोंगी पार लगती या मँझधार में डूब जाती है। वायु का हलका-सा वेग, लहरों का हलका-सा आन्दोलन, नौका का हलका-सा कंपन उसे भयभीत कर देता था। आज उन सारी शंकाओं और वेदनाओं का अन्त हो गया। आज उसे मालूम हुआ कि जिसके चरणों पर मैंने अपने को समर्पित किया था, वह अन्त तक मेरा रहा। यह शोकमय कल्पना भी कितनी मधुर और शान्तिदायिनी थी !

वह इसी विस्मृति की दशा में थी कि मनोरमा का रोना सुनकर चौंक पड़ी और दीवान साहब के मुख की ओर देखा। तब उसने स्वामी के चरणों पर सिर रख दिया और फूट-फूटकर रोने लगी। एक क्षण में सारे घर में कुहराम मच गया। नौकर-चाकर सभी रोने लगे। जिन नौकरों को दीवान साहब के मुँह से नित्य चुड़कियाँ मिलती थीं, वे भी रो रहे थे। मृत्यु में मानसिक प्रवृत्तियों को शान्त करने की विलक्षण शक्ति होती है। ऐसे विरले ही प्राणी संसार में होंगे जिनके अन्तःकरण मृत्यु के प्रकाश से आलोकित न हो जाएँ। अगर कोई ऐसा मनुष्य है, तो उसे पशु समझो। हरि सेवक की कृपणता, कठोरता, संकीर्णता, धूर्तता एवं सारे दुर्गुण, जिनके कारण वह अपने जीवन में बदनाम रहे, इस विशाल प्रेम के प्रवाह में बह गये।”⁷

(ङ) “राजा साहब ने यह करुण विलाप सुना और उनके पैरों तले से ज़मीन निकल गयी। उन्होंने विधि को परास्त करने का संकल्प किया था। विधि ने उन्हें परास्त कर दिया। विधि को हाथों का खिलौना बनाना चाहते थे। विधि ने दिखा दिया, तुम मेरे हाथ के खिलौने हो। वह अपनी आँखों से जो कुछ न देखना चाहते थे, वह देखना पड़ा और इतनी जल्दी। आज ही वह मुंशी वज्रधर के पास लौटे थे, आज ही उनके मुँह से वे अहंकारपूर्ण शब्द निकले थे। आह ! कौन जानता था कि विधि इतनी जल्दी यह सर्वनाश कर देगी। इससे पहले कि वह अपने जीवन का अन्त कर दें, विधि ने उनकी आशाओं का अन्त कर दिया।”⁸

(च) “मुँह से ‘तीन’ शब्द निकलते ही बाबू साहब के सिर पर लाठी का ऐसा

तुला हुआ हाथ पड़ा कि वह अचेत होकर ज़मीन पर गिर पड़े। मुँह से केवल इतना ही निकला, हाय मार डाला।... हाय, बेचारे क्या सोचकर चले थे, क्या हो गया। जीवन, तुमसे ज्यादा असार भी दुनिया में कोई वस्तु है ? क्या यह उस दीपक की भाँति ही क्षण-भंगुर नहीं, जो हवा के एक झोंके से बुझ जाता है? पानी के एक बुलबुले को देखते हो, लेकिन उसे टूटते भी कुछ देर लगती है, जीवन में उतना सार भी नहीं। साँस का भरोसा ही क्या ? और इसी नश्वरता पर हम अभिलाषाओं के कितने विशाल भवन बनाते हैं। नहीं जानते, नीचे जाने वाली साँस ऊपर आयेगी या नहीं, पर सोचते इतनी दूर की हैं, मानों हम अमर हैं।”⁹

प्रेमचन्द जीवन को यद्यपि खेल समझते थे तथापि यह खेल निरुद्देश्य नहीं है। सुख और दुःख के बीच मनुष्य अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहकर विश्व के रंगमंच पर अपना ‘अभिनय’ पूर्ण करता है। मनुष्य एक अभिनेता है, किन्तु वह कृत्रिम अभिनेता नहीं है। प्रेमचन्द उसे स्वाभाविक रूप में देखना चाहते हैं। उसका हँसना और रोना प्राकृतिक व्यापार है। उनके जीवन-दर्शन में अलौकिकता नाम की कोई चीज़ नहीं है, यद्यपि ‘कायाकल्प’ में वे आध्यात्मिक जीवन की अनेक गुत्थियाँ सुलझाते दृष्टिगोचर होते हैं एवं पुनर्जन्म में विश्वास व्यक्त करते हैं। तथापि ‘कायाकल्प’ प्रेमचन्द के विचारों की कोई सीमा नहीं है। उन्होंने भौतिक जीवन की वास्तविकता को ही व्यापक रूप में स्पर्श किया है। ‘गोदान’ में प्रो. मेहता के मुख से वे जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को ही एक तरह से व्यक्त करते हुए कहते हैं

“मेरे जीवन का क्या आदर्श है... मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ। जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुःखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमज़ोरी और हँसने का हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द ! जहाँ कुत्सा ईर्ष्या और जलने के लिए कोई स्थान नहीं। मैं भूत की चिंता नहीं करता। भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिंता हमें कायर बना देती है। भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है.... हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर, रूढ़ियों, विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं। . . . और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्र है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष की उपासना की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है।

जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठों पर मुस्कराहट न आये। मैं कहता हूँ अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो।”¹⁰

जीवन किस प्रकार जिया जाए, इसका यह उत्तर है!

लेकिन प्रेमचन्द का यह भौतिकवादी दृष्टिकोण भोग की भावना पर आधारित नहीं है। वे स्वयं ‘फकीर’ और ‘तपस्वी’ थे। उन्होंने धन की कभी चिंता नहीं की। कर्तव्य भूलकर वैयक्तिक सुख-सुविधाओं की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्हें अपने आदर्श सर्वाधिक प्रिय थे। धन के लोभ में पड़कर वे अपने आदर्शों और सिद्धान्तों से कभी च्युत नहीं हुए। प्रेमचन्द का जीवन इसका प्रमाण है। आर्थिक संकटों के बीच वे कभी निराश नहीं हुए। महाराजा अलवर के निमंत्रण को अस्वीकार कर उन्होंने अपने आदर्शों के प्रति गहन निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

इसी प्रकार उपन्यासों के आदर्श पात्र, जो उनके विचारों के वाहक हैं, यही कहानी कहते हैं। गोविन्दी अपने पिता खन्ना से कहती है

“सत्पुरुष धन के आगे सिर नहीं झुकाते। वह देखते हैं, तुम क्या हो। अगर तुममें सच्चाई है, त्याग है, पुरुषार्थ है, तो ये तुम्हारी पूजा करेंगे।”¹¹

धन हमें आत्मसेवी, भोगी और विलासी बना देता है। हम जीवन की पवित्रता को भूल जाते हैं। धन के लोभ ने आज मानव-जीवन को किस तरह विकृत कर दिया है उसका यथार्थ चित्रण प्रेमचन्द-साहित्य में मिलता है। स्वार्थ-भावना की जड़ यही धन-लिप्सा है। धन की लालसा ने सेवा-भावना को कुठित कर रखा है। प्रेमचन्द ने समाज के समाने सेवा-वृत्ति को प्रतिष्ठापित किया है। सेवा-मार्ग उन्हें अत्यधिक प्रिय था। व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों रूपों में वे सेवाभाव को प्राथमिकता देते थे। राज-प्रजा के संबंधों पर लिखते हुए वे कहते हैं

“आज राजा और प्रजा में भोक्ता और भोग्य का संबंध नहीं है, अब सेवक और सेव्य का संबंध है। अब अगर किसी राजा की इज्जत है तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति के कारण।.....जब तक कि कोई सेवा-मार्ग पर चलना नहीं सीखता, जनता के दिलों में घर नहीं कर पाता।”¹²

प्रेमचन्द के प्रायः प्रत्येक उपन्यास में सेवा-धर्म की चर्चा मिलेगी। कितने ही पात्र सेवा-मार्ग के पथिक चित्रित किए गए हैं। ‘कर्मभूमि’ में अमरकांत, नैना, डा.

शान्तिकुमार, गोदान' में होरी, प्रो. मेहता, 'कायाकल्प' में यशोदानन्दन, चक्रधर, मनोरमा, शंखधर, 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर, 'वरदान' में विट्ठलदास, पद्मसिंह, 'रंगभूमि' में सूरदास, प्रेमसेवक, सोफी, विनयसिंह आदि सभी के जीवन का उद्देश्य सेवा है। अपने निबंध-संग्रह 'कुछ विचार' में भी प्रेमचन्द एक जगह लिखते हैं

“अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय प्राप्त न कर सकें।”¹³

'गोदान' में प्रो. मेहता के विचारों की व्याख्या करते समय प्रेमचन्द ने सेवा मार्ग अथवा कर्मयोग पर एक विस्तृत टिप्पणी दी है

“प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है।..... सभी मनस्वी प्राणियों में यह भावना (त्याग-भावना) छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है। आदमी अगर धन या नाम के पीछे पड़ा है, तो समझ लो, अभी तक वह किसी परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क में नहीं आया।”¹⁴

उपर्युक्त विवेचन से उनका भौतिकवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। निःसन्देह, प्रेमचन्द में हमें एक उदात्त नैतिकता के दर्शन होते हैं। उनकी विचारधारा अव्यावहारिक नहीं है। वे सिद्धान्त और जीवन की एकता के समर्थक थे। नकली ज़िन्दगी से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। 'गोदान' में प्रो. मेहता जीवन और सिद्धान्तों के सम्बन्धों पर कहते हैं

“मैं चाहता हूँ, जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो।.....मुझे उन लोगों से ज़रा भी हमदर्दी नहीं है, जो बातें करती हैं कम्युनिस्टों की-सी, मगर जीवन है रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।”¹⁵

प्रेमचन्द के जीवन में सिद्धान्त-साम्य सर्वत्र मिलेगा। उनके साहित्य में जिस ईमानदारी के दर्शन होते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धान्त-रक्षा का आत्म-सम्मान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेमचन्द मनुष्य में आत्मसम्मान देखना चाहते थे। उन्होंने मनुष्य मात्र को मरना और जीना सिखाना चाहा था। जनता को उत्तेजित करते हुए वे लिखते हैं

“जब तक जनता स्वयं अपनी रक्षा करना न सीखेगी, ईश्वर भी उसे अत्याचार से नहीं बचा सकता।

हमें सबसे पहले आत्मविश्वास की रक्षा करनी चाहिये। हम कायर और दबू

हो गये हैं, अपमान और हानि चुपके से सह लेते हैं, ऐसे प्राणियों को तो स्वर्ग में भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। ज़रूरत है कि हम निर्भीक और साहसी बनें, संकटों का सामना करें, मरना सीखें। जब हमें मरना न आएगा, जीना भी न आएगा।¹⁶

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन के ये मुख्य तत्त्व हैं, जिन्होंने उन्हें महान बनाया है। ये तत्त्व विशुद्ध मानवीय हैं। इन्हीं के आधार पर प्रेमचन्द के हृदय और बुद्धि की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है; क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जिनसे प्रेमचन्द बने हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका यह जीवन-दर्शन उभर-उभरकर सामने आया है। इससे उनका मानवतावाद भी भँली-भाँति प्रकट हो जाता है। जो आलोचक गांधीवादी अथवा साम्यवादी विचारधाराओं के माध्यम से उनके जीवन-दर्शन की खोज करते हैं वे वास्तव में आधार की ओर नहीं देखते। प्रेमचन्द न सही अर्थों में गांधीवादी थे और न साम्यवादी। उन्होंने राजनीतिज्ञों अथवा समाजशास्त्रियों द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अपने साहित्य का सृजन नहीं किया। मानवीय मूल्यों को उन्होंने सर्वोपरि स्थान दिया है। यदि उन्होंने साम्यवाद का समर्थन किया है तो इसीलिए कि साम्यवादी समाज-व्यवस्था में मानवीय मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जाती। यही देखकर उन्होंने सोवियत रूस की 'नई सभ्यता' का जोरदार समर्थन किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी 'रूस की चिट्ठी' में सोवियत रूस की प्रशंसा की थी। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने गांधीवादी दर्शन को इसीलिए अपनाया था कि उसमें भी मानवीय मूल्य अपनी पराकाष्ठा में विद्यमान थे। चाहे उसे गांधीवादी दर्शन या गांधीवादी नैतिकता कहा जाए, चाहे भारतीय संस्कृति। सत्य, अहिंसा, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग, हरिजनों व शोषितों के प्रति प्रेम-भावना आदि बातें यदि उनमें मिलती हैं तो इस आधार पर हम उन्हें गांधीवादी नहीं ठहरा सकते, भले ही ये प्रेरणाएँ उन्हें गांधीजी के वैचारिक सम्पर्क से मिली हों। चाहे गांधीवाद से प्रभावित प्रेमचन्द हों और चाहे साम्यवाद से, उनका मौलिक दर्शन सर्वत्र स्पष्ट लक्षित है, तभी वे आज इतने महान बन सके, तभी वे मनुष्य जाति को कुछ दे सके और तभी उनके साहित्य में इतनी गहराई आ सकी।

संदर्भ-संकेत

- 1 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 328
- 2 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 190
- 3 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 140
- 4 'प्रतिज्ञा', पृ. 20
- 5 'वरदान', पृ. 47

- 6 'वरदान', पृ. 53
- 7 'कायाकल्प', पृ. 363-364
- 8 'कायाकल्प', पृ. 467
- 9 'निमला', पृ. 15
- 10 'गोदान', पृ. 268
- 11 'गोदान', पृ. 397
- 12 'रंगभूमि', (भाग71), पृ. 366
- 13 कुछ विचार, पृ. 19
- 14 'गोदान', पृ. 414-415
- 15 'गोदान', पृ. 69
- 16 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 245 (प्रभुसेवक का कथन)

मानवतावादी दृष्टि

प्रेमचन्द मानवतावादी लेखक थे। गांधीवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों से उन्होंने सीधी प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उन्होंने जो कुछ जाना, सीखा, लिखा वह सब अपने अनुभव-मात्र से। इसीलिए उनके साहित्य में अपरास्त शक्ति है। गांधीवाद और साम्यवाद का कोई मानवतावाद से विरोध नहीं है, अतः प्रेमचन्द के विचारों में जगह-जगह इन दोनों वादों की झलक मिल जाती है, लेकिन उनका अपना विशिष्ट मानवतावाद सर्वत्र उभरा हुआ दीखता है। इसीलिए न उन्हें मात्र गांधीवादी ठहराया जा सकता है और न साम्यवादी। उन्होंने गांधीवादी और साम्यवादी दर्शन से प्रभावित होकर साहित्य-सर्जन नहीं किया, उनका व्यक्तित्व इन वादों की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। वस्तुतः मूल समस्या प्रेमचन्द के गांधीवाद से साम्यवाद की ओर मुड़ने की नहीं है, प्रत्युत उनके मानवतावाद के विकास की है। उनका मानवतावादी जीवन-दर्शन ही उनकी समस्त विचारणा के लिए उत्तरदायी है। इसमें सन्देह नहीं, उनके मानवतावाद पर भारतीय दर्शन की गहरी छाप है। गांधीवादी और साम्यवादी विचारों में यदि कहीं भारतीय ऋषियों के चिन्तन एवं सिद्धान्तों की झलक मिलती है तो उसे मौलिक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार यदि प्रेमचन्द-साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति मिलती है तो मात्र इस आधार पर प्रेमचन्द को भी कोई 'वादी' नहीं ठहराया जा सकता। वह तो भारतीय दर्शन के प्रभाव का परिणाम ही माना जाएगा। उदाहरणार्थ, अहिंसा का सिद्धान्त है। यदि प्रेमचन्द में अहिंसा-भाव मिलता है तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे गांधीवादी हो गए। अहिंसा-भाव भारतीय दर्शन की उपज है।

प्रेमचन्द के मानवतावाद का विकास सुधारवाद से क्रांति की दिशा में हुआ

है। जहाँ वे सुधारवादी हैं वहाँ वे गांधीवाद के अधिक निकट हैं और जहाँ क्रांतिकारी हैं वहाँ सामयवाद के। पर, विशिष्ट तथ्य यह है कि इस भेद के होते हुए भी सुधारवादी और क्रांतिकारी प्रेमचन्द के मौलिक जीवन-दर्शन में अन्तर नहीं आया है। इस बात का प्रमाण सितम्बर, 1936 में 'हंस' में प्रकाशित प्रेमचन्द का 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख है। यद्यपि इस समय तक वे 'सोजेवतन' से 'मंगलसूत्र' तक ही एक लम्बी राह पार कर चुके हैं, फिर भी उनकी पूर्व मान्यताओं का आधार नहीं बदला है। यहाँ जागीरदारी सभ्यता के बारे में प्रेमचन्द लिखते हैं

“जागीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाज़ी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने आदेश को क़ानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था तो प्रजापालन भी करता था। न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिए करता था या अपनी आन-बान, रोब-दाब कायम रखने के लिए या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना न होता था। कारण यह कि राजा और सम्राट जन-साधारण को अपने स्वार्थसाधन और धन-शोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे, किन्तु उनके दुःख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुण की कद्र करते थे।”¹

यही बात उन्होंने 'जागरण' 1932 के अंक में कही है :

“किसी वर्ग को दूसरे से इतना भय न था कि वह अपना संगठन करता। प्रत्येक वर्ग का कार्यक्षेत्र नियत था। उस क्षेत्र के भीतर वह अपना जीवन व्यतीत करता था। ब्राह्मण समाज और राष्ट्र का नेता था। इसलिए नहीं कि उसमें धर्मबल था या बाहुबल था, बल्कि इसलिए कि उसमें ज्ञानबल था। वैश्य धन कमाता था, पर उस धन को जनहित में खर्च करता था। मनोवृत्तियाँ कुछ इस तरह हो गई थीं कि लोग अपने अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों का ज़्यादा विचार रखते थे। उस वक्त का राजा केवल सिंहासन की शोभा न बढ़ता था, बल्कि उसे रात-दिन प्रजा के हित की चिन्ता रहती थी। वह नित्य अपने समय का कुछ-न-कुछ भाग प्रजा का दुःख-दर्द सुनने में व्यतीत करता था, जिससे प्रजा में उसके प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता था। ज़मींदार केवल किसान से लगान वसूल

करके चैन न करता था, बल्कि प्रजा के हित की रक्षा करता था। कुएँ और तालाब खुदवाना, अकाल और दुर्भिक्ष के समय प्रजा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देना उसका धर्म था।”²

5 सितम्बर, 1932 के अंक में प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं

“हमारे देश की संस्कृति कर्तव्य-प्रधान, धर्म-प्रधान, परमार्थ-प्रधान अहिंसा-प्रधान, व्रत और नियम-प्रधान संस्कृति है। उसमें व्यक्ति और समष्टि के सामंजस्य का ऐसा विधान है कि एक-दूसरे का शत्रु न होकर सहायक बना रहे। व्यक्ति के लिए धन और शौर्य प्राप्त करने की पूरी स्वाधीनता है, पर उसका उपयोग समाज और राष्ट्र के हित के लिए होना चाहिए, भोग-विलास, निर्बलों पर प्रभुत्व जमाने के लिए नहीं। ‘अहिंसा परमो धर्मः’ और ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ यह दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्त्व हैं और इस अधोवस्था में भी हम उन्हें अपनाए हुए हैं। यद्यपि अनेक कारणों से उस संस्कृति का रूप विकृत हो गया है, उसमें असंख्य बुराइयाँ घुस गई हैं, यहाँ तक कि उसका रूप पहचाना नहीं जा सकता, फिर भी ये तत्त्व प्रकाश-स्तम्भों की भाँति अब भी प्रतिकूल दशाओं का सामान करते हुए खड़े हैं। बहुत कुछ खो चुकने पर भी, अब तक इसमें जो कुछ रहा है, वह उन्हीं प्रकाश-स्तम्भों का प्रसाद है अन्यथा अब तक हमारी नौका न जाने कब की भँवर में पड़कर डूब चुकी होती।”³

प्रेमचन्द का मानवतावादी अहिंसावादी दृष्टिकोण 1932-36 तक यथावत् बना रहा। उनमें जहाँ एक ओर गांधीवादी संस्कार मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर विशेषकर अन्तिम दिनों में साम्यवादी संस्कार भी परिलक्षित होते हैं। इन दोनों विचारों का अपूर्व सम्मिश्रण ‘महाजनी सभ्यता’ शीर्षक लेख में देखा जा सकता है। इस लेख के विचार प्रेमचन्द की जीवन-साधना से प्रतिफलित हैं। उसमें न कोई असंगति है और न कोई परिवर्तन। यदि उन्हें अपने आदर्शों का मूर्त रूप सोवियत रूस में दिखाई दिया तो उन्होंने उसकी एक ईमानदार मानव के नाते प्रशंसा की तथा उस संस्कृति के विरोधियों पर तीव्र प्रहार भी किए।

प्रेमचन्द जी की गांधी जी से कभी भेंट नहीं हो सकी, यद्यपि वे उनसे मिलने के लिए तरसते रहे। गांधी और प्रेमचन्द का युग एक था। गांधी राजनीति में भारत का नेतृत्व कर रहे थे तो प्रेमचन्द साहित्य में। प्रेमचन्द के साहित्य का भी मुख्य उद्देश्य वही था जो गांधीजी का था स्वतन्त्रता-प्राप्ति। ‘विशाल भारत’

(सन् 1930) में प्रेमचन्द लिखते हैं

“मेरी अभिलाषाएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का उत्सुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविस नहीं है। हाँ, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्चकोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ, लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता-प्राप्ति ही हो।”⁴

गांधी के मनुष्य से किसी का विरोध नहीं। वे महान व्यक्ति थे। गांधी जी में पाये जानेवाले अनेक गुण प्रेमचन्द में भी विद्यमान थे, यथा सादगी, धन के प्रति विरक्ति, अहिंसा-प्रेम, सत्यवादिता, श्रम-प्रेम आदि। प्रेमचन्द जी गांधी जी को महामानव मानते थे; पर, गांधी से प्रभावित होकर प्रेमचन्द जी ऐसे बने, यह बात नहीं है। गांधी जी यदि उत्पन्न न भी हुए होते तो भी प्रेमचन्द जो थे, वही रहते। अन्य सामान्य बातों में यदि कहीं साम्य पाया जाता है तो वह उद्देश्य की एकता के कारण ही। गांधी जी भी स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थे और प्रेमचन्द भी। समान उद्देश्य वालों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम और साम्य पाया जाना स्वाभाविक है। लेकिन उद्देश्य एक होते हुए भी उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधनों में, विधियों में अन्तर हो सकता है। और यहीं प्रेमचन्द जी और गांधी जी में अन्तर उपस्थित हो जाता है। सुधारवादी प्रेमचन्द क्रांतिकारी प्रेमचन्द तो बन गए, पर गांधी जी अन्त तक सुधारवादी ही बने रहे। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि जहाँ प्रेमचन्द सुधारवादी हैं, वहाँ गांधीवाद के निकट हैं और जहाँ क्रांतिकारी हैं, वहीं साम्यवाद के। पर, प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन वास्तविक अनुभव से आया। प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही व्यावहारिक आदर्शवाद के समर्थक थे, यह बताया जा चुका है। गांधी जी के प्रयोगों पर उन्हें आदर्शवादी होने के कारण आस्था थी, पर यह आस्था अंधी नहीं थी। प्रेमचन्द ने जब प्रत्यक्ष अनुभवों से यह देखा कि गांधी जी के तौर-तरीके व्यावहारिक हैं तो उनका उनसे मतभेद हो गया। 7 अगस्त, 1933 के ‘जागरण’ की सम्पादकीय टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट लिखा

“वैयक्तिक सत्याग्रह का कार्यक्रम राष्ट्र को स्वीकार नहीं है। सम्भव है, उसे पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सके, तो राष्ट्र को उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो सके, पर यह तो उसी तरह है कि रोगी की देह में रक्त बढ़ जाए तो वह अवश्य अच्छा हो जाएगा। किसी काम की सफलता के लिए असम्भव शर्त लगा देने से हम सिद्धि के निकट नहीं पहुँचते। किसी प्रोग्राम को उसकी व्यावहारिकता के

आधार पर ही जाँचना उचित है। जिस दिन ऐसे आदमी बड़ी संख्या में निकल आयेंगे, जो अपना सर्वस्व राज्य के लिए त्यागने को तैयार हो जाएँ, उस दिन तो आप-ही-आप स्वराज्य हो जायगा। लेकिन ऐसा समय कभी आएगा, इसमें सन्देह है। ऐसी दशा में सत्याग्रही नीति से हमें अपने उद्देश्य की प्राप्ति की आशा नहीं।”⁵

आगे चलकर वे गांधीवाद की अब्यावहारिता के आलोचक बन गए। ‘जागरण’ 16 अप्रैल, 1934 के अंक की सम्पादकीय टिप्पणी में वे लिखते हैं

“अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज़ को भीतर की आवाज़ कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके ग़लत होने की सम्भावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज़ नहीं है, क्योंकि उसने एक से ज़्यादा अवसरों पर ग़लती की है।”⁶

‘आत्मा की आवाज़’ पर से उनका विश्वास जाता रहा। ‘मंगलसूत्र’ में प्रेमचन्द लिखते हैं

“सन्तकुमार ने निस्संकोच भाव से कहा, “ज़रूरत सब कुछ सिखा देती है। स्वरक्षा प्रकृति का पहला नियम है। वह जायदाद, जो आपने बीस हज़ार में दे दी, आज दो लाख से कम की नहीं है।’

‘वह दो लाख की नहीं, दस लाख की हो। मेरे लिए वह आत्मा का बेचने का प्रश्न है। मैं थोड़े से रुपयों के लिए अपनी आत्मा नहीं बेच सकता।’

दोनों मित्रों ने एक-दूसरे की ओर देखा और मुस्कराये। कितनी पुरानी दलील है और कितनी लचर! आत्मा जैसी चीज़ है कहाँ? और जब सारा संसार धोखेधड़ी पर चल रहा है तो आत्मा कहाँ रही?...”⁷

इसी प्रकार तथाकथित प्रजातंत्र पर से भी उनका विश्वास उठ गया था। प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों से उनका कोई विरोध न था, वे तो उसकी व्यावहारिकता पर दृष्टि रखते थे। ‘गोदान’ में मिर्जा के मुख से प्रेमचन्द तथाकथित प्रजातंत्र के बारे में कहते हैं

“जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और ज़मींदारों का राज्य है, और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाज़ी ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं। रुपये के ज़ोर से उसके लिए सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं।”⁸

प्रेमचन्द कहते हैं, “मिर्जा साहब ने कुरान की आयतों से सिद्ध किया कि पुराने ज़माने के बादशाहों के आदर्श कितने ऊँचे थे। आज तो हम उसकी तरफ़ ताक भी नहीं सकते। हमारी आँखों में चकाचौंध आ जाएगी। बादशाह को ख़जाने की एक कौड़ी भी निजी खर्च में लाने का अधिकार न था। वह किताबें नक़ल

करके, कपड़े सीकर, लड़कों को पढ़ाकर अपना गुज़र करता था। मिर्ज़ा ने आदर्श महीपों की एक लम्बी सूची गिना दी। कहाँ तो वे प्रजा को पालनेवाले बादशाह, और कहाँ आजकल के मंत्री और मिनिस्टर, जिन्हें पाँच, छः, सात, आठ हज़ार महावार मिलना चाहिए। यह लूट है या डेमोक्रेसी ?”⁹

इसी लूट का उल्लेख करते हुए ‘मंगलसूत्र’ में प्रेमचन्द पं. देवकुमार के मुख से कहलाते हैं

“क्यों एक आदमी ज़िन्दगी-भर बड़ी-से-बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है।.. .. बुद्धि जवाब देती, यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधनों के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती, सबको समान अवसर कहाँ हैं ? बाज़ार लगा हुआ है। जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज़ ख़रीद सकता है। मगर ख़रीदेगा तो वही जिसके पास पैसा है। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सबका बराबर का अधिकार कैसे माना जाए ?”¹⁰

प्रेमचन्द की मानवता तथाकथित प्रजातंत्र अथवा प्रचलित प्रजातंत्र की पोषक नहीं थी। वे समाज से शोषित और शोषक के झगड़े को मिटा देना चाहते थे। शोषितों के प्रति प्रेमचन्द के हृदय में अपार श्रद्धा और प्रेम है। वस्तुतः वे शोषित जनता के ही लेखक थे। शोषक-समाज के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं है और यह विरोधाभास निभ भी नहीं सकता। प्रारम्भ से ही उनमें शोषितों के प्रति मानवीय संवेदना दृष्टिगोचर होती है। शोषक-समुदाय के कुकर्मों से उन्हें घृणा थी। उन्होंने लिखा

“निन्दा, क्रोध और घृणा यह सभी दुर्गुण हैं, लेकिन मानव-जीवन में से अगर इन दुर्गुणों को निकाल दीजिए तो संसार नरक हो जाएगा..... पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचंड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी। जीवन में जब घृणा का इतना महत्त्व है, तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। मानव-हृदय आदि से ही ‘सु’ और ‘कु’ का रंगस्थल है और साहित्य की सृष्टि ही इसलिए हुई कि संसार में जो ‘सु’ या ‘सुन्दर’ है, और इसलिए कल्याणकर है, उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और ‘कु’ या असुन्दर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। ‘कु’ और ‘सु’ का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है।”¹¹

लेकिन वे भावनाओं के प्रति ही घृणा का उद्रेक करते हैं, व्यक्तियों के प्रति नहीं

“इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचानाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया। हरेक टकापंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषीय भावनाओं के प्रति, जितनी भी घृणा फैलाई जाए वह थोड़ी है, केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम-धर्म के संचालक हमारे जैसे ही भाई हैं जैसे आलोचक महोदय के।”¹²

घृणा के सम्बन्ध में भी उनके विचार न शत-प्रतिशत गांधीवादी हैं और न साम्यवादी। प्रेमचन्द पाखंडियों, धूर्तों, अन्यायियों का पर्दाफाश अवश्य करते हैं, पर उनके विरुद्ध घृणा उत्पन्न नहीं करते। साम्यवादी अन्यायी के प्रति भी घृणा रखने की बात करते हैं। प्रेमचन्द भावनाओं और व्यक्ति में भेद करते हैं। डा. रामविलास शर्मा ‘प्रेमचन्द और उनका युग’ नाम पुस्तक में लिखते हैं, “प्रेमचन्द का मानववाद मनुष्य की तरफदारी करनेवाला मानववाद है। वह अमानुषीय भावनाओं को देखकर चुप नहीं रहता। प्रेमचन्द खुल्लमखुल्ला अपना उद्देश्य घोषित करते हैं कि ऐसी भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलाई जाए वह थोड़ी है। वह सोद्देश्य साहित्य के समर्थक हैं। ‘कला कला के लिए’ या निरुद्देश्य साहित्य से उन्हें बैर है। वह भावनाओं और व्यक्ति में भेद करते हैं, लेकिन स्वयं उनके उपन्यास अन्याय ही नहीं अन्यायी के प्रति घृणा करना सिखाते हैं। ज्ञानशंकर के चरित्र से कौन-सा पाठक क्रोध से विचलित नहीं हो उठता ? ज्ञानशंकर को अलग रखकर उसका क्रोध कब सूक्ष्म भावनाओं पर केन्द्रित होता है ? विचार-क्षेत्र में प्रेमचन्द अन्याय और अन्यायी में भेद करते हैं, इस तरह का भेद अस्वाभाविक है और साधारण प्रकृति के विरुद्ध है। असल में अपने उपन्यासों में वह अन्यायी और अत्याचारी से घृणा करना सिखाते हैं, जो उचित ही है।”¹³

उपर्युक्त तथ्य आंशिक सत्य ही हो सकता है। यह अवश्य है कि व्यक्ति को अलग रखकर सूक्ष्म भावनाओं पर पाठक का क्रोध केन्द्रित नहीं हो सकता, लेकिन यह तभी तक होता है जब तक वह व्यक्ति धृणित कर्म करता है। बाद में घृणा का भाव उस सूरत में कर्म तक ही सीमित रह जाता है; जब कि लेखक उस व्यक्ति में

साधु-प्रवृत्तियों का संचार कर देता है। ज्ञानशंकर के मामले में भी यही बात दिखाई देती है। ज्ञानशंकर में जब साधुता जागती है तब वह अपने पूर्वकृत नीच कर्मों के कारण स्वयं से घृणा करने लगता है और आत्मग्लानि से भरकर आत्महत्या कर लेता है। प्रेमचन्द ज्ञानशंकर के हृदय में प्रायश्चित के भावों का समावेश कर देते हैं। यदि व्यक्ति के प्रति ही घृणा का प्रचार करना प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा होता तो ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

जीवन के अन्तिम दिनों में वे साम्यवाद के प्रति आकर्षित हुए थे। इस आकर्षण का सूत्र क्या है ? 27 फरवरी 1933 के 'जागरण' की टिप्पणी में प्रेमचन्द लिखते हैं

“संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञान है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा। तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता।”¹⁴

यहाँ प्रेमचन्द का क्रांतिकारी रूप साम्यवाद के निकट है। साम्यवाद उनके समय में रूस में साकार हो उठा था। प्रेमचन्द का मानववादी मन यदि साम्यवाद की आदर्श समाज-व्यवस्था की ओर आकर्षित हुआ तो वह एक स्वाभाविक विकास-क्रम है। जिस तरह प्रारम्भ में प्रेमचन्द गांधीवाद की ओर आकर्षित हुए थे; कुछ उसी प्रकार का यह भी आकर्षण था। गांधीवाद में अव्यावहारिकता देखकर प्रेमचन्द साम्यवादी यथार्थता की ओर मुड़े थे। यदि साम्यवादी व्यवस्था या सिद्धान्तों में भी उनकी विचारणा-भावना के प्रतिकूल कोई बात दिखाई देती तो वे उसकी आलोचना अवश्य करते और बहुत सम्भव है उनका मानवतावाद आगे चलकर किसी नई विचारधारा को जन्म देता। लेकिन प्रेमचन्द इस मोड़ के अवसर पर ही हमसे विदा हो गए। इस अवधि में व्यक्त उनके विचारों का विश्लेषण करने से यही स्पष्ट होता है कि वे भारतीय आदर्शों। तथा अपने निजी जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर ही साम्यवाद का समर्थन करते हैं। साम्यवाद का अर्थ उनके लिए क्या था? साम्यवाद का विरोधी कौन हो सकता है ? प्रेमचन्द लिखते हैं

“साम्यवाद का विरोध वही तो करता है जो दूसरों से ज़्यादा सुख मोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर ही समझता है, जो अपने में कोई सुखाब का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है, उसे साम्यवाद से विरोध क्यों होने लगा ?”¹⁵

‘महाजनी सभ्यता’ शीर्षक लेख में प्रेमचन्द जी ने जहाँ एक ओर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ चित्र खींचा है तथा सोवियत रूस की समाज-व्यवस्था की प्रशंसा की है वहाँ दूसरी ओर जागीरदारी सभ्यता की अच्छाइयों का उल्लेख भी किया है तथा इस बात पर खेद प्रकट किया है कि दया और स्नेह, सच्चाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य एकदम ममता शून्य जड़-यंत्र बनकर रह गया है। प्रेमचन्द मानव को उसके मौलिक रूप में देखना चाहते हैं। उसमें जो विकृति आ गई है उसका मूल कारण धन-लिप्सा अथवा धन-संग्रह है, जिसे महाजनी सभ्यता ने बढ़ाया है। अतः वे इस महाजनी सभ्यता को मिटा देना चाहते हैं। सोवियत रूस ने महाजनवाद को समाप्त किया, अतः उस सभ्यता में उन्हें मानव-कल्याण के दर्शन हुए।

वर्तमान समाज-व्यवस्था की यथार्थ स्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ‘महाजनी सभ्यता’ शीर्षक लेख में लिखते हैं

“मनुष्य-समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने-खपनेवालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किए हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।”¹⁶

‘कर्मभूमि’ में भी एक स्थान पर प्रेमचन्द इस ओर लक्ष्य कर गये हैं। अमरकांत कहता है

“एक आदमी दस रुपये में गुज़र करता है, दूसरे को दस-हज़ार क्यों चाहिए ? यह धाँधली उसी वक्त तक चलेगी जब-तक जनता की आँखें बन्द हैं। क्षमा कीजिएगा, एक आदमी पंखे की हवा खाए और ख़सख़ाने में बैठे और दूसरा आदमी दोपहर की धूप में तपे, यह न न्याय है, न धर्म, यह धाँधली है।”¹⁷

‘मंगलसूत्र’ में साधु कुमार कहता है

“इतने ग़रीबों में धनी होना मुझे तो स्वार्थन्धता-सी लगती है। मुझे तो इस दशा में अपने ऊपर लज्जा आती है, जब देखता हूँ कि मेरे ही जैसे लोग ठोकरें खा रहे हैं। हम तो दोनों वक्त चुपड़ी रोटियाँ और दूध और सेब-सन्तरे उड़ाते हैं, मगर सौ में निन्यानबे आदमी तो ऐसे भी हैं जिन्हें इन पदार्थों के दर्शन भी नहीं होते। आख़िर हममें क्या सुखाब के पर लग गए हैं ?”¹⁸

और आगे चलकर ‘महाजनी सभ्यता’ शीर्षक लेख में वे रूसी संस्कृति और

समाज-व्यवस्था का स्वागत करते हैं

“परन्तु अब एक नई सभ्यता का सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, यह पतिततम प्राणी है, उसे राज्य-प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं।”¹⁹

इतना ही नहीं, सोवियत संघ के विरुद्ध झूठा प्रचार करनेवाले महाजनों और साम्राज्यवादियों की भी खबर लेना वे नहीं भूले हैं

“महाजन इस नई लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य, आज़ादी, यह इन सबकी घातक, गला घोट देने वाली बताई जा रही है। उस पर नए-नए लांछन लगाये जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें, तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रंगी जा रही है, कुत्सित से कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से, जो पैसेवालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उनके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है। पर सचाई है, जो उस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।”²⁰

आगे चलकर विस्तार से लिखते हुए प्रेमचन्द सोवियत समाज-व्यवस्था की वास्तविकता बड़े निर्भीक ढंग से उपस्थित करते हैं

“निःसन्देह, इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिए हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मज़दूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं कि अपने नफ़े के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे, अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराए। अगर इसकी स्वाधीनता ही स्वाधीनता है तो निस्सन्देह नई सभ्यता में स्वाधीनता नहीं, पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जन-साधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ़-सुथरे गाँव, मनोरंजन की और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ता और सद्यःसुलभ न्याय की प्राप्ति हो तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आज़ादी है वह दुनिया को किसी सभ्यतम

कहाने वाली जाति को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतंत्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तखोर जमात के दंभयम उपदेशों और अन्धविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है तो निस्सन्देह वहाँ इस स्वतंत्रता का अभाव है, पर धर्म-स्वातंत्र्य का अर्थ यदि लोकसेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीर ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता, बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है।....

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-साधारण को अपनी महत्त्वकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाए और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फायदा उठाए या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी रकम उड़ाए और मूँछों पर ताव देता फिरे।”²¹

प्रेमचन्द जानते थे कि कुछ लोग इस नई सभ्यता का इस आधार पर विरोध करेंगे कि वह विदेशी है, भारत की मिट्टी के अनुकूल नहीं। इस कुतर्क का भी उत्तर वे अपने इसी लेख में दे गये हैं

“यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मज़हब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है, यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई। बौद्ध-धर्म ने उत्तर-भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरु-दक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-छोटी बातों में अन्तर हो सकता है, पर मूल स्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव-जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति-भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे। उनकी आँखों में धूल झोंकेगे। पर जो सत्य है, एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।”²²

‘मंगलसूत्र’ में पं. देवकुमार के मुख से प्रेमचन्द कहलाते हैं

“नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा।”²³

यहाँ ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द अहिंसा-पथ से हट गए हैं। हिन्दी के कई अलोचकों ने इस आशय के विचार भी व्यक्त किए हैं। पर, यहाँ 'हथियार बाँधने' से अभिप्राय हिंसा से नहीं वरन् संघर्ष से ही लेना अधिक युक्तियुक्त होगा। लाक्षणिक अर्थ में यह संघर्ष अन्याय को चुपचाप सहन न करने के लिए है।

इस प्रकार प्रेमचन्द के विचारों में उत्तरोत्तर विकास होता रहा। प्रारम्भ का सुधारवादी दृष्टिकोण क्रांतिकारी विचारों के समाने ठहर न सका। उनका यह वैचारिक परिवर्तन उनके मानवतावाद के विकास का परिणाम है।

संदर्भ-संकेत

- 1 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 2 'जागरण', 5 सितम्बर, सन् 1932
- 3 'जागरण', 5 सितम्बर, सन् 1932
- 4 'विशाल भारत', सन् 1930
- 5 'जागरण', 7 अगस्त, सन् 1933
- 6 'जागरण', 16 अप्रैल, सन् 1934
- 7 'मंगलसूत्र', प्रेमचंद
- 8 'गोदान', प्रेमचंद
- 9 'गोदान', प्रेमचंद
- 10 'मंगलसूत्र', प्रेमचंद
- 11 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 12 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 13 'प्रेमचंद और उनका युग', डॉ. रामविलास शर्मा
- 14 'जागरण', 27 फरवरी, सन् 1933
- 15 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 16 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 17 'कर्मभूमि', प्रेमचंद
- 18 'मंगलसूत्र', प्रेमचंद
- 19 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 20 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 21 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 22 'महाजनी सभ्यता', हंस, सितम्बर 1936
- 23 'मंगलसूत्र', प्रेमचंद

उपन्यासकार प्रेमचंद

सर्वप्रथम 'समस्यामूलक' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। 'समस्या-प्रधान' और 'समस्यामूलक' शब्दों के शास्त्रीय अर्थ में अन्तर है; लेकिन विरोध नहीं। प्रस्तुत प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध प्रेमचन्द के उपन्यासों में उठाई गई समस्याओं से है, जिनके कारण प्रेमचंद के उपन्यास समस्यामूलक अथवा समस्याओं के उपन्यास बन जाते हैं। प्रेमचन्द-साहित्य के प्रमुख आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासों को समस्यामूलक या समस्या-प्रधान नहीं मानते। सामाजिक उपन्यास और व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास नामक दो कोटियों में वे उनके उपन्यासों की गणना करते हैं। मेरा इससे तात्त्विक मतभेद है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास सामाजिक हैं, पर उनकी सामाजिकता किसी-न-किसी समस्या पर ही आधारित है। प्रेमचन्द का कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है जिसमें किसी समस्या को उठाया न गया हो। वस्तुतः वे समस्यामूलक उपन्यासकार ही थे। यहाँ तक कि किसी-न-किसी उपन्यास में तो अनेक समस्याएँ प्रधान समस्या के साथ बराबर दौड़ती हैं और छोटी-छोटी समस्याओं की ओर तो लेखक का ध्यान सदैव ही बना रहता है। जहाँ भी अवसर मिला है, प्रेमचन्द इन समस्याओं को बिना छुए नहीं रहे हैं। मेरी धारणा है कि प्रेमचन्द के समस्त उपन्यासों का उद्देश्य केवल हिन्दुस्तान की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि समस्याओं को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत करना रहा है। समस्याओं का प्रश्न प्रधान है। शेष बातें समस्याओं को ही केन्द्र मानकर बढ़ती हैं और संकुचित होती हैं। समस्यामूलक उपन्यास में उपन्यासकार का लक्ष्य केवल समस्या को रखने और सुलझाने या ज्यों-की-त्यों छोड़ देने की ओर रहता है। उपन्यास के अन्य सामान्य तत्त्व उसकी रचना में बिखर जाते हैं। प्रेमचन्द के

उपन्यासों में हमें यही बात मिलती है। बिना इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखे प्रेमचन्द के उपन्यासों का शास्त्रीय अध्ययन करना असंगत होगा।

प्रेमचन्द पर कुछ आलोचकों ने 'प्रचारवादी' होने का आक्षेप लगाया है। यह आक्षेप बिना उनके मूल उद्देश्य को समझे किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध में साहित्य और प्रचार के सम्बन्ध में लिखा है

“जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवाह नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर वह क्योंकर मान लिया जाए कि जो उपन्यास किसी विचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यू गो का 'ला मिज़रेबुल', टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान हाते हुए भी उच्च कोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जाते रहे हैं।”¹

साहित्य और प्रचार के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के उपर्युक्त विचार इस बात की पुष्टि करते हैं कि उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय जन-जीवन की समस्याओं को, विचार-प्रधान उपन्यासों के माध्यम से, प्रस्तुत करना था। वे अपने युग की समस्याओं को समझते थे और उन्हीं को लेकर उपन्यास-क्षेत्र में आए। देश की विभिन्न समस्याओं पर वे अपने विचार स्वतंत्र लेखों में भी व्यक्त कर सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। विचारों का प्रचार एवं समस्याओं के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए किसी कलात्मक माध्यम की आवश्यकता होती है। प्रेमचन्द ने यह कलात्मक माध्यम कथा-साहित्य चुना। यह बहुत कुछ लेखक की अपनी व्यक्तिगत रुचि और विषय-वस्तु पर निर्भर करता है। प्रेमचन्द कलावादी नहीं थे। औपन्यासिक कला को उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने का साधन

बनाया था; साध्य नहीं। वे किसी भी रचना में कलात्मक आवरण मात्र इस सीमा तक अनिवार्य मानते थे कि उसके अभाव में वह रचना नीरस और प्रभावशून्य न हो जाय। अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में वे आगे चलकर लिखते हैं

“उपन्यासकार को इतना प्रयत्न करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों। उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, अन्यथा, उपन्यास नीरस हो जाएगा।”²

उपन्यास-कला के व्याख्याकार के रूप में प्रेमचन्द की उपर्युक्त मान्यता थी। किसी सीमा तक वे इसमें सफल भी हुए हैं। लेकिन उपन्यासकार प्रेमचन्द अपनी स्वयं की मान्यताओं को जगह-जगह छोड़ जाते हैं और सीधे भाषाणकर्ता के रूप में आ उपस्थित होते हैं। उनके उपन्यासों में ऐसे स्थल अनेक हैं। उन्हीं स्थलों के आधार पर कुछ आलोचक उन पर प्रचारवादी होने का आरोप लगाते हैं। मूल प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द ऐसा क्यों करते हैं ? उपन्यास-कला की व्याख्या करते हुए जिस तथ्य का उन्होंने विरोध किया है, उसे वे उपन्यास लिखते समय क्यों दृष्टि से ओझल कर जाते हैं ? उपन्यास-कला पर उनके जो विचार लेखबद्ध हैं वे पूर्णतः उनके उपन्यास-साहित्य में क्यों नहीं मिलते ? इसका एकमात्र उत्तर है उनका समस्याओं के प्रति प्रेम। सामान्य औपन्यासिक कला-सम्बन्धी जितने दोष प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलते हैं, उसका कारण बहुत कुछ उनका समस्याओं के प्रति गहरा आकर्षण है। वे सभी तत्त्वों को पीछे छोड़कर समस्याओं के ताने-बाने में उलझ जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनके उपन्यासों को केवल सामाजिक उपन्यास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उनकी सामाजिकता समस्याओं के साथ है। कड़ी आलोचनाओं और आक्षेपों के बावजूद प्रेमचन्द ने यह मार्ग नहीं छोड़ा था। अतः उनके उपन्यास समस्यामूलक हैं। वे उपन्यास की पुरानी परम्परागत शास्त्रीय सीमाओं में नहीं बँध पाते।

दूसरे, कुछ आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासों को व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बताते हैं। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द का एक-आध उपन्यास चरित्र-प्रधान है; लेकिन इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी प्रेमचन्द के समस्यामूलक उपन्यासकार होने में कोई रुकावट नहीं आती। किसी भी लेखक के साहित्य का मूल्यांकन उसकी केवल एक-आध रचना के आधार पर नहीं किया जा सकता। चरित्रांकन के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द की स्वयं की मान्यताओं में विरोध मिलेगा। 'उपन्यास' नामक निबन्ध के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं

“मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।”³

प्रेमचन्द के अधिकांश आलोचकों के लिए उपर्युक्त वाक्य ‘वेद-वाक्य’ हो गए हैं। वे प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन पूर्वाग्रह पर करते हैं। माना कि प्रेमचन्द ने औपन्यासिक रचनातंत्र में चरित्रांकन को प्रधानता दी है, पर यह कोई पूर्व निश्चित शर्त नहीं कि वह तथ्य उनके उपन्यासों में भी प्रधान हो। व्यक्ति-चरित्र की सूक्ष्मता प्रेमचन्द के उपन्यासों में है; किन्तु इसी आधार पर उनके उपन्यासों को चरित्र-प्रधान नहीं ठहराया जा सकता। समस्याओं में उलझे हुए पात्रों का चित्रण कुशलता के साथ होना ही चाहिए। प्रश्न यह है कि क्या पात्र समस्या-तत्त्व की प्रधानता को दबा देते हैं एवं प्रेमचंद अपनी कला का सर्वोत्कृष्ट तथा अधिकाधिक उपयोग केवल पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में ही करते हैं ? उनके आगे के उपन्यासकारों में अवश्य यह प्रवृत्ति पाई जाती है, पर प्रेमचन्द के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका कारण केवल इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कि प्रेमचन्द के सम्मुख मात्र एक उद्देश्य था कि उपन्यास के माध्यम से भारतीय जीवन में परिवर्तन लाया जाय। वे अपने को ‘कलम का मज़दूर’ कहते थे और वही कार्य जो महात्मा गांधी अपनी सक्रिय राजनीति से कर रहे थे, प्रेमचन्द अपनी लेखनी से पूरा करना चाहते थे। प्रत्येक असाधारण प्रतिभा में पात्रों के मनोभावों की तह तक पहुँचने की एक अलौकिक क्षमता होती है और वह प्रेमचन्द में भी थी।

प्रेमचन्द पहले समस्याओं को महत्त्व देते हैं और बाद में चरित्रांकन को। इस बात की पुष्टि उनके विरोधी आलोचकों के आक्षेपों से भी होती है। उनके कथनानुसार प्रेमचन्द का चरित्रांकन बड़ा दुर्बल है। उनके पात्र स्थान-स्थान पर लेखक की इच्छानुसार कठपुतली की तरह नाचने लगते हैं। यहाँ तक कि प्रेमचन्द उनके स्वभावों में भी एकाएक परिवर्तन कर देते हैं। अतः उनके चरित्रों में मानव मनोविज्ञान की दृष्टि से दोष आ गया है। मनुष्य का मन इतना सरल नहीं होता, जो बड़ी सुगमता से अपनी इच्छानुसार मोड़ा जा सके। विशेष परिस्थितियों में अथवा एक लम्बा समय निकल जाने के बाद ही चरित्र-परिवर्तन कभी-कभी सम्भव हो सकता है। निस्संदेह प्रेमचन्द के पात्र कहीं-कहीं निर्जीव हो गए हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द की महनता चरित्रांकन में दृष्टिगोचर नहीं हाती, भले ही कुछ श्रद्धालु आलोचक उनकी मान्यताओं के अनुसार उनके उपन्यासों को मानव-चरित्र

का दर्पण समझें। कहीं-कहीं कहानियों में चरित्रांकन की कसौटी पर वे अवश्य खरे उतरे हैं, पर उपन्यासों में नहीं। उनके उपन्यासों को व्यक्ति चरित्र के उपन्यास कहना उनके महत्त्व को कम करना है।

वास्तव में उनके मानस-पट पर भारतीय जनता की समस्याओं का ऐसा जाल बिछा हुआ था कि वे उससे किसी भी दशा में मुक्ति न पा सके और न पाना ही चाहते थे। समस्याओं को यथासम्भव औपन्यासिक कला के भीतर रखने और उन्हें सुलझाने में वे प्रायः पात्रों को अपनी इच्छानुसार मोड़ लेते हैं। यही कारण है कि कुछ आलोचक उनके पात्रों को कठपुतली-पात्र की संज्ञा देते हैं। प्रेमचन्द तुलसीदास की तरह लोक-हितवादी थे। उनका साध्य चरित्रांकन मात्र नहीं था। यदि होता, तो यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके पात्र किसी भी प्रकार हलके नहीं ठहरते; क्योंकि उनमें एक असाधारण प्रतिभा थी, जो उस दिशा में भी अपना प्रभाव निश्चय ही दिखाती।

अतः प्रेमचन्द के उपन्यासों का वैज्ञानिक मूल्यांकन उनके चरित्रांकन को या उनकी समाजिकता को प्रधानता देकर नहीं हो सकता। हमें इनके भी मूल में जाना होगा। और वह है उनका समस्यामूलक रूप। इसी क्षेत्र में उनका गौरव निहित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में यह खोजने का प्रयत्न किया गया है कि प्रेमचन्द के समय में देश की जो अवस्था थी उसके अनुरूप उन्होंने किस प्रकार अपने उपन्यासों को गढ़ा। वे कौन-कौन-सी समस्याएँ थीं जिन्हें प्रेमचन्द हल करना चाहते थे, उनकी ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे। उन समस्याओं के प्रति प्रेमचन्द के अपने क्या विचार थे और इस प्रकार प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार के रूप में कहाँ तक सफल रहे।

(2)

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में केवल समस्याएँ ही प्रस्तुत नहीं करते वरन् उनका हल भी प्रस्तुत करते हैं। पर, यह आवश्यक नहीं कि उन्होंने सदैव हल सुझाया हो। डा. विनयमोहन शर्मा के शब्दों में :

“वे समाज-व्यवस्था पर एक हाथ से प्रहार करते और दूसरे हाथ से उसको सहलाते थे। समाज की बुराइयों को प्रस्तुत करना ही वे अपना धर्म न मानते थे, प्रत्युत उनका हल खोजना भी वे आवश्यक समझते थे।”⁴

प्रेमचन्द के उपन्यासों के मूल्यांकन की यह दूसरी कसौटी है। इस आधार पर उन्हें समस्यामूलक उपन्यासकार मानकर चला जाता है, जहाँ प्रमुख तत्व समस्याओं को रखना व उनका हल प्रस्तुत करना रहता है। उपन्यास के अन्य तत्व गौण रूप में आते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासकार आदर्शवादी या यथार्थवादी होते हैं या जैसे कि प्रेमचन्द थे आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी हो सकते हैं। वस्तुतः समस्यामूलक उपन्यासकार को यथार्थवादी अथवा आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी ही होना चाहिए। आदर्शवादी समस्याओं का कोई व्यावहारिक हल प्रस्तुत कर सकेगा, यह विश्वसनीय कम है। समस्यामूलक उपन्यासकार की सफलता उसके व्यावहारिक दृष्टिकोण पर ही निर्भर करती है।

प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कोई-न-कोई प्रमुख समस्या मिलती है। प्रमुख समस्या के साथ-साथ अन्य समस्याओं की झलक भी प्रायः प्रत्येक उपन्यास में विद्यमान है।

वरदान

‘वरदान’ प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृति है। इसका रचनाकाल 1902 है, यद्यपि प्रकाशन ‘सेवासदन’ (1916) के बाद हुआ। ‘वरदान’ के पूर्व प्रेमचन्द ने एक छोटा-सा उपन्यास ‘कृष्णा’ लिखा जो इण्डियन प्रेस, प्रयाग से छपा था। यह उनके विद्यार्थी-जीवन की रचना है।

‘वरदान’ यद्यपि 1902 में लिखा गया था, लेकिन ‘सेवासदन’ के बाद प्रकाशित होने के कारण उसकी प्रारम्भिकता अछूती नहीं ही रह सकी होगी। कृति में आधारभूत परिवर्तन तो, निश्चय ही, नहीं किये जाते, लेकिन इतने समय के अन्तराल के कारण उस पर एक अनुभवी लेखक का हाथ तो अवश्य चला होगा। यह सब होते हुए भी, यह भी मानना पड़ेगा कि इस कार्य में प्रेमचन्द ने कोई विशेष रुचि नहीं ली होगी ; क्योंकि इसमें अनेक साधारण भूलें रह गई हैं। यथा इलाहाबाद में ट्रामें चलवाना अथवा थानेदार का एक ही रस्सी से सारे गाँव को बँधवा देना आदि।

प्रश्न यह है कि क्या ‘वरदान’ समस्यामूलक उपन्यास है ? यदि हाँ, तो उसमें कौन-सी समस्या प्रमुख है एवं गौण रूप में कौन-कौन-सी समस्याओं का

उसमें प्रवेश हुआ है ?

कहना न होगा कि 'वरदान' न तो समस्यामूलक उपन्यास है और न उसमें किसी प्रमुख समस्या का ही समावेश किया गया है। वास्तव में 'वरदान' कथानक-प्रधान उपन्यास है, लेकिन कथानक की दृष्टि से भी वह सफल नहीं है। उसमें घटनाओं का घटाटोप मिलता है। कथा-वस्तु न सजीव है और न सुव्यवस्थित। इसका कारण प्रेमचन्द का समस्या-प्रेम है। 'वरदान' में बीज रूप में प्रेमचन्द का समस्याओं के प्रति रुझान स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। समस्याओं के प्रति यह रुझान ही 'वरदान' को न तो कथानक की दृष्टि से और न चरित्रांकन की दृष्टि से सफल उपन्यास बनने देता है। इसी कारण कुछ आलोचकों को 'वरदान' बिलकुल हवा में उड़ता हुआ दीखता है।⁵

डा. रामरतन भटनागर 'प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन' में लिखते हैं, "कथा-संगठन और चरित्र-चित्रण दोनों दृष्टि से 'वरदान' असफल उपन्यास ही कहा जाएगा। जिस प्रकार की प्रेम-कहानियों की धूम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में थी, उनसे यह उपन्यास ज़रा भी भिन्न नहीं है। कथा-संगठन शिथिल है और उसमें कलात्मकता को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। स्वयं कथा इतनी लम्बी है कि पाठक ऊब जाते हैं। न कथा-रस का विकास ही सम्भव है, न चरित्र-चित्रण का।"⁶

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की प्रेम-कहानियों से डा. रामरतन भटनागर 'वरदान' की समता बताते हैं और आगे चलकर उसके कथा-शैथिल्य और पाठक के ऊब जाने की बात कहते हैं। यहाँ आलोचक स्वयं अपने मत का खण्डन कर देते हैं और उन प्रेम-कहानियों का 'वरदान' से अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। उपर्युक्त काल की प्रेम-कहानियाँ पाठक को उबाती नहीं हैं, जबकि 'वरदान' के कथानक में यह कमज़ोरी है। वास्तव में प्रेमचन्द उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के उपरिलिखित काल जैसी प्रेम-कहानियाँ लिखना नहीं चाहते थे। 'वरदान' में तो वे उस परम्परा को तोड़कर एकदम नये क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, जिसके कारण 'वरदान' का कोई रूप स्थिर न हो सका है।

'कथाकार प्रेमचन्द' में श्री मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्र वर्मा लिखते हैं, "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरजन का चरित्र बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ है। उसमें कोई सिर-पैर है ही नहीं। प्रताप का चरित्र बहुत कुछ निभा है पर अन्त में जाकर

वह भी बिगड़ जाता है।” जब कथावस्तु की दृष्टि से ही ‘वादान’ असफल कृति ठहरती है, तब चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में उसमें कोई महत्वपूर्ण बात खोजना दुराशा मात्र है।

‘वरदान मध्यवर्गीय जीवन से सम्बन्ध रखता है। शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के ‘देवदास’ की कथा ‘वरदान’ से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। मन्मथनाथ गुप्त उपर्युक्त दोनों उपन्यासों के विषय-साम्य पर लिखते हैं, “ एक युवक का एक युवती से प्रेम होता है। किसी कारण से, सामाजिक कारण से दोनों का विवाह नहीं हो पाता। लड़की का विवाह दूसरे व्यक्ति से हो जाता है। इसके बाद क्या जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं, यही इन दोनों पुस्तकों में दिखलाया गया है।”⁸

सामाजिक बाधाओं के कारण प्रताप और विरजन का प्रेम वैवाहिक बन्धनों में नहीं बँध पाता। प्रताप संन्यासी हो जाता है और विरजन दुश्चरित्र युवक कमलाशंकर से ब्याह दी जाती है।

यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से वैवाहिक समस्या सामने आ जाती है। डा. रामरतन भटनागर शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के ‘देवदास’ से तुलना करते समय इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं, “शरत्चन्द्र के देवदास और अन्य उपन्यासों में असफल प्रेम नायक को आवारा और आत्मघाती बना देता है। प्रेमचन्द ने असफल प्रेम का समाज-सेवा और राजनीति निष्ठा में पर्यवसान किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है, परन्तु समाज-हित की दृष्टि से समस्या का प्रेमचन्द द्वारा उपस्थित किया हल अधिक स्वस्थ है।”⁹

इस कृति में वैवाहिक समस्या की ओर प्रेमचन्द पाठकों का ध्यान उपन्यास-कला की हत्या करके भी आकर्षित करना चाहते हैं :

“मुंशीजी के अगणित बांधव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।”¹⁰ और आगे चलकर जब विरजन विधवा हो जाती है तब प्रेमचन्द की आँखों के सामने वैधव्य की समस्या नाचने लगती है। कथानक और चरित्र-चित्रण की ओर तो वे ध्यान ही नहीं देते।

इसके अतिरिक्त उन्नीस पृष्ठों में ‘कमला के नाम विरजन के पत्र’ नामक परिच्छेद का उद्देश्य समझने पर यह बात और स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द ने इन पत्रों का विषय व्यक्तिगत जीवन नहीं रखा है। पति-पत्नी के पत्र-व्यवहार का कोई रूप उसमें नहीं मिलता। इसके विपरीत उन पत्रों में ग्रामीण जीवन की समस्याएँ

बड़ी प्रमुखता से वर्णित की गई हैं। समस्याओं के प्रति प्रेमचन्द का रुझान प्रारम्भ से ही था, यह इन पत्रों की विषय-सामग्री से भली-भाँति समझा जा सका है। यही रुझान 'वरदान' में प्रेमचन्द को 'तीसरे दर्जे का उपन्यासकार' बनाता है।

शैक्षणिक पहलू पर भी 'वरदान' में यत्र-तत्र महत्वपूर्ण बातें बिखरी हुई हैं।

प्रतिज्ञा

प्रतिज्ञा का प्रकाशन 1905-6 में हुआ। 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमा' (1904-5) का परिवर्द्धित रूप है, जिसका उर्दू में 'हम खुरमा व हमसबाब' नाम से पहले प्रकाशन हो चुका था। 'प्रेमा' का नाम आगे चलकर 'विभव' रखा गया, जिसमें कुछ परिवर्तन भी किये गये। यही उपन्यास परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के पश्चात् 'प्रतिज्ञा' के नाम से प्रकाशित हुआ; जिसका उर्दू-अनुवाद 'बेवा' के नाम से हुआ है।

'प्रतिज्ञा' में विधवाओं, पति-पत्नी के पारिवारिक सम्बन्धों और अछूतों की समस्या पर लिखा गया है।

प्रेमचन्द का दूसरा विवाह श्रीमती शिवरानी देवी से 1905 में हुआ। सामाजिक दृष्टिकोण से इसे विधवा-विवाह ही कहा जाएगा ; भले ही शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उसे 'विधवा-विवाह' की संज्ञा न दी जाए। शिवरानी देवी अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : घर में' लिखती हैं, "मेरी पहली शादी ग्यारहवें साल में हुई थी। वह शादी कब हुई, इसकी मुझे खबर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे खबर नहीं। विवाह के तीन-चार महीने बाद ही विधवा हुई। इसलिए मुझे विधवा कहना मेरे साथ अन्याय होगा ; क्योंकि जो बात मैं जानती ही नहीं, वह मेरे माथे मढ़ना ठीक नहीं।"¹¹

प्रथम विवाह के बारे में प्रेमचन्द और शिवरानी देवी का संवाद इस प्रकार है : "फिर मेरी स्त्री की विदाई का समय आया। कई रोज का अरसा हो गया था। ऊँटगाड़ी से लाना पड़ा। जब हम ऊँटगाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़कर चलना शुरू किया। मैं उसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर में वह मुझसे ज्यादा ही थी। जब मैंने उसकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।"¹²

"वह बदसूरत तो थी ही। उसके साथ-साथ जबान की भी मीठी न थी। यह

इन्सान को और भी दूर कर देता है।”¹³

“मैंने उनको उनके घर पहुँचा दिया और खुद अपने यहाँ रह गया।”¹⁴

“मेरी बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीवी बहुत बदनूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली। यह शादी मेरी चाची के पिता ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले लालाजी ने मरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। अफ़सोस ! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री ! मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। चाची ने कहा, देखा जायेगा।...

चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थीं।... अगर बीच में चाची न होती तो शायद मेरी-उसकी ज़िन्दगी बीत भी जाती।”¹⁵ यह घटना 1904 की है। अभिप्राय यह है कि इन दिनों प्रेमचन्द का जीवन वैवाहिक गुत्थियों में उलझा हुआ था। पहली पत्नी से न पटने के कारण उसे अकाल ‘वैधव्य’ के भँवर में छोड़कर प्रेमचन्द अपने भावी जीवन को सुचारु ढंग से चलाने के लिए दूसरे विवाह का आयोजन करते हैं। इस मनःस्थिति में विधवा की समस्या सबसे प्रखर रूप में उनके सामने थी। वास्तव में, विधवा-विवाह विधवाओं की समस्या के हल की दिशा में एक प्रभावशाली कदम है। प्रेमचन्द क्योंकि ‘विधुर’ दशा में थे, उन्होंने विधवा-विवाह का निश्चय किया और आगे चलकर बाल-विधवा सुश्री शिवरानी देवी से विवाह कर लिया; जो सामाजिक दृष्टिकोण से तत्कालीन समाज में एक क्रांतिकारी घटना थी। पहली पत्नी के मायके वे मासिक रुपया भेजते रहे।

व्यक्तिगत और समाजगत जीवन में विधवा-समस्या का सामना प्रेमचन्द को करना पड़ा। इसी समस्या को उन्होंने ‘प्रतिज्ञा’ में लिया। विधवा-समस्या ही प्रतिज्ञा की प्रमुख समस्या है; यद्यपि इसमें दाम्पत्य जीवन के अनेक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अछूतों की समस्या को भी प्रस्तुत उपन्यास में स्थान दिया गया है, यद्यपि कथा-विकास की दृष्टि से उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। ‘सनातन धर्म पर आघात’ विषय पर दाननाथ का भाषण अछूतों के सम्बन्ध में ही है।

प्रेमचन्द ने ‘प्रतिज्ञा’ में विधवा-समस्या को शरत्चन्द की तरह मात्र प्रस्तुत ही नहीं किया है वरन् उसके निराकरण के लिए उपाय भी प्रस्तुत किये हैं। सामाजिक सुधार की भावना प्रेमचन्द में सबसे अधिक थी। ‘प्रतिज्ञा’ की समीक्षा निश्चित औपन्यासिक रचना-तन्त्र के सिद्धान्तों पर नहीं की जा सकती। उसमें विधवाओं के उद्धार की समस्या इतनी प्रधान है कि चरित्रांकन, वस्तु-विन्यास

इत्यादि सभी उसी के आश्रित होकर आते हैं।

सेवासदन

‘सेवासदन’ का रचनाकाल सन् 1916 है। यह उपन्यास प्रेमचन्द की प्रौढ़ रचनाओं में से है। ‘सेवासदन’ समस्यामूलक उपन्यास है, जिसमें नारी-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित किया गया है, यथा, भारतीय नारी की पराधीनता, दहेज-प्रथा, वेश्या-समाज आदि। नारी-जीवन सम्बन्धी प्रधान समस्या के अतिरिक्त अन्य पहलुओं पर भी ‘सेवासदन’ में प्रेमचन्द ने विचार किया है, जैसे नागरिक-जीवन, किसान आदि।

सुमन ‘सेवासदन’ की नायिका है। सम्पूर्ण उपन्यास उसी के चरित्र की ओर घूमता है, मुड़ता है। लेकिन ‘सेवासदन’ में समस्या को प्रधानता दी गई है, चरित्रांकन को नहीं। इसी कारण प्रेमचन्द सुमन की मानसिक स्थिति का विश्लेषण नहीं करते। सुमन के चरित्र का अन्दर्द्वन्द्व प्रेमचन्द छोड़ जाते हैं, क्योंकि उनका अभीष्ट भारतीय नारी की पराधीनता-जनित विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन करना था; न कि व्यक्ति-चरित्र का चित्रण। सुमन का व्यक्तित्व इसी लिए दबा रहता है। वह भारतीय नारी-वर्ग की प्रतीक बनकर उपन्यास में प्रवेश करती है।

‘सेवासदन’ की समीक्षा करते हुए श्री. मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं, “इस उपन्यास का सबसे कमजोर, शिथिल और असम्बद्ध हिस्सा वह है जिसमें म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों की तथा अन्य सार्वजनिक वक्ताओं की तथा उनकी तर्कों की बात चित्रित है। यह हिस्सा बहुत कुछ उखड़ता हुआ तथा मुख्य कथानक से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होता।”¹⁶

इस विषय पर पं. नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी ‘प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन’ नामक पुस्तक में लिखते हैं :

“म्युनिसिपैलिटी की कार्रवाइयाँ, उनकी बहसों और प्रस्ताव आदि सुमन की मुख्य कथा से अच्छी तरह ग्रथित नहीं हैं, यद्यपि वे उपन्यास में आई हुई वेश्या-सुधार की समस्या से सम्बन्धित अवश्य हैं। यदि म्युनिसिपैलिटी के ये सारे वृत्तान्त सुमन की कहानी से और अधिक संश्लिष्ट सम्बन्ध रख पाते, तो उपन्यास की कथा अधिक समन्वित और अर्थपूर्ण होती।”¹⁷

यह प्रसंग 43 वें परिच्छेद का है। निःसन्देह औपन्यासिक रचना-तन्त्र की

दृष्टि से इसका समावेश कथानक के विकास में कोई योग नहीं देता। लेकिन प्रेमचन्द औपन्यासिकता के निश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के इनते कायल न थे। उपन्यास-कला तो उनके लिए समस्याओं के प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करने की साधन मात्र थी। यदि इस प्रसंग का समावेश नहीं किया जाता तो नगर-जीवन की समस्या पर प्रकाश नहीं पड़ पाता, दूसरे वेश्या-समाज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व म्युनिसिपैलिटी का है। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य यदि चरित्रवान और कर्मठ हों तो इस सामाजिक कुरीति को दूर करने में बहुत महत्वपूर्ण भाग ले सकते हैं। वेश्या-समस्या पर गम्भीर बहस को रखने में प्रेमचन्द का यही उद्देश्य समझना चाहिये।

इस प्रकार 31 वें परिच्छेद में उस साधु के भाषण का उद्देश्य भी यही है जो सदन में विवाह के अवसर पर आकस्मिक रूप से प्रवेश करता है।

‘सेवासदन’ का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि वह हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक समस्यामूलक उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में वह युगान्तर उपस्थित करता है।

प्रेमाश्रम

‘प्रेमाश्रम’ का प्रकाशन सन् 1922 में हुआ। प्रस्तुत उपन्यास में प्रमुख समस्या ‘भूमि-समस्या’ है। किसान और जमींदार के संघर्ष का चित्रण ही ‘प्रेमाश्रम’ का केन्द्र-बिन्दु है। वर्ग-संघर्ष को इतने यथार्थ रूप में उपस्थित करने वाला यह प्रथम उपन्यास है। ‘प्रेमाश्रम’ में जहाँ कहीं भी अन्य समस्याओं का उल्लेख है वह सब भूमि-व्यवस्था के उद्घाटन अथवा उसके जटिल रूप को सामने रखने के निमित्त है। ‘प्रेमाश्रम’ का राजनीतिक पहलू प्रधान नहीं है। डा. रामरतन भटनागर ने ‘प्रेमाश्रम’ को हिन्दी का ही नहीं वरन् भारत का पहला राजनीतिक उपन्यास कहा है।¹⁸ राजनीतिक स्वाधीनता भूमि-समस्या का आंशिक हल है। वस्तुतः भूमि-समस्या की नींव में समाज-व्यवस्था एवं आर्थिक पहलू ही प्रमुख है। प्रस्तुत उपन्यास की आत्मा (भूमि-समस्या) को न पहचानकर आलोचकों ने अन्य बातों को प्रधानता दे दी है। ‘प्रेमाश्रम’ में राजनीति का मात्र पृष्ठभूमि का स्थान है, क्योंकि बिना राजनीतिक चेतना के वर्ग-संघर्ष में तीव्रता नहीं आ सकती। तत्कालीन भारत की राजनीतिक चेतना की भूमिका में ‘प्रेमाश्रम’ का निर्माण किया

गया है, किन्तु उसकी रीढ़ तो भूमि-समस्या ही है। अतः 'प्रेमाश्रम' भी समस्यामूलक उपन्यास है। समस्या या समस्याओं को प्रधानता देने के कारण 'प्रेमाश्रम' का 'कला-पक्ष' कमजोर हो गया है। शास्त्रीय पद्धति को आलोचना का मापदण्ड मानने वाले आलोचकों को उसमें अनेक दोष दिखाई देंगे। श्री. शिवनारायण श्रीवास्तव “ 'प्रेमाश्रम' के पात्रों के संबंध में लिखते हैं, “ 'प्रेमाश्रम' के सभी पात्रों में हम देखते हैं कि उनके चरित्र पर नवीन घटनाओं की प्रतिक्रिया बहुत होती है। वे मानो बने-बनाए पात्र हैं जो अपनी इच्छा-शक्ति से घटनाओं का निर्माण तो करते चलते हैं, परन्तु उसमें बँधते नहीं।”¹⁹ डा. रामविलास शर्मा ने भी इस ओर संकेत किया है, 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के साधारण नियमों को तोड़कर रचा गया है। कौन है इसका नायक, कौन है इसकी नायिका ? जिन आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' में नायक न होने पर खेद प्रकट किया है, उनके कथानक की शिथिलता दिखलाकर प्रेमचन्द को घटिया कलाकार माना है, उसमें मनोविज्ञान की गहराई या तलछट न पाकर प्रेमचन्द को विश्व साहित्यकार के पद से वंचित कर दिया है, उन्हें प्रेमचन्द ने एक वाक्य में उत्तर दिया था “आज़ाद रौ आदमी हूँ, मसलेहत्तों का गुलाम नहीं”²⁰।

बड़े कलाकार अपने कायदे-कानून खुद बनाते हैं। प्रेमचन्द भी कायदे पढ़कर उपन्यास लिखने न बैठते थे। 'प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की ज़िन्दगी की तस्वीर खींचना चाहते थे। जिन्हें साहित्य के लक्षण-ग्रंथों में जगह न मिलती थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, प्रयोजन और उत्पत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।²¹

निःसन्देह, प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में शास्त्रीयता को कोई महत्त्व नहीं दिया है। पर, दूसरी ओर यह भी सच है कि उन्होंने कोई नये कायदे-कानून भी नहीं गढ़े। वे तो कथा के माध्यम से अपने समय की विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन करना चाहते थे। 'उपन्यास' उनका एक साधन था। लेकिन आकर्षक कथा के आवेश में आकर उन्होंने मूल समस्या को कहीं भी दृष्टिक्षेप नहीं किया। समस्या ही स्वयं में इतना आकर्षण उत्पन्न कर लेती है कि औपन्यासिक कला के अन्य तत्त्व आँखों से ओझल हो जाते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासकार होने के ही कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों में तथाकथित 'कला' के दर्शन नहीं होते।

‘प्रेमाश्रम’ में भूमि-समस्या के अतिरिक्त अन्य समस्याओं को भी सामने रखा गया है, लेकिन उनमें उल्लेखनीय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या ही है। हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष का कोई आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक कारण नहीं है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपना उल्लू सीधा करने के उद्देश्य से इस प्रश्न को जटिलतर बनाने के भरसक प्रयत्न किये। प्रेमचन्द ने ‘प्रेमाश्रम’ में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के मूल कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार ‘प्रेमाश्रम’ हिन्दी-साहित्य में तत्कालीन ज्वलन्त समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण लेकर हमारे सामने आता है।

निर्मला

‘निर्मला’ का रचनाकाल सन् 1923 और प्रकाशन-तिथि सन् 1927 है। ‘निर्मला’ एक छोटा उपन्यास है, किन्तु समस्या के उद्घाटन और प्रभाव की दृष्टि से प्रेमचन्द के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में से है। प्रेमचन्द का यह पहला दुखांत उपन्यास है।

कुछ आलोचकों ने ‘निर्मला’ को मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कोटि में रखा है, यद्यपि वे उसकी समस्यामूलकता को भी स्वीकार करते हैं। ‘निर्मला’ की समस्या प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से अधिक स्पष्ट है। डा. रामविलास शर्मा ने ‘निर्मला’ में मनोविज्ञान को प्रधानता देने वाले समीक्षकों के विचारों का विश्लेषण करते हुए लिखा है, “कल्याणी और सुधा जैसी नारियाँ हिन्दी उपन्यासों और नाटकों की उन तमाम महिलाओं से भिन्न हैं जो व्यभिचारी पति के चरणों को आँसुओं से तर कर देती हैं और उसके अन्याय का प्रतिकार करने की बात भी नहीं सोचतीं। वे विशेष रूप से शरत् बाबू की देवियों से भिन्न हैं जो अधिकतर अपने दुःख में घुट-घुटकर मरना पसन्द करती हैं; लेकिन समाज का खुला विरोध नहीं करतीं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में नए ढंग से नारी पात्रों को रच रहे थे जो अन्याय और दुःख सहती हैं ; लेकिन उनका विरोध भी करती हैं। यदि नारी घुट-घुटकर मरा करे और सामाजिक रुकावटों का विरोध न करे तो कुछ लोग इसे बहुत गम्भीर मनोविज्ञान समझते हैं। वास्तव में उससे उनके सामन्ती संस्कारों को सन्तोष होता है।”²²

‘निर्मला’ की प्रमुख समस्या नारी-समस्या है; जिसके निम्नलिखित चार पहलू

हैं दहेज-प्रथा, दोहाजू से विवाह अथवा वृद्ध-विवाह, विवाहित नारी की समस्या और विधवा-समस्या। इन सभी समस्याओं का केन्द्र दहेज-प्रथा अथवा आर्थिक व्यवस्था है, जिसका नारी की आर्थिक पराधीनता से भी गहरा सम्बन्ध है। सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बदले बिना वैवाहिक-समस्या सुलझ नहीं सकती। प्रेमचंद ने प्रस्तुत उपन्यास में 'सेवासदन' अथवा 'प्रेमाश्रम' की तरह समस्या का हल किसी आश्रम की व्यवस्था करके प्रस्तुत नहीं किया है। निर्मला मध्यवर्गीय हिन्दू समाज की प्रतिनिधि दलित नारी बनकर हमारे सामने आती है। अतः उसकी समस्या वैयक्तिक नहीं है और न पूर्व की भाँति उसका कोई वैयक्तिक हल ही प्रेमचन्द ने सुझाया है।

रंगभूमि

'रंगभूमि' का प्रकाशन सन् 1924-25 में हुआ। अन्य उपन्यासों की भाँति 'रंगभूमि' में भी अनेक समस्याएँ मिलेंगी। डा. रामरतन भटनागर ने जैसा लिखा है, "वास्तव में 'रंगभूमि' में स्वतन्त्रता-पूर्व भारत की सारी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याएँ आ जाती हैं। ऐसी विशद चित्रपटी भारतवर्ष के किसी उपन्यासकार ने ग्रहण नहीं की।"²³ 'रंगभूमि' का केनवस विशाल है, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन उसमें स्वाधीनता-पूर्व भारत की समस्त आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का समावेश है, इस बात में पर्याप्त अतिरंजना है। वास्तव में 'रंगभूमि' में दो समस्याएँ ही प्रधान हैं। एक तो औद्योगीकरण की समस्या और दूसरी भारतीय रियासतों की समस्या। 'रंगभूमि' में इन दो ही समस्याओं पर प्रेमचन्द की दृष्टि केन्द्रित है। 'रंगभूमि' का समस्त कथानक इन्हीं समस्याओं को आधार बनाकर खड़ा किया गया है।

शास्त्रीय पद्धति के आलोचकों को 'रंगभूमि' के कथानक तत्त्व में दुर्बलताएँ दिखाई देती हैं। पं. नन्ददुलारे वाजपेयी 'रंगभूमि की वस्तु-विवेचना करते हुए लिखते हैं

“छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर लम्बे-लम्बे अध्याय लिखे गए हैं जिससे कथा-वस्तु आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई है। समस्त मुख्य घटनाओं को लेकर प्रस्तुत आकार से आधे में सारा उपन्यास लिखा जा सकता था।”²⁴ 'प्रेमचन्द जी ने कथा-चयन करते हुए इस संयमशीलता को अपने ध्यान में नहीं

रक्खा। वे बहुत अनावश्यक रीति से ग्रामीण घटनाओं का वर्णन करते गए हैं।²⁵ लेकिन प्रेमचन्द के लिए ग्रामीण घटनाओं का वर्णन-विस्तार अनावश्यक नहीं था; वरन् वे तो उसे प्रमुख मानकर चले हैं। यदि इन स्थलों को उपन्यास में से निकाल दिया जाय तो उसकी समस्त गरिमा ही जाती रहेगी। प्रेमचन्द का मूल उद्देश्य तो यहीं अन्तर्निहित है।

‘रंगभूमि’ सन् 28 के आन्दोलन के पूर्व लिखा गया है; अतः उस पर गांधीवादी दर्शन की स्पष्ट छाप है। असहयोग के आदर्शों की छाया सर्वत्र मिलती है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने ‘रंगभूमि पर एक नई दृष्टि’ नामक परिच्छेद में एक नई खोज की है। ऐसी वस्तु की खोज जिससे स्वयं लेखक-प्रेमचन्द अनभिज्ञ थे। तर्क के आधार पर, श्री. मन्मथनाथ गुप्त के विचार स्पष्ट और मानने योग्य हैं, लेकिन उनसे ‘रंगभूमि’ का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता ; क्योंकि प्रेमचन्द की गांधीवाद पर आस्था भंग नहीं हुई थी। वे तो सच्चे हृदय से गांधीवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर रहे थे। प्रेमचन्द के वैचारिक मोड़ का आभास तो काफी आगे चलकर दिखाई देता है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द गांधीवादी दर्शन को ‘रंगभूमि’ में सफल ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सके और इस कारण श्रद्धा होते हुए भी, अनजाने में, अनेक असंगतियों को चित्रित कर गए हैं। सूरदास गांधी के समान अति मानवीय स्तर तक नहीं पहुँच सका है, पद्यपि वह उनके अत्यधिक निकट अवश्य है। उसे गांधी का लघु संस्करण मानने में तो कोई आपत्ति नहीं ही सकती। तो, कुछ अनजाने में हुई असंगतियों के आधार पर यदि कोई आलोचक ‘रंगभूमि’ में गांधीवादी दर्शन की पराजय बताता है तो उसकी बुद्धि की दाद तो दी जा सकती है, उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक स्पष्टता के सामने एक-दो सूक्ष्म बातें कोई अधिक महत्त्व नहीं रखतीं, कम-से-कम इतना तो नहीं ही रखतीं कि उपन्यास के आधार को ही उलटकर रख दें। श्री मन्मथनाथ गुप्त ‘कथाकार प्रेमचन्द’ में लिखते हैं, “जिस ज़मीन के लिए सारा झगड़ा था वह तो बची नहीं, यदि बचती तो हम कहते कि हाँ, आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया।” पर, प्रेमचन्दजी उपन्यास के अन्तिम अध्यायों में यह दिखलाते हैं कि सबके सब गाँव वाले बिखर गये हैं। कोई कहीं गया, कोई कहीं। नायकराम शहर का रास्ता लेता है, बजरंगी किसी अन्य गाँव में जाकर बसता है। भैरो कहीं और। मैं यह नहीं कहता कि हार हर क्षेत्र में बुरी चीज़ है। नहीं, जैसे कि फिड्रक एंगेल्स ने कहा है, “ज़ोर के साथ लड़ाई के बाद हार होती है, वह उतने ही महत्त्व का तथ्य है जितना

कि आसानी से प्राप्त जीत।” पर, पराजय के बाद यदि लड़ने वाले लोग थककर बैठ जायें तो अवश्य ही वह पराजय किसी प्रकार अच्छी चीज़ नहीं कही जा सकती। यहाँ पराजय का अर्थ यह है कि नए ढंग से कार्य करने के लिए स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति, वहाँ पराजय का अर्थ संग्राम के जीवन में एक नया पन्ना उलटना होता है, ऐसी पराजय पर हमें ग्लानि की आवश्यकता नहीं। ऐसी पराजय तो विजय की सूचक तथा उसकी कृष्णवर्ण अग्रदूती मात्र है। ऐसी पराजय होते हुए भी हम कह सकते हैं, नैतिक जीत हुई, नैतिक जीत माने कल्पना में जीत नहीं बल्कि नैतिक जीत माने ऐसी हार जो जीत की आशा देती है।”²⁶ उपर्युक्त तर्क का कोई खंडन नहीं है। ‘रंगभूमि’ की पराजय पाठक को, जनता को क्या संदेश देती है ? क्या वह उसको पस्तहिम्मत करती है ? क्या सूरदास का बलिदान आत्म-बल प्रदान नहीं करता ? इन प्रश्नों के उत्तर उपर्युक्त आलोचक की स्थापनाओं के विरुद्ध जाएंगे। अतः ‘रंगभूमि’ को प्रेमचन्द ने गांधीवाद का मखौल उड़ाने के लिए अथवा गांधीवाद की निरर्थकता प्रदर्शित करने के लिए नहीं लिखा है वरन् उस पर पूरी आस्था-श्रद्धा के साथ घटनाओं और चरित्रों को रंग-रूप दिया है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द का व्यक्तित्व गांधीवाद के नीचे दब नहीं गया है। गांधीवादी आदर्शवाद और प्रेमचन्दवादी वस्तुवाद दोनों समानान्तर दिखाई देते हैं। अतः ‘रंगभूमि’ को इसी दृष्टिकोण से परखना वैज्ञानिक होगा और हम लेखक के साथ भी इस प्रकार ठीक-ठीक न्याय कर सकेंगे।

कायाकल्प

प्रेमचन्द ने अगला उपन्यास ‘कायाकल्प’ सन् 1928 में लिखा। प्रस्तुत उपन्यास साधारण कोटि की कृति है। उसे एक सीमा तक प्रगति-विरोधी उपन्यास भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें आलौकिक बातों का समावेश बहुत है। लेकिन ‘कायाकल्प’ में केवल आलौकिकता अथवा चमत्कार ही नहीं है, उसमें कथा है एवं और भी पहलू हैं, जो अनेक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। माना कि घटना-बहुलता के कारण प्रेमचन्द इस उपन्यास में समस्याओं की विस्तार से व्याख्या नहीं कर सके हैं; फिर भी उनका समावेश अपना पूरा महत्त्व रखता है। ‘कायाकल्प’ में मोटे रूप में दो प्रकार की समस्याएँ पाई जाती हैं सामयिक और चिरंतन। चिरंतन समस्या का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है अतः उसका अस्तित्व

उपन्यास को तिलस्मी बना देता है। पूर्वजन्म पर प्रेमचन्द का विश्वास था, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर स्वीकार किया जाए अथवा नहीं, जैसा 'कायाकल्प' की कथा से विदित होता है, वह प्रेमचंद की पूर्वजन्म सम्बन्धी धारणाओं को व्यक्त करता ही है। इसे एक विरोधाभास कहा जा सकता है।

'कायाकल्प' का सबसे सबल भाग सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। ये समस्याएँ सामाजिक, राजनीतिक और सम्प्रदायिक क्षेत्रों की हैं। सामाजिक क्षेत्र में विवाह और प्रेम की समस्या प्रमुख है। राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं और जागीरदारों की संस्कृति की वास्तविकता का उद्घाटन मुख्य लक्ष्य है तथा साम्प्रदायिक क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम समस्या है। इन समस्याओं पर प्रेमचन्द के विचार प्रस्तुत उपन्यास में जगह-जगह बिखर हुए हैं। यदि प्रेमचन्द इसमें अलौकिक कथा का समावेश नहीं करते तो यह उपन्यास भी उत्कृष्ट कोटि का समस्या-प्रधान उपन्यास बन गया होता।

गबन

'गबन' सन् 1931 के आसपास लिखा गया और मार्च 1932 में छपा। पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' में 'गबन' की समीक्षा करते हुए लिखते हैं "इसमें प्रेमचन्दजी ने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को साथ-साथ प्रदर्शित किया है। रमानाथ और जालपा नवविवाहित दम्पति हैं। रमानाथ जालपा से अत्यधिक प्रेम करता है, पर वह उससे अपनी वास्तविक स्थिति को सदैव छिपाता रहता है। वह उपन्यास का मनोवैज्ञानिक सूत्र है। उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि यह है कि रमानाथ अपनी पत्नी की मनःतुष्टि के लिए अपने सामर्थ्य के बाहर जाकर गहने लाता और ऐसे उपायों का आश्रय लेता है, जो उसे अधिकाधिक कठिन परिस्थितियों में डाल देते हैं।"²⁷ 'गबन' में सामाजिक समस्या का स्वरूप तो निःसन्देह स्पष्ट है, पर उसमें कोई मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है। जिस मनोवैज्ञानिक समस्या की ओर पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने संकेत किया है वह सामाजिक समस्या का ही एक अंग है। डॉक्टर रामरतन भटनागर ने इसी बात को कुछ अधिक सुलझे रूप में व्यक्त किया है। 'गबन' प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है और कला एवं दृष्टिकोण की परिपक्वता की दृष्टि से वह उनके सारे सामाजिक उपन्यासों में श्रेष्ठतम है। हमने इस

उपन्यास को 'गहने की ट्रेजिडी' कहा है, परन्तु कहानी का मूल विषय यही होने पर भी समस्या का यह रूप अत्यन्त व्यापक समस्या का ही अंग है। यह समस्या है वर्गगत असन्तुलन। गहने वर्ग-श्रेष्ठता के ही प्रतीक हैं। हमारे इस पूँजीवादी समाज की सारी व्यवस्था वर्ग की विभिन्नता पर ही आश्रित है।²⁸ वास्तव में, 'गबन' मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं का उपन्यास है। मध्यवर्गीय परिवारों में दिखावा अथवा ढकोसला पाया जाता है। वह 'गबन' में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। उपन्यास के प्रारम्भ में गहने की समस्या को केन्द्र बनाकर मध्यवर्गीय भारतीय नारी की समस्या का उद्घाटन किया गया है तथा अन्त में कलकत्ते के वर्णन के प्रसंग में भारतीय स्वाधीनता की समस्या को पूरे मनोयोग से चित्रित किया गया है। अंग्रेज़ी शासन में पुलिस के हथकंडों, न्याय की विडम्बनाओं आदि का चित्रण जिसके अन्तर्गत आता है। इस प्रकार 'गबन' की समस्याएँ स्पष्ट हैं। 'गबन' की विशेषता इस बात में भी है कि प्रेमचन्द इसमें अपने दृष्टिकोण के अधिक निकट दिखाई देते हैं।

कर्मभूमि

'कर्मभूमि' प्रेमचन्द की प्रौढ़ कृति है, इसका रचनाकाल सर् 30-32 का है। प्रेमचन्द जिस आदर्शवाद के घेरे में अभी तक आबद्ध थे; उसे तोड़कर अब यथार्थ भूमि में प्रवेश करते हैं। उनके भावी मोड़ का आभास 'कर्मभूमि' में मिलता है।

'कर्मभूमि' का कथानक वैविध्यपूर्ण है; क्योंकि उसके कई समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। कथावस्तु के शैथिल्य के सम्बन्ध में श्री मन्मनाथ गुप्त एक स्थल पर लिखते हैं : "स्वयं प्रेमचन्द भी शायद 'कर्मभूमि' के कथानक की शिथिलता के सम्बन्ध में परिचित थे। उन्होंने जो अपने चार-सौ पन्ने के उपन्यास को पाँच भागों में बाँटा है, इससे इस सम्बन्ध में उनकी सज्जानता ज़ाहिर होती है।"²⁹ स्पष्ट है, प्रेमचन्द के इस उपन्यास में पाई जाने वाली रचना-तंत्र सम्बन्धी दुर्बलताएँ सज्जान हैं। प्रेमचन्द उपन्यास के माध्यम से कोई सुन्दर कहानी कहना नहीं चाहते थे; प्रत्युत तत्कालीन अनेक समस्याओं की ओर भारतीय जनता को जागरूक करना चाहते थे। 'कर्मभूमि' में यदि कथानक शिथिल है तो इससे उसकी महानता पर कोई विशेष विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। 'कर्मभूमि' की श्रेष्ठता यथावत् ही बनी रहती है।

‘कर्मभूमि’ की मुख्य समस्या भी स्वाधीनता की समस्या है। अछूतों और किसानों की समस्याएँ उसी का ही अंग बनकर आती हैं। शैक्षणिक समस्या का भी उद्घाटन प्रस्तुत उपन्यास में किया गया है। इस प्रकार ‘कर्मभूमि’ एक राजनीतिक उपन्यास कहा जा सकता है।

पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी ‘कर्मभूमि’ के विचार पक्ष की विवेचना करते हुए लिखते हैं, “विचारों के द्वारा प्रेमचन्द जी ने समय का चित्रण तो सफलता से कर दिया, किन्तु पाठक के सम्मुख अधिक योजनाएँ नहीं आतीं, जिन्हें वह भावी आदर्श समाज की पृष्ठभूमि मान सके।”³⁰ स्पष्ट है, उपन्यासकार विचारों के द्वारा समय का चित्रण यदि सफलतापूर्वक कर देता है तो यही उसकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। योजनाएँ प्रस्तुत करना कोई उसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है। समय-चित्रण भी अनेक शास्त्रीय सीमाओं को तोड़कर करना पड़ता है। और यदि योजनाओं का भी उसमें विधिवत् समावेश कर दिया जाये तो वह उपन्यास न रहकर समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र का पोथा ही बन जाए। इस प्रकार के आलोचक जहाँ उपन्यास-कला की दुहाई देते हैं, वहाँ योजनाओं की माँग भी करते हैं। यह दृष्टिकोण स्वयं में विरोध लिए हुए है। ‘कर्मभूमि’ पाठक को सम्बन्धित समस्याओं पर सोचने के लिए विवश करता है। यह विवशता योजना-चित्रण से कहीं अधिक उपयोगी है। पूर्व-परम्परा को तोड़कर प्रेमचन्द ने ‘कर्मभूमि’ को अधिक-से-अधिक यथार्थ से जोड़ने का प्रयत्न किया है।

गोदान

‘गोदान’ प्रेमचन्द का अन्तिम पूर्ण उपन्यास है। इसका रचनाकाल सन् 1936 है। ‘गोदान’ में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया है। औपन्यासिक कौशल प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक है, किन्तु शास्त्रीय पद्धति पर इसे भी नहीं परखा जा सकता।

‘गोदान’ ग्रामीण जनता का महाकाव्य कहा जाता है। निःसन्देह उसमें ग्रामीण जनता की विभिन्न समस्याओं पर ही लेखक की दृष्टि केन्द्रित है। वैसे देखा जाए तो ‘गोदान’ की पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक है। उसमें शहरी और ग्रामीण दोनों जीवन का चित्रण है तथा दोनों की समस्याएँ उसमें समाहित हैं। लेकिन यदि बारीकी से देखा जाए तो शहरी जीवन का चित्रण ग्रामीण जीवन से गुँथा हुआ ही

नहीं मालूम पड़ता; प्रत्युत उसी के हेतु औपन्यासिक कथा में स्थान रखता है यह भली-भाँति लक्षित हो जाता है।

‘गोदान’ की मुख्य समस्या किसान के सुखी जीवन की समस्या है। यद्यपि किसान के जीवन के प्रत्येक पहलू पर इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है, फिर भी उसकी ऋण-समस्या ही प्रमुख है। ऋण के बोझ के कारण भारतीय किसान किस तरह पिस जाता है, यही ‘गोदान’ का केन्द्रबिन्दु है। होरी ऐसे ही किसान का प्रतीक है।

‘गोदान’ में प्रोफ़ेसर मेहता प्रेमचन्द के विचारों के वाहक हैं। प्रेमचन्द कथा-विकास के साथ-साथ अनेक समस्याओं पर प्रो. मेहता के मुख से लम्बी-लम्बी वक्तुताएँ भी दिलवाते चलते हैं। यदि प्रेमचन्द का उद्देश्य केवल एक किसान की कहानी लिखना ही रहा होता तो कथा-विन्यास में उन स्थलों की कोई आवश्यकता न होती। वास्तव में, वे स्थल ‘गोदान’ को महाकाव्यत्व तक पहुँचाने में बड़े साह्यक होते हैं। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व ‘गोदान’ में भी अन्य उपन्यासों की तरह छाया हुआ है। मात्र ‘कला’ को, किसी रचना की श्रेष्ठता या सफलता की कसौटी मानने वाला लेखक, इस प्रकार के स्थलों को भूलकर भी न रखता। लेकिन प्रेमचन्द का तो मुख्य उद्देश्य समस्याओं को सामने रखना था, इसीलिए ऐसे स्थलों पर उनकी प्रतिभा विशेष रूप से निखरकर हमारे सामने आती है।

मंगलसूत्र

‘मंगलसूत्र’ प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास है जो उनकी मृत्यु के 10-11 वर्ष बाद पश्चात् प्रकाशित हुआ। ‘गोदान’ में प्रेमचन्द यथार्थवादी बन गए हैं। ‘मंगलसूत्र’ में हम उनके यथार्थवादी रूप का स्पष्ट दर्शन कर सकते थे, किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया। जैसा भी प्रस्तुत उपन्यास सामने आया है उसको देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी प्रमुख समस्या वैवाहिक होती। पुष्पा और संतकुमार के दाम्पत्य जीवन का असंतोष प्रारम्भिक पृष्ठों में मिलता है। पुष्पा नारी-जाति की स्वतंत्रता और अधिकारों की समर्थक है। वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित विच्छेद का प्रश्न संभवतः इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखता, किन्तु अपूर्ण कृति पर अटकल या संभावनाओं के आधार पर कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता।

(3)

इस प्रकार प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में किसी-न-किसी समस्या को प्रमुख स्थान मिला है, अतः उनके प्रायः सभी उपन्यास समस्याप्रधान अथवा समस्यामूलक ठहरते हैं। कथानक के अन्दर समस्याओं का समावेश वे नहीं करते वरन् समस्याओं को उपस्थित करने के लिए कथानक को गढ़ते हैं। चरित्र-चित्रण के लिए उनके उपन्यास नहीं लिखे गए वरन् समस्याओं के उद्घाटन, विकास और हल के हेतु पात्रों का सर्जन तथा चरित्र-चित्रण हुआ है। कथा विकसित करने के लिए वे संवादों को नहीं रखते वरन् समस्याओं का स्वरूप प्रकट करने के लिए पात्रों के मुख से अनेक बातें कहलाते हैं। अतः प्रेमचंद के उपन्यासों को समझने के लिए यही वास्तविक आधार है। आधार की ओर ध्यान न देकर यदि कोई आलोचक अन्य मापदंडों से उनके उपन्यासों की परख करता है तो वह गलत दृष्टिकोण अपनाता है। उसकी आलोचना का निष्कर्ष यही होगा कि प्रेमचन्द प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार नहीं हैं, जबकि वे मानव-समुदाय में दिन-पर-दिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं। यदि वे सफल उपन्यासकार नहीं होते तो यह लोकप्रियता मिलनी दुर्लभ होती। सच पूछा जाए तो प्रेमचन्द के उपन्यास केवल उपन्यास ही नहीं, वे उपन्यास से कुछ अधिक हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में उठाई गई प्रमुख समस्याओं के इस पर्यवेक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके प्रायः सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं। यह तथ्य उनके उपन्यासों की समीक्षा करते समय ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है; अन्यथा प्रेमचंद को समझने में ही हम भूल नहीं करेंगे; प्रत्युत उनके उपन्यासों के प्रति भी उचित न्याय नहीं कर पाएंगे।

प्रेमचंद और अन्य विश्वविख्यात उपन्यासकारों में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जहाँ अन्य प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार चरित्रांकन की कला में अद्वितीय हैं वहाँ प्रेमचन्द समस्या के उपस्थित करने, उसका पूर्णरूपेण उद्घाटन करने और उसका हल सुझाने में अन्यतम हैं। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासों की परख चरित्रांकन के दृष्टिकोण से की जाएगी तो वे विश्वविख्यात उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं पा सकेंगे। इस बात को स्वीकार करने में कोई हीन-भावना का अनुभव हमें नहीं करना चाहिए। चरित्र-चित्रण में, प्रेमचन्द, कहानियों में जितने सफल हुए हैं उतने उपन्यासों में नहीं। अपवाद रूप में, दो-चार औपन्यासिक पात्रों के सफल

चरित्रांकन का उल्लेख कर देने मात्र से उनकी समस्यामूलकता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला का सबसे सशक्त पहलू समस्यामूलक तत्त्व है, जिसके आधार पर हम प्रेमचन्द की कृतियों पर गर्व कर सकते हैं और विश्व-साहित्य के सम्मुख उनकी उपादेयता सिद्ध कर सकते हैं।

संदर्भ-संकेत

- 1 कुछ विचार, पृ. 42
- 2 वही, पृ. 42-43
- 3 वही, पृ. 38
- 4 'साहित्यावलोकन', पृ. 155
- 5 मन्मथनाथ गुप्त : 'कथाकार प्रेमचंद', पृ. 177
- 6 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन. पृ. 50-51
- 7 मन्मथनाथ गुप्त : 'कथाकार प्रेमचंद', पृ. 168
- 8 मन्मथनाथ गुप्त : 'कथाकार प्रेमचंद', पृ. 163-164
- 9 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन. पृ. 52
- 10 'वरदान', पृ. 44
- 11 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 13
- 12 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 9
- 13 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 10
- 14 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 10
- 15 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 11
- 16 मन्मथनाथ गुप्त : 'कथाकार प्रेमचंद', पृ. 202
- 17 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ. 25-26
- 18 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन. पृ. 84
- 19 'हिन्दी उपन्यास', पृ. 10
- 20 'हंस', मई 1937, पृ. 44
- 21 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ. 42-43
- 22 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ. 60-61
- 23 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन. पृ. 112
- 24 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ. 70-71
- 25 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ. 71
- 26 मन्मथनाथ गुप्त : 'कथाकार प्रेमचंद', पृ. 293
- 27 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ. 114
- 28 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन. पृ. 141-142
- 29 मन्मथनाथ गुप्त : 'कथाकार प्रेमचंद', पृ. 470
- 30 'प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ. 112

स्वतंत्रता आन्दोलन

प्रेमचन्द भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के निर्भीक व अविचल योद्धा थे। विदेशी सत्ता के साम्राज्यवादी चक्र में दबा-पिसा भारत उनकी रचनाओं में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रतिबिम्बित हुआ है। प्रेमचन्द भारतीय राजनीतिक जागरण के एक स्तम्भ हैं। देश में स्वाधीनता के विचारों का प्रचार उन्होंने साहित्य के माध्यम से उतने ही ज़ोरों से किया जितना कि सक्रिय राजनीति में सत्य व अहिंसा के द्वारा गांधी जी ने। साहित्य का जनता के संस्कारी मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है; क्योंकि उसमें कला अन्तर्निहित रहती है। प्रेमचन्द इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे। पराधीनता की शृंखलाएँ तोड़ने के लिए भारतीयों में नवीन चेतना, साहस और शक्ति का संचार प्रेमचन्द ने साहित्य के द्वारा किया। उन्होंने सोये भारत को झकझोरकर जगाया ही नहीं, उसे उसकी दयनीय दशा से ही परिचित नहीं कराया, वरन् उसे क्रांति के लिए स्वाधीनता के हेतु संगठित अभियान के लिए तैयार भी किया। उनके साहित्य में भारत की आत्मा बोलती है।

प्रेमचन्द के समय भारत की राजनीतिक अवस्था बड़ी अनिश्चित थी। राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) के नेतृत्व में स्वाधीनता-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, यद्यपि कुछ असफलताएँ उसके इतिहास में विद्यमान हैं। पर, इन असफलताओं से स्वाधीनता की आग दबी नहीं, प्रत्युत और व्यापक व तीव्र ही होती गई। प्रेमचन्द ने अपनी आँखों जनता के वे जुलूस देखे थे; जो स्वाधीनता की मशाल लिए सड़कों-सड़कों तथा गलियों-गलियों निकलते थे। इसके साथ-ही-साथ प्रेमचन्द ने अपनी आँखों अंग्रेज़ी हुकूमत के अत्याचार, अन्याय व दमन के भी दृश्य देखे। लेखक होने के नाते प्रेमचन्द स्वाधीनता-आन्दोलन से तटस्थ नहीं रह सकते थे। सन् 1920 के ज़माने में जब कि देशव्यापी असहयोग चल रहा था,

प्रेमचन्द ने उससे प्रभावित होकर सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था और 'कलम के मज़दूर' बनकर स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़े थे। आगे चलकर वे बराबर कांग्रेस की बैठकों में भाग लेते रहे। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने जैसा लिखा है

“कांग्रेस की मीटिंग रोज़ाना चल रही थी, उसमें भी वे शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते।”¹

प्रेमचन्द के साहित्य का तत्कालीन राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवरानी-प्रेमचन्द का अधोलिखित वार्तालाप प्रेमचन्द के साहित्य और उनके राजनीति सम्बन्धी विचारों को प्रकट करता है

“प्रेमचन्द जब तक यहाँ के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सब-के-सब ज्यों-के-त्यों पड़े रहेंगे।

शिवरानी तो क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं ?

प्रेमचन्द और क्या! ये चीज़ें माला जैसी ही हैं। जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलनेवाली चीज़ें हैं।”²

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की व्यापारिक नीति, भारतीय शिक्षित वर्ग में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रति लगाव, भारतीय ईसाइयों में अंग्रेज़ों की नक़ल की प्रवृत्ति, ब्रिटिश नौकरशाही का आतंकपूर्ण शासन तथा उसके साम्राज्यवादी स्वार्थ, अन्याय आदि पर जगह-जगह लिखा है। वे पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे। 'डोमीनियन स्टेट्स' में उनको तनिक भी विश्वास न था। 'हंस' की पहली सम्पादकीय टिप्पणी में उन्होंने 'डोमीनियन स्टेट्स' का कड़ा विरोध किया है

“इंग्लैंड का डोमीनियन स्टेट्स के नाम से न घबड़ाना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज़ की उलझन है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो हैं नहीं कि इंग्लैंड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यह होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमीनियन के पक्ष में हैं। इसका कुछ और आशय है। डोमीनियन पक्ष को ग़ौर से देखिए तो उसमें हमारे राजे-महाराजे, हमारे ज़मींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज़्यादा नज़र आते हैं। क्या इसका यह कारण

है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत-कुछ दबकर रहना पड़ेगा ? स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज़ इतनी निर्बल न रहेगी। क्या वे लोग उस आवाज़ के भय से थरथरा रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेज़ी शासन से ही हो सकती है ? स्वराज्य कभी उन्हें ग़रीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। डोमीनियन का अर्थ उनके लिए यही है कि दो-चार गवर्नरियाँ, दो चार बड़े-बड़े पद उन्हें और मिल जावेंगे। उनका डोमीनियन स्टेटस इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह ग़रीबों को चूसते चले जायेंगे। स्वराज्य ग़रीबों की आवाज़ है, डोमीनियन ग़रीबों की कमाई पर मोटे होनेवालों की।”³

वे पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती तो थे ही, पर उनका स्वतंत्रता का दृष्टिकोण नितान्त जनवादी था। ‘कर्मभूमि’ में डा. शान्तिकुमार के मुख से भी उन्होंने जनता की सरकार तथा क्रांति का समर्थन किया है

“जब तक रियाया के हाथ में अख़्तियार न होगा, अफ़सरों का यही हाल रहेगा...ग़रीबों की लाश पर सब-के-सब गिद्धों की तरह जमा होकर उनकी बोटियाँ नोच रहे हैं... इस हाहाकार को बुझाने के लिए दो-चार घड़े पानी डालने से तो आग और भी बढ़ेगी। इन्कलाब की ज़रूरत है, पूरे इन्कलाब की।”⁴

वे वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें अमीर-ग़रीब का भेद न हो

“गवर्नमेण्ट तो कोई ज़रूरी चीज़ नहीं। पढ़े-लिखे आदमियों ने ग़रीबों को दबाये रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमेण्ट है ; ग़रीब और अमीर का फ़र्क मिटा दो और गवर्नमेण्ट का खात्मा हो जाता है।”⁵

सर्वहारा वर्ग के प्रति उन्हें स्वाभाविक सहानुभूति थी। वे उसे धनिक वर्ग के सामने अपमानित होते देखना पसन्द नहीं करते थे। वे ऐसी आज़ादी के समर्थक न थे जो मानवीय अधिकारों को दबाकर रखे। जागती हुई जनता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है

“उसे अपने स्वत्व का ज्ञान हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि उन्हें भी आराम से रहने का इतना ही अधिकार है, जितना धनियों को।”⁶

माक्सवादी समीक्षक अमृतराय के शब्दों में यह कहा जा सकता है

“प्रेमचन्द की देशभक्ति कोई शून्य, हवाई देशभक्ति नहीं, सच्ची जनवादी देशभक्ति है और उन्होंने जो कुछ लिखा है, देश में जनता का शासन, जनवाद

कायम करने के लिए लिखा है।”⁷

प्रेमचन्द के विचारों में परिवर्तन होते गए हैं। ‘प्रेमा’ से ‘मंगलसूत्र तक उन्होंने एक बड़ी वैचारिक यात्रा पूर्ण की है। प्रारम्भ में वे सुधारवादी तथा नरम दक्षिण-मार्गी हैं, पर बाद में बड़े उग्र क्रांतिकारी तथा वाममार्गी। यह परिवर्तन उनके अनुभव पर आश्रित है। उन्होंने दिन-दिन बढ़ते शोषण और अत्याचार को देखकर अपनी राय स्थापित की।

प्रारम्भ में उन पर गांधीवादी दर्शन का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव था। प्रायः महान साहित्यकारों में यह बात देखी गई है कि वे अपने युग के राजनीतिक नेताओं से विचारों में आगे होते हैं। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गांधी जी के आविर्भाव के पूर्व स्वदेशी और भारतीय संस्कृति के प्रति देश का ध्यान आकर्षित किया था, उसी प्रकार प्रेमचन्द भी गांधी जी के विचारों से आगे निकल जाया करते थे। ‘प्रेमाश्रम’ के रचनाकाल से यह बात स्पष्ट होती है। मजदूर और काश्तकारों के सम्बन्ध पर लिखा ‘प्रेमाश्रम’ गांधी जी के आन्दोलन का मानो पूर्वाभास है। प्रेमचन्द-शिवरानी संवाद से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है

“शिवरानी तो आप भी क्या महात्मा गांधी के तरफदार हो गए। ?

प्रेमचन्द अरे, तरफदार होने को तुम कहती हो, मैं उनका चेला हो गया।
चेला तो उसी समय हुआ, जब वह गोरखपुर में आये थे।

शिवरानी चले तब हुए थे, दर्शन अब कर पाये ?

प्रेमचन्द चले होने की मानी, किसी की पूजा करना नहीं होता, बल्कि उन गुणों को अपनाना है।

शिवरानी तो आपने अपना लिए ?

प्रेमचन्द मैंने अपना लिए। अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो मैंने ‘प्रेमाश्रम’ लिखा है। सन् ’22 में छपा है।

शिवरानी वह तो पहले से ही लिखा जा रहा है ?

प्रेमचन्द इसके मानी यह है कि मैं महात्मा गांधी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

शिवरानी तो इसमें महात्मा गांधी की कौन खास बात हुई ?

प्रेमचन्द बात यह हुई कि जो बात वह करना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ। इसके मानी यह है कि मैं उनका बना-बनाया कुदरती चेला हूँ।

शिवरानी यह कोई बात नहीं है, न कोई दलील है।

प्रेमचन्द दलील की यह कोई बात नहीं। इसके माने हैं कि दुनिया में मैं महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका उद्देश्य भी यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिखकर के उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलमान की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिलाकर के हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।”⁸

प्रेमचन्द के भाषा-सम्बन्धी विचारों को आगे चलकर गांधी जी ने भी अपनाया। इस प्रकार अनेक बातों में वे पूर्व ही कदम उठा चुके थे। गांधी जी के सिद्धान्तों का प्रभाव भी उन पर पड़ा है, अतः उनका प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में मिलता है। ‘रंगभूमि’ में जाहिर अली के शब्द विपक्षी के सम्बन्ध में गांधीवादी दर्शन के प्रतीक हैं

“जिन्होंने मुझ पर जुलुम किया है, उनके दिल में दया-धरम जागे, बस मैं आप लोगों से और कुछ नहीं चाहता।”⁹

इसी उपन्यास में वे कहते हैं

“रोग का अन्त करने के लिए रोगी का अन्त कर देना न बुद्धिसंगत है, न न्यायसंगत। आग, आग से शान्त नहीं होती, पानी से शान्त होती है।”¹⁰

उन्होंने शान्त उपायों का सदैव समर्थन किया है। सोफी विनयकुमार से कहती है

“तुम अपने आदर्श से उसी समय पतित हुए, जब तुमने उस विद्रोह को शान्त करने के लिए शान्त उपायों की अपेक्षा क्रूरता और दमन से काम लेना उपयुक्त समझा। शैतान ने पहली बार तुम पर वार किया और तुम फिर न सँभले, गिरते ही चले गये।”¹¹

पर, आगे चलकर सुधारवादी दृष्टिकोण पर से उनका विश्वास हिल गया था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे बड़े उग्र हो उठे थे। उनके उपन्यासों में भारतीय स्वाधीनता की गूँज सर्वप्रथम ‘सेवासदन’ में सुनाई देती है जहाँ कि उन्होंने एक भविष्य-द्रष्टा की तरह यूरोप के व्यावहारिक साम्राज्यवाद के प्रति लिखा है

“शिल्प और कला-कौशल का यह महल उसी समय तक है जब तक संसार में निर्बल, असमर्थ जातियाँ वर्तमान हैं। उनके गले सस्ता माल मढ़कर यूरोपवाले चैन करते हैं; पर ज्योंही वे जातियाँ चौकेंगी, यूरोप की प्रभुता नष्ट हो जायेगी।”¹²

उन्होंने भारतीय युवकों को पाश्चात्य संस्कृति तथा विदेशी भाषा के पीछे

मतवाले होने से रोका व सचेत किया। देश में जब स्वाभिमान तथा निज की संस्कृति के प्रति उपेक्षा-भाव बढ़ते जाते हैं तब वह देश तथा जाति मृतवत् हो जाती है। भारतीय युवकों के द्वारा भारतीय संस्कृति की उपेक्षा ही नहीं हुई, वरन् एक समय था जब कि पाश्चात्य सभ्यता के ये भक्त-युवक उसका उपहास करते थे। अपनी भाषा में बोलना उनके लिए अपने को अशिक्षित तथा असभ्य बताना था। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जाति में पाये जानेवाले आत्महीनता के भावों को व्यक्त किया है; क्योंकि उनके उपन्यास केवल हमारा मनोरंजन ही नहीं करते, प्रत्युत वे समस्याओं को भी सम्मुख रखते हैं, उन समस्याओं के कारणों पर प्रकाश डालते हैं तथा उनके हल का उपाय भी सुझाते हैं। इन समस्याओं में भारतीय स्वाधीनता की समस्या भी एक है। अंग्रेज़ी भाषा के गुलामों को प्रेमचन्द 'सेवासदन' के एक समाज-सुधारक पात्र बिट्टलदास के द्वारा जाग्रत करना चाहते हैं

“आपकी अंग्रेज़ी शिक्षा ने आपको ऐसा पद-दलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान् किसी विषय के गुण-दोष प्रकट न करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेदस्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आप में अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है..... यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गयी-गुज़री है। आप उपनिषदों को अंग्रेज़ी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं।”¹³

‘सेवासदन’ में आगे चलकर प्रेमचन्द सुमन के मुख से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे स्वार्थान्धों को खरे शब्दों में ललकारते हैं

“यह सब-के-सब स्वार्थसेवी हैं, इन्होंने केवल दीनों का गला दबाने के लिए, केवल अपना पेट पालने के लिए अंग्रेज़ी पढ़ी है, यह सब-के-सब फैशन के गुलाम हैं, जिनकी शिक्षा ने उन्हें अंग्रेज़ों का मुँह चिढ़ाना सिखा दिया है, जिनमें दया नहीं, धर्म नहीं, निज भाषा से प्रेम नहीं, चरित्र नहीं, आत्मबल नहीं, वे भी कुछ आदमी हैं ?”¹⁴

यह देश की पतित तथा पराजित दशा का कितना मार्मिक तथा उत्तेजक वर्णन है। भाषा की पराधीनता देश की स्वाधीनता में बाधक होती है। अंग्रेज़ी राजनीतिज्ञों तथा शिक्षा-विशारदों ने यह बात खूब सोच-समझकर भारत की राजभाषा अंग्रेज़ी बनायी थी, पर मेकाले का स्वप्न उस देश में कहाँ साकार हो

सकता था जहाँ प्रेमचन्द व गांधी जैसे स्वाधीनता के अटल व निर्भीक प्रहरी थे। शिक्षित वर्ग को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सचेत किया

“शिक्षित वर्ग जब-तक शासकों का आश्रित रहेगा, हम अपने लक्ष्य के जो भर भी निकट न पहुँच सकेंगे।”¹⁵

कुछ लोग अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी राज्य की प्रशंसा करते देखे जाते हैं। किसी जाति के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न करना कोई मानवतावादी लेखक पसन्द नहीं करेगा, पर एक ऐसे दल के विरुद्ध जो विजित देश को लूटता है और आतंक फैलाता है, उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं छिपाया जा सकता। ब्रिटेन से भारत आनेवाले अनेक ‘गोरों’ की ऐसी कथाएँ हैं जो भारत को ‘सोने की चिड़िया’ समझकर महज़ ऐयाशी के लिए आते थे। ‘कर्मभूमि’ में सोना बेचती हुई मेमों के बारे में बताया गया है

‘यह गोरों उस श्रेणी के थे, जो अपनी आत्मा को शराब और जुए के हाथों बेच देते हैं, बे-टिकट फर्स्ट क्लास में सफ़र करते हैं, होटलवालों को धोखा देकर उड़ जाते हैं और जब कुछ बस नहीं चलता, तो बिगड़े शरीफ़ बनकर भीख माँगते हैं।’¹⁶

‘रंगभूमि’ में मिसेज सेवक और कुँवर साहब के वार्तालाप से प्रेमचन्द अंग्रेज़ी राज्य की नियामतों की निस्सारता पर बड़े तार्किक ढंग से लिखते हैं

“कुँवर जिस राष्ट्र ने एक बार अपनी स्वाधीनता खो दी, वह फिर उस पद को नहीं पा सकता। दासता ही उसकी तकदीर हो जाती है। मैं अंग्रेज़ों की तरफ़ से निराश हो गया हूँ...”

मि. सेवक (रुखाई से) तो क्या आप यह नहीं जानते कि अंग्रेज़ों ने भारत के लिए जो कुछ किया है, वह शायद ही किसी जाति या देश के साथ किया हो ?

कुँ. नहीं, मैं यह नहीं मानता।

मि. से. (आश्चर्य से) शिक्षा का इतना प्रचार और भी किसी काल में हुआ था ?

कुँ. मैं इसे शिक्षा ही नहीं कहता जो मनुष्य को स्वार्थ का पुतला बना दे।

मि. से. रेल, तार, जहाज़, डाक ये सब विभूतियाँ अंग्रेज़ों के ही साथ आयीं।

कुँ. अंग्रेजों के बगैर भी आ सकती थीं और आयी भी हैं, तो अधिकतर अंग्रेजों ही के लिये ।

मि. से. ऐसा न्याय-विधान पहले कभी न था ?

कुँ. ठीक है, ऐसा न्याय-विधान कहाँ था, जो अन्याय को न्याय और असत्य को सत्य सिद्ध कर दे। यह न्याय नहीं गोरखधंधा है।¹⁷

अंग्रेजी राज्य में भारतीय जेलखानों की दशा तथा कैदियों के जीवन पर 'कायाकल्प' में विस्तार से लिखा गया है। जिस राज्य में राजनीतिक कैदियों को ऐसे स्थानों पर रखा जाता हो तो उसे क्या सभ्य कहा जा सकेगा ?

“उन्हें ईश्वर के दिये हुए वायु और प्रकाश के मुश्किल से दर्शन होते थे। मनुष्य के रचे हुए संसार में मनुष्यत्व की कितनी हत्या हो सकती है, इसका उज्ज्वल प्रमाण सामने था। भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते। वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी पैरों से ठुकरा देता, और परिश्रम इतना करना पड़ता था जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन। दो रुपये रोज़ काम लेकर, दो आने का खाना खिलाना, ऐसा अन्याय है, जिसकी कहीं नज़ीर नहीं मिल सकती। आदि से अन्त तक सारा व्यापार घृणित, जघन्य, पैशाचिक और नन्दनीय है। अनीति की भी अक़ल दंग है, दुष्टता भी यहाँ दाँतों तले उँगली दबाती है।”¹⁸

भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव आंतक की शिला पर डाली गई। शासन और शासकीय अधिकारियों का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य देश में आंतक का साया डालकर शोषण करना रहा। प्रबल आंतक के कारण जनता को नाना अन्यायों तथा विपत्तियों का सामना करना पड़ा। प्रेमचन्द ने इस आंतकवाद के विरुद्ध लेखनी चलाई, क्योंकि जब तक जनता के हृदय से भय दूर नहीं होता, वह दबू बनकर अन्याय को सहन करती जायगी। स्वाधीनता-प्राप्ति का प्रथम आवश्यक चरण हृदयों से अंग्रेजी शासन के भय को जड़ से मिटाना था। 'कर्मभूमि' में मुन्नी के गोरों द्वारा सतीत्व-हरण की घटना पर सलीम सोचता है

“इन टके के सैनिकों को इतनी हिम्मत क्यों हुई ? यह गोरे सिपाही इंग्लैंड की निम्नतम श्रेणी के मनुष्य होते हैं। इनका साहस कैसे हुआ ? इसलिए कि भारत पराधीन है। यह लोग जानते हैं कि यहाँ के लोगों पर उनका आंतक छाया हुआ है। वह जो अनर्थ चाहे, करें, कोई चूँ नहीं कर सकता। यह आंतक दूर करना

होगा। इस पराधीनता की जंजीर को तोड़ना होगा।”¹⁹

‘रंगभूमि’ में मि. क्लार्क आतंक की स्थापना के लिए सब कुछ करने को तैयार है। साम्राज्यवादी भावनाओं से मनुष्य का कितना पतन हो सकता है, उसका उदाहरण क्लार्क के अधोलिखित शब्दों से मिलता है जहाँ न्याय जैसी कोई चीज़ नहीं होती

“हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे।... अगर साम्राज्य को रखना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है तो व्यक्तिगत भावों और विचारों का यहाँ कोई अस्तित्व नहीं। साम्राज्य के लिए हम बड़े-से-बड़े नुकसान को उठा सकते हैं, बड़ी-से-बड़ी तपस्याएँ कर सकते हैं। हमें अपना राज्य प्राणों से भी प्रिय है, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति की लेशमात्र भी शंका हो, उसे हम कुचल डालना चाहते हैं, उसका नाश कर देना चाहते हैं, उसके साथ किसी भी भाँति की रियायत, सहानुभूति, यहाँ तक कि न्याय का व्यवहार भी नहीं कर सकते।”²⁰

अपने स्वार्थ के लिए अंग्रेजों ने सब कुछ किया। ‘कायाकल्प’ में गुरुसेवक मनोरमा से कहते हैं

“इनमें उदारता और सज्जनता नाम को भी नहीं होती, बस अपने मतलब के यार हैं ये। इनका धर्म, इनकी राजनीति, इसका न्याय, इनकी सभ्यता केवल एक शब्द में आ जाती है, और वह शब्द है ‘स्वार्थ’।”²¹

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इरादों को बड़े स्पष्ट और बेलाग ढंग से क्लार्क के मुख से प्रेमचन्द कहलाते हैं। इंग्लैण्ड में चाहे जिस पार्टी का शासन रहा हो, सभी का प्रयत्न भारत में अपना साम्राज्य-स्थापन और उसकी रक्षा ही रहा। सत्तारूढ़ पार्टी ने जब-जब अत्याचार किये तब-तब अन्य पार्टी ने मात्र दिखावे को उसका विरोध किया। इस प्रकार भारतीयों को भुलावा दिया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निर्लज्जता का तथा उसकी नीति का पर्दाफ़ाश करने से प्रेमचन्द नहीं चूके हैं

“अंग्रेज़ जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं..... आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नहीं।...अंग्रेज़ जाति कभी त्याग के लिए, उच्च सिद्धान्तों पर प्राण देने के लिये प्रसिद्ध नहीं रही। सबके-सब साम्राज्यवादी हैं। अन्तर केवल उस

नीति में है, जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाये रखने के लिए ग्रहण करते हैं। कोई कठोर शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का। बस, वास्तव में नीति कोई नहीं, केवल उद्देश्य है, वह यह कि क्योंकर भारतवासियों पर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो।”²²

“हमारा प्रथम और अन्तिम उद्देश्य शासन करना है।”²³

मि. क्लार्क के उपर्युक्त शब्द अंग्रेजी राज्य के नग्न स्वरूप को सामने रखते हैं। प्रेमचन्द इस राज्य को मिटाना चाहते थे। क्योंकि उसका अस्तित्व अन्याय पर था। न्याय का उपहास करता हुआ प्रभुसेवक सूरदास से कहता है

“सरकार यहाँ न्याय करने नहीं आयी है भाई, राज्य करने आयी है। न्याय करने से उसे कुछ मिलता है ? कोई समय वह था जब न्याय को राज्य की बुनियाद समझा जाता था। अब वह ज़माना नहीं है। अब व्यापार का राज्य है और जो इस राज्य को स्वीकार न करे, उसके लिये तारों का निशाना मारनेवाली तोपें हैं। तुम क्या कर सकते हो ? दीवानी में मुकदमा दायर करोगे ? वहाँ भी सरकार ही के नौकर-चाकर न्याय-पद पर बैठे हुए हैं।”²⁴

अन्यायी शासक दमन का सहारा लेता है। वह राष्ट्रीय भावनाओं, जन-आन्दोलनों, राष्ट्रीय साहित्य आदि को कुचलने के षड्यंत्र रचता है। अंग्रेजी शासन ने जितने दमन-चक्र चलाये उनके उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलेंगे। प्रेमचन्द भारतीय जनता को दमन का वीरता से सामना करने योग्य बनाते हैं। उनमें आत्मसम्मान, साहस तथा देशप्रेम के भावों का प्रसार करते हैं। प्रभुसेवक के मुख से रक्तपात से डरने वालों की कापुरुषता पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है

“जब तक हम खून से डरते रहेंगे, हमारे स्वप्न भी हमारे पास आने से डरते रहेंगे। उनकी रक्षा तो खून ही से होगी। राजनीति का क्षेत्र समर-क्षेत्र से कम भयावह नहीं है। उसमें उतरकर रक्तपात से डरना कापुरुषता है।”²⁵

इस प्रकार प्रेमचन्द ने साहित्य के द्वारा देश और जाति में नयी चेतना उत्पन्न की, स्वाधीनता-संग्राम को वाणी दी और जनता के एक बहुत बड़े तथा महत्त्वपूर्ण भाग को स्वतन्त्रता के रहस्य से परिचित कराया। उनका साहित्य स्वतन्त्रता का सहग प्रहरी है। भारत के स्वाभिमान व गौरव का धरोहर है। जिस देश ने प्रेमचन्द जैसे लेखक उत्पन्न किए हैं वह कभी भी पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। वह सदैव एक गत्यात्मक वातावरण में फलेगा-फूलेगा।

प्रेमचन्द का साहित्य केवल भारत की स्वाधीनता का ही साहित्य नहीं है; वरन् संसार की समस्त पीड़ित, दुखी और शोषित जनता का साहित्य है। अन्य पराधीन या अर्द्ध-पराधीन देश उनके साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि प्रेमचन्द ने स्वातन्त्र्य-भावना को कभी और कहीं भी संकीर्ण रूप में नहीं देखा। जनवादी होने के कारण वे मानव-मात्र के हैं और संतुष्ट मानवता को, निश्चय ही, उनके साहित्य से सदैव आत्मबल मिलेगा।

संदर्भ-संकेत

- 1 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 84
- 2 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 94-95
- 3 'हंस', मार्च, 1930
- 4 'कर्मभूमि', पृ. 232
- 5 'कर्मभूमि', पृ. 234
- 6 'कर्मभूमि', पृ. 266
- 7 'शांति के योद्धा प्रेमचंद', पृ. 6
- 8 'प्रेमचंद : घर में', पृ. 128-129
- 9 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 319
- 10 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 281
- 11 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 84
- 12 'सेवासदन', पृ. 155
- 13 'सेवासदन', पृ. 244-245
- 14 'सेवासदन', पृ. 283
- 15 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 390
- 16 'कर्मभूमि', पृ. 56
- 17 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 269
- 18 'कायाकल्प', पृ.184
- 19 'कर्मभूमि', पृ. 184
- 20 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 27
- 21 'कायाकल्प', पृ.212-213
- 22 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 186
- 23 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 342
- 24 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 150-151
- 25 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 422

कठपुतली शासक और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद

प्रेमचन्द ने रियासतों और देशी नरेशों की तत्कालीन स्थिति का 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में विस्तार से उल्लेख किया है तथा उनके भविष्य पर भी प्रकाश डाला है।

भारतीय रियासतें स्वतंत्रता-प्राप्ति में एक बड़ी रुकावट थीं। इन प्रदेशों की जनता की स्थिति ब्रिटिश भारत से भी गई-गुजरी रही। राजाओं में नैतिक बल बिलकुल न था। वे ब्रिटिश शासकों के संकेतों पर नाचने वाले मात्र कठपुतली थे। इन राजाओं ने ब्रिटिश शासन की चाकरी करके साम्राज्यवाद की जड़ों को मज़बूत किया और सामंत-प्रथा को पुनर्जीवित किया। एक समय था जबकि राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। जनता उसका सम्मान करती थी। किन्तु, 'राजावाद' में जो मूल दोष थे, वे आगे सामने आए और राजसत्ता दूषित हो उठी। राजाओं के नैतिक आदर्श गिर गए, जनता के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा की भावना मिट गई। राजा-महाराजाओं और उनके दीवानों-सामंतों के अत्याचार और दमन के विरुद्ध जनता उठ खड़ी हुई। लेकिन इन रियासतों की जनता की मुक्ति का प्रश्न भारतीय स्वाधीनता-प्राप्ति का ही एक अंग था। जब तक भारत से ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त नहीं होता, तब-तक इन रियासतों में भी कोई सीमित क्रांति न तो सफल ही हो सकती थी और न स्थायी ही। पर, इन प्रदेशों की जनता में स्वाधीनता के भावों का प्रसार करना आवश्यक था। लेखकों का भी यह कर्तव्य था कि वे इन रियासतों के मनमानी शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाएँ और इन प्रदेशों की जनता का साथ दें, उनके आन्दोलनों को बल पहुँचाएँ तथा राजसत्ता की निरर्थकता प्रमाणित करें, जिससे एक स्वाधीन जनवादी भारत का निर्माण हो सके।

प्रेमचन्द ने आजन्म साम्राज्यवाद और उनको बल पहुँचाने वाली शक्तियों से लोहा लिया। सामंती तत्त्वों से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। व्यक्तियों के प्रति घृणा उत्पन्न न करना एक अलग बात है और किसी प्रणाली से समझौता करना नितांत अलग। प्रेमचन्द ने राजसत्ता की प्रणाली के कभी समझौता नहीं किया। 'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' के पढ़ने पर राजसत्ता पर किसी की श्रद्धा नहीं जमेगी। प्रेमचन्द ने उस व्यवस्था के प्रति असंतोष व्यक्त किया है तथा उसमें पाये जाने वाले दोषों को बड़े ही यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है। यही नहीं, उन्होंने राजा-महाराजाओं के चित्रण में भी किसी तरह का पक्षपात नहीं किया। उनकी दुर्बलताओं का इतना नग्न और व्यंग्यात्मक चित्रण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

राजसत्ता से संबंधित एक घटना स्वयं प्रेमचन्द के जीवन में भी आती है। श्रीमती शिवरानी देवी ने 'प्रेमचन्द घर में' इसका उल्लेख इस प्रकार किया है : "सन् '24 का जमाना था। आप लखनऊ में थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से राजा साहब की चिट्ठी लेकर पाँच-छः सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। राजा साहब उपन्यास-कहानियों के शौकीन थे। राजा साहब ने 400/- प्रतिमास नक़द, मोटर, बँगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन माहशयों को यह कहकर कि मैं बहुत बागी आदमी हूँ, इसी वज़ह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी है, राजा साहब को एक ख़त लिखा, 'मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आप जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊंगा। एक साहित्य-सेवी, धनपत राय।'"¹

प्रेमचन्द जानते थे कि रियासतों का वातावरण कितना दूषित है, जहाँ जाकर भले लोग भी बिगड़ जाते हैं; क्योंकि मूलभूत दोष तो उस व्यवस्था का है। अतः उन्होंने न तो उस व्यवस्था को सुधारने या उसे आदर्श बनाने का प्रयत्न किया और न उससे समझौता ही किया। यदि राजाओं के प्रति प्रेमचन्द कटुता उत्पन्न न कर सके तो यह उनके मानवतावादी जीवन-दर्शन के कारण है। व्यक्ति-विशेष के प्रति कटुता उत्पन्न न कर उन्होंने उस व्यवस्था के प्रति ही विरोध प्रकट किया है।

देशी नरेशों और रियासतों पर प्रेमचन्द के विचारों को जानने के लिए

‘रंगभूमि’ (1924) और ‘कायाकल्प’ (1928) में चित्रित रियासतों और देशी नरेशों के जीवन पर दृष्टि डालना आवश्यक है। ‘रंगभूमि’ में कुँवर भरतसिंह, रानी जाह्नवी और विनयसिंह बनारस से संबंधित हैं, म्युनिसिपैलिटी के प्रधान, कुँवर भरतसिंह के दामाद महेन्द्रकुमार सिंह चतारी के राजा हैं, इंदु उनकी पत्नी हैं। बनारस के अतिरिक्त राजपूताने की रियासत उदयपुर-जसवंतनगर का भी विस्तार से चित्रण किया गया है; यहाँ उदयपुर के माहराजा और दीवान सरदार नीलकंठ सिंह प्रमुख हैं। इन दोनों प्रदेशों का संबंध ज़िला हाकिम और ज़िलाधीश मिस्टर जोसफ विलियम क्लार्क से आता है। उपर्युक्त पात्र रियासतों और देशी नरेशों की यथार्थ स्थिति का चित्र उपस्थित कर देते हैं। इसी प्रकार ‘कायाकल्प’ में जगदीशपुर की महारानी देवप्रिया और वहाँ के दीवान ठाकुर हरिसेवक सिंह तथा रानी साहिबा के चचेरे देवर और नए राजा साहब ठाकुर विशालसिंह हैं जिनके वसुमति, रामप्रिया और राहिणी नाम की तीन रानियाँ हैं और जो संतान-कामना के कारण पुत्रीवत् चौथी शादी करते हैं। जिस प्रकार ‘रंगभूमि’ में अंग्रेज़ हुक्काम मिस्टर क्लार्क हैं उसी प्रकार ‘कायाकल्प’ में ज़िले के मजिस्ट्रेट मि. जिम और फौज के कप्तान मि. सिम हैं। रियासती वातावरण में भले आदमी भी किस प्रकार बिगड़ जाते हैं यह बताने के लिए ‘रंगभूमि’ में विनय और ‘कायाकल्प’ में चक्रधर की संयोजना हुई है।

इन सब राजाओं के नैतिक बल का बड़ा ही यथार्थ और व्यंग्यात्मक चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। प्रेमचन्द ने बताया है कि कायरता का दूसरा नाम ‘राजा’ है। राजा से अभिप्राय देशी नरेशों से है जो भय के साक्षात् अवतार बने हुए हैं।

चतारी के राजा महेन्द्रकुमार सिंह अपनी पत्नी इंदु से जो अनेक पक्षों पर वार्तालाप करते हैं, वह उनके वास्तविक रूप को सामने ला देता है। सेवा-समितियों से सहानुभूति रखना भी उनके लिए आपत्तिजनक है। आत्म-स्वाधीनता जैसी कोई चीज़ उनमें नहीं पाई जाती। “तुम्हारी समझ में और मेरी समझ में बड़ा अंतर है। यदि मैं बोर्ड का प्रधान न होता, यदि मैं शासन का एक अंग न होता, अगर मैं रियासत का स्वामी न होता, तो स्वच्छंदता से प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में भाग लेता। वर्तमान स्थिति में मेरा किसी संस्था में भाग लेना इस बात का प्रमाण समझा जाएगा कि राज्याधिकारियों को उससे सहानुभूति है। मैं यह भ्रांति नहीं फैलाना चाहता।”²

समिति के सेवक गढ़वाल जाने के लिए स्टेशन पर एकत्र हो रहे थे। इंदु

अपने पिता महेन्द्रकुमार सिंह की कायरता की पर्याप्त भर्त्सना करके विनय से मिलने और समिति के सेवकों को विदा देने स्टेशन जाती है। उसके जाने पर राजा साहब सोचने लगे, “इसको ज़रा भी चिंता नहीं कि हुक्काम के कानों तक यह बात पहुँचेगी, तो वह मुझे क्या कहेंगे ! समाचार-पत्रों के संवाददाता यह वृत्तांत अवश्य ही लिखेंगे, और उपस्थित महिलाओं में चतारी की रानी का नाम मोटे अक्षरों में लिखा हुआ नज़र आएगा।”³

आगे जब उनका स्वाभिमान (?) जाग्रत होता है तो वे स्वयं स्टेशन पहुँचते हैं और इंदु से अपनी पूर्व दुर्बलता भी निःसंकोच स्वीकार करते हैं, “इंदु इतना अविश्वास मत करो...तुम्हारी यह बात मेरे मन में बैठ गई कि हुक्काम का विश्वासपात्र बने रहने के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान क्यों करते हो। नेकनाम रहना अच्छी बात है, किंतु नेकनामी के लिए सच्ची बातों में दबना अपनी आत्मा की हत्या करना है।”⁴ पर, जब उनके स्टेशन जाने का समाचार दैनिक पत्र में आलोचना सहित प्रकाशित हुआ तब वह सारा स्वाभिमान छू-मंतर हो गया। कमिश्नर साहब की संदेहात्मक दृष्टि से विचलित हो उठे। सारी रात इसी चिंता में डूबे रहे और प्रातःकाल जब दो-चार मित्र उनसे मिलने आए तब उसी समाचार की चर्चा हो उठी। एक साहब बोले, ‘मैं कमिश्नर से मिलने गया था, तो वह इसी लेख को पढ़ रहा था और रह-रहकर ज़मीन पर पैर पटकता था।’ इस पर राजा महेन्द्रकुमार सिंह के होश और उड़ गए। वे सीधे घबराये हुए कमिश्नर के बँगले पर पहुँचे। वहाँ अरदली के कहने पर एक घंटे प्रतीक्षा करते रहे और ऐसा कहकर कि मिस्टर जान सेवक को पांडेपुर की जमीन दिलाने के लिए जनता का विश्वासपात्र बनने का ढोंग रचा था, कमिश्नर को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। यही नहीं, मिस्टर सेवक तक से उन्हें डर है; क्योंकि मिस्टर सेवक और मिस्टर क्लार्क के सम्बन्ध अच्छे हैं। इस कारण वे अनुचित ढंग से भी मिस्टर सेवक की सहायता करने को उद्यत हैं। “तुम जानती हो, मिस्टर सेवक की यहाँ के अधिकारियों से कितनी राह-रस्म है। मिस्टर क्लार्क तो उनके द्वार के दरबान बने हुए हैं। अगर मैं उनकी इतनी सेवा न कर सका, तो हुक्काम का विश्वास मुझ से उठ जाएगा।”⁵

इस पर इंदुमती की टिप्पणी उनके सारे अधिकारों से खोखलेपन को उघाड़कर रख देती है, “मैं नहीं जानती थी कि प्रधान की दशा इतनी शोचनीय होती है।”⁶

प्रेमचन्द आगे चलकर प्रधान की यथार्थ स्थिति का चित्रण और विस्तार से करते हुए लिखते हैं, “प्रधान केवल राज्याधिकारियों के हाथ का खिलौना है। उनकी इच्छा से जो चाहे करे, उनकी इच्छा के प्रतिकूल कुछ नहीं कर सकता। वह संख्या-बिन्दु है, जिसका मूल्य केवल दूसरी संख्याओं के सहयोग पर निर्भर है।”⁷

स्वयं महेन्द्रकुमार सिंह के मुख से राजवर्ग की कापुरुषता और विवशता का वर्णन करवाते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, “तुम्हें मालूम नहीं, इन अंग्रेजी हुकाम के कितने अधिकार होते हैं। यो चाहूँ तो इसे नौकर रख लूँ, मगर इसकी एक शिकायत से मेरी आबरू खाक में मिल जाएगी। ऊपर वाले हाकिम इसके खिलाफ मेरी एक भी न सुनेंगे। रईसों को इतनी स्वतन्त्रता भी नहीं, जो एक साधारण किसान को है। हम सब इनके हाथों के खिलौने हैं, जब चाहे, ज़मीन पर पटक कर चूर-चूर कर दें।”⁸ और इस दयनीय दीनता पर इंदु अपने मन में सोचती है, “बच्चे हौआ से भी इतना न डरते होंगे।”⁹ राजाओं की भयग्रस्त स्थिति पर इससे सुन्दर व्यंग्य और क्या हो सकता है !

इसी प्रकार राजपूताने की रियासत उदयपुर-जसवंतनगर का भी वर्णन ‘रंगभूमि’ में मिलता है। रेज़िडेंट का दबदबा कितना रहता है इस पर दीवान सरकार नीलकंठ सिंह विनय से कहते हैं, “रेज़िडेंट साहब की इच्छा के विरुद्ध हम तिनका तक नहीं हिला सकते।”¹⁰ महाराजा अपने को ईश्वर का अवतार समझते हैं, पर वास्तव में देखा जाए तो वे भय के अवतार हैं। विनय से हुआ उनका वार्तलाप उनकी कायरता और नैतिक पतन पर भलि-भाँति प्रकाश डाल देता है “शिव-शिव ! बेटा, तुम राजनीति की चालें नहीं जानते। यहाँ एक कैदी भी छोड़ा गया, और रियासत पर वज्र गिरा। सरकार कहेगी, मेम को न जाने किस नीयत से छिपाए हुए है, कदाचित् उस पर मोहित है, तभी तो पहले दण्ड का स्वाँग भरकर विद्रोहियों को छोड़ देता है। शिव-शिव! रियासत धूल में मिल जाएगी, रसातल को चली जाएगी। कोई न पूछेगा कि यह बात सच है या झूठ। कहीं इस पर विचार न होगा। हरि-हरि ! हमारी दशा साधारण अपराधियों से भी गई-बीती है। उन्हें तो सफ़ाई देने का अवसर दिया जाता है, न्यायालय में उन पर कोई धारा लगाई जाती है और उसी धारा के अनुसार उन्हें दण्ड दिया जाता है। हमसे कौन सफ़ाई लेता है। हमारे लिए कौन-सा न्यायालय है ! हरि-हरि ! हमारे लिए न कोई कानून है, जो अपराध चाहा, लगा दिया। जो दण्ड चाहा दे दिया। न कहीं अपील है, न फ़रियाद। राजे विषय-प्रेमी कहलाते हैं ही, उन पर यह दोषारोपण होते कितनी देर

लगती है ! कहा जाएगा, तुमने क्लार्क की अति रूपवती मेम को अपने रनिवास में छिपा लिया और झूठ-मूठ उड़ा दिया कि वह गुम हो गई। हरि-हरि ! शिव-शिव ! सुनता हूँ, बड़ी रूपवती स्त्री है, चाँद का टुकड़ा है, अप्सरा है। बेटा, इस अवस्था में यह कलंक न लगाओ। वृद्धावस्था भी हमें ऐसे कुत्सित दोषों से नहीं बचा सकती। मशहूर है, राजा लोग रसादि का सेवन करते हैं, इसलिए जीवन-पर्यन्त हृष्ट-पुष्ट रहते हैं। शिव-शिव ! यह राज्य नहीं है, अपने कर्मों का दण्ड है। नकटा जिये बुरे हवाल ! शिव-शिव! जब कुछ नहीं हो सकता। सौ-पचास निर्दोष मनुष्यों का जेल में पड़ा रहना कोई असाधारण बात नहीं। वहाँ भी तो भोजन-वस्त्र मिलता है ही.....

विनय को राज से घृणा हो हो गई। सोचा, इतना नैतिक पतन, इतनी कायरता ! यों राज्य करने से डूब मरना अच्छा है।”¹¹

और उधर कुँवर भरतसिंह भी भयभीत होकर अपनी रियासत कोर्ट ऑफ़ वाड्स के सुपुर्द कर देते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने इन राजा-महाराजाओं के व्यक्तित्व को बड़े ही यथार्थ ढंग से चित्रित किया है, उस पर कोई आवरण नहीं डाला।

रियासत पर वास्तविक शासन पोलीटिकल एजेण्ट का रहता है; राजा उसी के संकेत पर नाचता है। उसको प्रसन्न करने के लिए वह अपने व्यक्तित्व का सर्वनाश तो करता ही है, प्रजा पर अत्याचार करने से कभी नहीं चूकता। मिस्टर क्लार्क पोलीटिकल एजेंट के पद का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सोफिया से कहते हैं, “ ‘हाँ, मैं एक रियासत का पोलीटिकल एजेण्ट बना दिया जाऊंगा। यह पद बड़े मज़े का है। राजा तो केवल नाम के लिए होता है, सारा अख्तियार तो एजेण्ट ही के हाथों में रहता है।’¹² उसका अधिकार सर्वत्र, यहाँ तक कि राजा के महल के अंदर भी होता है।... वह राजा के खाने, सोने, आराम करने का समय तक नियत कर सकता है। राजा किससे मिले, किससे दूर रहे, किसका आदर करे, किसकी अवहेलना करे, ये सब बातें एजेण्ट के अधीन हैं। वह यहाँ तक निश्चय करता है कि राजा की मेज़ पर कौन-कौन से प्याले आएंगे, राजा के लिए कैसे और कितने कपड़ों की ज़रूरत है, यहाँ तक कि कि राजा के विवाह का भी निश्चय करता है। बस, यों समझो कि वह रियासत का खुदा होता है।”¹³

इंदु के दुर्व्यवहार पर सोफ़िया के मुख से प्रेमचन्द कहलवाते हैं, “इसे अपनी रियासत का घर्मंड है ; मैं दिखा दूंगी कि वह सूर्य का स्वयं प्रकाश नहीं, चाँद की

पराधीन ज्योति है। इसे मालूम हो जाएगा कि राजा और रईस, सबके-सब शासनाधिकारियों के हाथ के खिलौने हैं।”¹⁴

सूरदास पर अत्याचार किए जाने के निर्णय पर सोफ़िया मिस्टर क्लार्क को इस बात का परिचय देती है कि राजा साहब इसका घोर विरोध करेंगे, इस पर मिस्टर क्लार्क किस ढंग से उत्तर देते हैं, “थुह ! उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है। वह जो कुछ करते हैं, हमारा रुख देखकर करते हैं। इसी वज़ह से उन्हें कभी असफलता नहीं होती। हाँ, उनमें यह विशेष गुण है कि वह हमारे प्रस्तावों का रूपान्तर करके अपना काम बना लेते हैं और उन्हें जनता के सामने ऐसी चतुरता से उपस्थित करते हैं कि लोगों की दृष्टि में उनका सम्मान बढ़ जाता है।”¹⁵

‘कायाकल्प’ में भी प्रेमचन्द राजा विशालसिंह का व्यक्तित्व इसी रंग में रँगकर चित्रित करते हैं। विशालसिंह ज़िले के मजिस्ट्रेट मिस्टर जिम से जब मिलने जाते हैं तब उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार होता है, “थोड़ी देर तक तो राजा साहब बाग में टहलते रहे। फिर मोटर पर जा बैठे और घंटे भर इधर-उधर घूमते रहे। 8 बजे वह लौटकर आए, तो मालूम हुआ, अभी साहब नहीं आए। फिर लौटे, इसी तरह घंटे-घंटे-भर के बाद वह तीन बार आए, मगर साहब बहादुर अभी तक न लौटे थे।

सोचन लगे, इतनी रात गये अगर मुलाक़ात हो भी गई, तो बातचीत करने का मौका कहाँ ! शराब के नशे में चूर होगा। आते ही सोने चला जाएगा। मगर कम-से-कम मुझे देखकर इतना तो समझ जाएगा कि वह बेचारे अभी तक खड़े हैं। शायद दया आ जाए।”¹⁶

और जिम के आने पर “जिम ओ ! डैम राजा अभी निकला जाओ। तुम भी बागी हो तुम बागी की सिफ़ारिश करता है, बागी को पनाह देता है। सरकार का दोस्त बनता है। अभी निकल जाओ। राजा और रैयत सब एक है। हम किसी का भरोसा नहीं करता। हमको अपने ज़ोर का भरोसा है। राजा का काम बागियों को पकड़वाना उनका पता लगाना है। उनका सिफ़ारिश करना नहीं। अभी निकल जाओ।

यह कहकर राजा साहब की ओर झपटा... राजा दीन भाव से बोले साहब, इतना जुल्म न कीजिए। इसका जरा भी खयाल न कीजिएगा कि मैं शाम से अब तक आपके रदवाज़े पर खड़ा हूँ! कहिए तो आपके पैरों पडूँ। जो कहिए, करने को हाज़िर हूँ। मेरी अर्ज़ कबूल कीजिए।

जिम ओ डैमिट ! बक-बक मत करो, सूअर, अभी निकल जाओ, नहीं तो हम ठोकर मारेगा।”¹⁷

आगे प्रेमचन्द ने विशालसिंह का जो क्रोध और मिस्टर जिम से उनका मल्ल-युद्ध बताया है उसका कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि जिम उस समय शराब में धुत् था।

विशाल सिंह के राजगढ़ी के उत्सव में शामिल होने के लिए दूर-दूर से राजा-महाराजा आए। प्रेमचन्द उनके कैम्प का वर्णन करते हुए लिखते हैं, “बड़े-बड़े नरेश आए थे। कोई चुने हुए दरबारियों के साथ, कोई लाव-लशकर लिए हुए। कहीं ऊदी वर्दियों की बहार थी, तो कहीं केसरिये बाने की। कोई रत्नजटित आभूषण पहने, कोई अंग्रेजी सूट से लैस, कोई इतना विद्वान कि विद्वानों में शिरोमणि, कोई इतना मूर्ख कि मूर्ख-मंडली की शोभा। कोई 5 घंटे स्नान करता था तो कोई सात घंटे पूजा। कोई दो बजे रात को सोकर उठता था, कोई दो बजे दिन को। रात-दिन तबले ठनकते रहते थे। कितने ही महाशय ऐसे भी थे, जिनका दिल अंग्रेजी कैम्प का चक्कर लगाने में ही कटता था। दो-चार सज्जन प्रजावदी भी थे।...विद्वान या मूर्ख, राजसत्ता के स्तम्भ या लोकसत्ता के भक्त, सभी अपने को ईश्वर का अवतार समझते थे, सभी गुरू के नशे में मतवाले, सभी विलासिता में डूबे हुए, एक भी ऐसा नहीं जिसमें चरित्र-बल हो, सिद्धांत-प्रेम हो, मर्यादा-शक्ति हो।”¹⁸

उसी कैम्प के राजाओं का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं “राजा-रईस अपनी वासनाओं के सिवा और किसी के गुलाम नहीं होते।”¹⁹

इस प्रकार राजाओं की कापुरुषता तथा उनके विलासी जीवन का चित्रण ‘रंगभूमि’ और ‘कायाकल्प’ में स्पष्ट रूप से किया गया है। इन राजाओं और रियासतों के अस्तित्व के पीछे जो कारण हैं उनका स्पष्टीकरण इंदु के मुख से प्रेमचन्द करवाते हैं, “हमारे पूर्वजों ने अंग्रेजों की उस समय प्राण-रक्षा की थी जब उनकी जानों के लाले पड़े हुए थे। सरकार उन अहसानों को मिटा नहीं सकती।”²⁰ राजाओं ने जो देशद्रोही कार्य तथा देश के प्रति जो विश्वासघात किया उसके फलस्वरूप ‘बख्शीश’ के रूप में उन्हें रियासतें दी गयीं।

राजाओं के चित्रण तक ही प्रेमचन्द इस समस्या को स्पर्श नहीं करते वरन् और भीतर रियासतों के शासन-प्रबंध पर भी प्रकाश डालते हैं। वास्तव में रियासतों के शासन-प्रबन्ध की दूषित प्रणाली बताना ही प्रेमचन्द का मुख्य उद्देश्य है। राजाओं का तो वे चित्रण करके ही छोड़ देते हैं, उनके प्रति घृणा का कोई भाव

पैदा नहीं होने देते। रियासती प्रबन्ध पर उन्होंने जगह-जगह जिस अतिरंजना या कटुता का परिचय दिया है, वह उक्त व्यवस्था की असारता व निरर्थकता का परिचायक है। जसवन्तनगर के शासन-प्रबन्ध पर डाकू वीरपाल विनय के प्रश्न पर टिप्पणी करता है

“वीरपाल-... ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे हैं। इनमें न दया है, न धर्म। हैं हमारे ही भाई-बन्द, पर हमारी गर्दन पर छुरी चलाते हैं। किसी ने ज़रा साफ़ कपड़े पहने, ओर लोग उनके सिर हुए। जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आपसे न बोलेगा। बस, कर्मचारियों की मुट्टियाँ गर्म करते रहिए। दिन-दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग़ छूट जाएंगे, आपके बदले कोई बेकसूर फ़ौसी पर लटका दिया जाएगा। कोई फ़रियाद नहीं सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। यही समझ लीजिए कि हिंसक जंतुओं का एक गोल है, सबके-सब मिलकर शिकार करते हैं मिल-जुलकर खाते हैं।”²¹

रियासत का डाकिया विनय से कहता है- “तलब है, वह साल-भर तक नहीं मिलती, लेकिन यहाँ जो ऊँचे ओहदे पर है, उसका पेट भी उतना ही बड़ा है।”²²

न्यायालयों पर व्यंग्य करता हुआ वीरपाल विनय से कहता है, “यहाँ के न्यायालयों से न्याय की आशा रखना चिड़ियों से दूध निकलाना है। हम सबके-सब इन्हीं अदालतों के मारे हुए हैं। मैंने कोई अपराध नहीं किया था, मैं अपने गाँव का मुखिया था; किन्तु मेरी सारी जायदाद केवल इसलिए जब्त कर ली गयी कि मैंने एक असहाय युवती को इलाक़ेदार के हाथ से बचाया था।.... बस, इलाक़ेदार उसी दिन से मेरा जानी दुश्मन हो गया। मुझ पर चोरी का अभियोग लगाकर क़ैद करा दिया। अदालत अंधी थी, जैसा इलाक़ेदार ने कहा, वैसा न्यायाधीश ने किया। ऐसी अदालतों से आप व्यर्थ की आशा रखते हैं।”²³

बड़े-बड़े अफ़सरों पर व्यंग्य करते हुए वीरपाल विनय से कहता है, “रियासत आप जैसे धर्मपरायण, निर्भीक और स्वाधीन पुरुष के रहने योग्य जगह नहीं है, यहाँ उसी का निबाह है, जो परले दर्जे का घाघ, कपटी, पाखंडी और दुरात्मा हो, अपना काम निकालने के लिए बुरे-से-बुरा काम करने से भी न हिचके।”²⁴

वीरपाल ने जहाँ रियासत की स्थिति का वर्णन सीधे ढंग से अथवा व्यंग्य के साथ किया है; वहाँ दीवान बड़े आलंकारिक ढंग से शासन का वर्णन करते हैं,

“रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिए, जहाँ सूर्य का भी गुज़र नहीं हो सकता। हम सब इस हरमसरा के बख्शी ख्वाजासरा हैं। हम किसी की प्रेमरसपूर्ण दृष्टि को इधर उठने न देंगे, कोई मनचला जवान इधर क़दम रखने का साहस नहीं कर सकता। अगर ऐसा हो, तो हम अपने पद के अयोग्य समझे जाएँ। हमारा रसीला बादशाह, इच्छानुसार मनोविनोद के लिए, कभी-कभी पदार्पण करता है। हरमसरा के सोये भाग्य उस दिन जाग जाते हैं। ... आपने इस हरमसरा में घुस आने का दुस्साहस किया है, यह हमारे रसीले बादशाह की एक आँख नहीं भाता, और आप अकेले नहीं हैं, आपके साथ समाज-सेवकों का एक जत्था है। इस जत्थे के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकाएँ हो रही हैं। नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्द हो सके, यह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाए।.....हम आपको अपने प्रेम-कुंज में आग न लगाने देंगे।”²⁵

रियासतों का सम्बन्ध अफ़सरों की मनमानी पर निर्भर है। दीवान साहब कहते हैं, “सरकार की रक्षा में हम मनमानी कर वसूल करते हैं, मनमाने कानून हैं, मनमाने दंड लेते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता।”²⁶

विनयसिंह के कारावास-दंड पर डाक्टर गांगुली अधिकारियों की निरंकुशता पर कहते हैं, “वहाँ का हाकिम लोग खुद पतित है। डरता है, रियासत में स्वाधीन विचारों का प्रसार हो जाएगा, तो हम प्रजा को कैसे लूटेगा। राजा मसनद लगाकर बैठा रहता है, उसका नौकर-चाकर मनमाना राज करता है।”²⁷

अफ़सरों की मनमानी का एक और उदाहरण वह घोषणा है जिसमें कहा गया है कि जसवंतनगर एक सप्ताह के लिए खाली कर दिया जाए। इस घोषणा पर सोफ़िया का मत रियासतों के प्रबन्ध की खुली आलोचना करता है, “ऐसी ज़्यादाती रियासतों के सिवा और कहीं नहीं हो सकती।”²⁸

प्रेमचन्द बताते हैं कि इन रियासतों का शासन-प्रबन्ध न्याय पर नहीं, आंतक पर निर्भर है। सरदार नीलकंठ सिंह विनय से कहता है, “.....उनके दिल से रियासत का भय जाता रहेगा, और जब भय न रहा, तो राज्य भी नहीं रह सकता। राज्य-व्यवस्था का आधार न्याय नहीं, भय है।”²⁹

रियासती अफ़सरों के मनमाने अत्याचारों का वर्णन ‘कायाकल्प’ में भी विस्तार से किया गया है। मनोरमा चक्रधर से कहती है, “अभी एक गोरा आ जाए, तो घर में दुम दबाकर भागेंगे। उस वक्त जबान भी न खुलेगी। उससे ज़रा आँखें मिलाइए तो देखिए, ठोकर जमाता है या नहीं। उससे तो बोलने की हिम्मत नहीं,

बेचारे दीनों को सताते फिरते हैं। यह तो मारे को मारना हुआ। इसे हुकूमत नहीं कहते। यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मुरदे और गिद्ध का तमाशा है।”³⁰

आदर्श राजाओं की बात अब कल्पना में ही सत्य हो सकती है। प्रेमचन्द इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे, इसलिए उन्होंने उस आदर्श व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न नहीं किया। समय बदल जाने पर आदर्श भी बदल जाते थे। प्रेमचन्द लिखते हैं, “अब ज़माना नहीं रहा, जब राजे-रईसों के नाम आदर से लिए जाते थे, जनता को स्वयं ही उनमें भक्ति हाती थी। वे दिन विदा हो गए। ऐश्वर्य-भक्ति प्राचीन काल की राज्य-भक्ति का एक अंश थी। प्रजा अपने राजा, जागीरदार, यहाँ तक कि अपने जमींदार पर सिर कटा देती थी। वह सर्वमान्य नीति-सिद्धान्त था कि राजा भोक्ता है, प्रजा भोग्य है। यही सृष्टि का नियम था, लेकिन आज राजा और प्रजा में भोक्ता और भोग्य का सम्बन्ध नहीं है, जन-सेवक और सेव्य का सम्बन्ध है। अब अगर किसी राजा की इज्जत है, तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति के कारण, अन्यथा उसकी दशा दाँतों तले दबी हुई जिह्वा की-सी है।”³¹

फिर रियासतों की समस्या क्या है? प्रेमचन्द विनय के एक वाक्य में रियासतों के भविष्य पर लिखते हैं, “इससे तो यह कहीं अच्छा था कि रियासतों का निशान ही न रहता।”³² रियासतों और राजाओं की निरर्थकता प्रेमचन्द ने ‘रंगभूमि’ और ‘कायाकल्प’ में भली-भाँति प्रकट कर दी है। रियासतों और देशी नरेशों का सारा दबदबा अंग्रेज़ी सत्ता के कारण था, यह बात आज सिद्ध हो चुकी है।

संदर्भ-संकेत

- 1 प्रेमचंद : घर में, पृ. 97
- 2 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 272
- 3 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 275
- 4 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 280
- 5 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 282
- 6 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 287
- 7 वही
- 8 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 288
- 9 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 294
- 10 वही
- 11 ‘रंगभूमि’ (भाग-1), पृ. 231
- 12 ‘रंगभूमि’ (भाग-2), पृ. 207-209

- 13 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 410
- 14 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 414
- 15 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 343
- 16 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 347-348
- 17 'कायाकल्प', पृ. 205-206
- 18 'कायाकल्प', पृ. 134
- 19 'कायाकल्प', पृ. 146
- 20 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 371
- 21 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 302-303
- 22 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 304-305
- 23 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 313-314
- 24 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 314
- 25 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 319-320
- 26 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 321
- 27 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 429
- 28 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 36
- 29 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 200
- 30 'कायाकल्प', पृ. 133
- 31 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 266
- 32 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 329

साम्प्रदायिक सौमनस्य

यहाँ साम्प्रदायिकता से अभिप्राय हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायों से है। भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम के झगड़े बहुत पुराने समय से चले आ रहे हैं। अतः हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या नई नहीं है; उसका अपना इतिहास है। इस्लाम धर्म जेता बनकर इस देश में आया। हिन्दुत्व का विनाश करके उसने अपना प्रसार करना चाहा। इस्लाम की मजहबी कट्टरता ने उसे और उग्र बना दिया। अतः प्रारम्भ में इस्लाम एक आक्रमक शक्ति थी। मुगल शासनकाल में उसे फैलाने के सभी अच्छे-बुरे साधन काम में लाये गए। दुर्भाग्य से, हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों में कटुता की भावना प्रारम्भ से ही उत्पन्न हो गई थी। मध्ययुगीन सन्तों और सूफियों ने हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव दूर करने में काफ़ी सहायता पहुँचाई। यदि सन्तों की परम्परा आगे और विकसित हुई होती तो सम्भव था, उक्त समस्या का महत्त्व नगण्य रह जाता, लेकिन ब्रिटिश शासन का सबसे बड़ा दुष्परिणाम हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के रूप में सामने आया। हिन्दुओं-मुसलमानों को आपस में लड़ाकर अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन की नींव मजबूत की और कूटनीतिक तौर-तरीकों से ऐसी भयावह स्थिति पैदा कर दी कि उक्त समस्या दिन-पर-दिन उलझती ही गई। उसे सुलझाने के सारे नेक उपाय व्यर्थ प्रमाणित हुए। इतिहास से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आधार धार्मिक नहीं है, वरन् उसका विशिष्ट राजनीतिक पहलू है; जिसने एकता के किसी भी प्रयत्न को कारगर सिद्ध नहीं होने दिया। ऊपरी तौर पर उसका रूप धार्मिक दिखाई देता है, लेकिन वास्तव में धर्म को तो, राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के लिए, मात्र 'हथियार' के रूप में इस्तेमाल किया गया। यदि राजनीतिक पहलू मूल में नहीं होता तो केवल धर्म के कारण इन दो जातियों में इतना वैमनस्य कभी नहीं बढ़ता। भारत में अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं और उनमें इतनी कटुता ढूँढ़े भी नहीं मिलती;

जितनी कि हिन्दू और इस्लाम धर्म के मानने वालों में पाई जाती है।

इस राजनीतिक पहलू से हिन्दू और मुसलमान कभी अपरिचित नहीं रहे, लेकिन व्यक्तिगत स्वार्थों ने उन्हें उचित मार्ग पर नहीं आने दिया। हिन्दुओं और मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति का निर्माण करने के प्रयत्न जब निजी स्वार्थों से टकराये, तब मज़हब के नाम पर सीधी और धर्मपरायण जनता को बरगलाया गया और दंगे-फ़सादों को प्रोत्साहित किया गया। अन्त में अंग्रेजों की चाल सफल हुई। देश को कमज़ोर बनाने की नीयत से उसका विभाजन कर दिया गया। लेकिन देश का विभाजन हिन्दू-मुस्लिम समस्या का कोई हल नहीं है। केवल कुछ लोगों की स्वार्थ-भावना की सिद्धि व तृप्ति ही इससे हुई।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जिस तरह अनेक समस्याओं को स्थान दिया है; उसी तरह उनमें हिन्दू-मुस्लिम समस्या का भी प्रवेश किया गया है। 'कायाकल्प' में तो इस विषय पर बहुत विस्तार से लिखा गया है। प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम एकता के जबरदस्त समर्थक थे। उनकी रचनाएँ हिन्दू और मुसलमान दोनों समान चाव से पढ़ते हैं। उपन्यासों के अतिरिक्त अनेक कहानियों में भी वे इस प्रश्न को लेकर चले हैं और उनमें वहाँ मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की है।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के क्या कारण हैं, कौन-से तत्त्व इन झगड़ों को उत्तेजना देते हैं, इस समस्या के सुलझाने का यथार्थ और स्थायी हल क्या हो जाता है आदि विषयों पर प्रेमचन्द ने अपने विचार अपने उपन्यासों में जगह-जगह व्यक्त किये हैं।

'कायाकल्प' में यह समस्या गाय की कुरबानी को मुख्य विषय बनाकर उपस्थित की गई है। आगरा शहर में गाय की कुरबानी पर फ़साद हो जाता है। इस तरह के फ़साद कौन लोग करवाते हैं ? आगरा हिन्दू सभा एवं सेवा-समिति के सदस्य यशोदानन्दन जब बनारस से लौटकर आगरा आते हैं तो एक थानेदार उनका भी असबाब देखना शुरू करता है। इस पर यशोदानन्दन आश्चर्य से पूछते हैं, "क्यों साहब, आज यह सख़्ती क्यों है ?

थानेदार आप लोगों ने जो काँटे बोये हैं, उन्हीं का फल है। शहर में फ़साद हो गया है।

यशोदा अभी तीन दिन पहले तो अमन का राज्य था, यह भूत कहाँ से उठ खड़ा हुआ ?

इतने में समिति का एक सेवक दौड़ता हुआ आ पहुँचा। यशोदानन्दन ने आगे बढ़कर पूछा क्यों राधामोहन, यह क्या मामला हो गया ? अभी जिस दिन

में गया हूँ, उस दिन तक तो दंगे का कोई लक्षण न था।

राधा जिस दिन आप गये, उसी दिन पंजाब से मौलवी दीन मुहम्मद साहब का आगमन हुआ। खुले मैदान में मुसलमानों का एक बड़ा जलसा हुआ। उसमें मौलाना साहब ने जाने क्या ज़हर उगला कि तभी से मुसलमानों को कुरबानी की धुन सवार है। इधर हिन्दुओं को यह ज़िद है कि चाहे खून की नदी बह जाए, पर कुरबानी न होने पायेगी। दोनों तरफ़ से तैयारियाँ हो रही हैं, हम लोग तो समझाकर हार गये।”¹

इसमें संदेह नहीं कि इन फ़सादों को चाहे किसी भी उद्देश्य से पैदा किया जाता हो, पर इनको उत्तेजना मज़हब से ही मिलती है। मज़हब भी वह, जिसे दक्कियानूस मौलवी या पंडे बताते हैं। धर्म के नाम पर ही यह सारे कुकृत्य होते हैं, अच्छे-अच्छे लोग धार्मिक भावावेश में आकर हिंसक बन जाते हैं, पथभ्रष्ट हो जाते हैं, मानवताहीन हो जाते हैं। ख्वाजा महमूद जिन्हें हिन्दू फरिश्ता समझते थे, जो हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली सेवा-समिति के सदस्य थे, मौलवी दीन मुहम्मद साहब की तक्रार से इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि कुरबानी को लेकर होनेवाले फ़साद का नेतृत्व करने लगते हैं। यशोदानन्दन इस कायापलट पर अपना मत प्रकट करता है, “अगर महमूद में सचमुच यह कायापलट हो गई है, तो यही कहूंगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करनेवाली वस्तु संसार में नहीं।”²

इधर हिन्दू भी उत्तेजित हो जाते हैं। स्वयं यशोदानन्दन, जिसने अभी तक मानसिक सन्तुलन नहीं खोया था, चुनौती के स्वर में कहता है, “ख्वाजा महमूद के द्वार पर कुरबानी होगी। उनके द्वार पर इसके पहले या तो मेरी कुरबानी हो जायगी या ख्वाजा मुहम्मद की।” और ताँगे में बैठकर वे तुरन्त रंगभूमि पर पहुँच जाते हैं; जहाँ ख्वाजा महमूद से उनकी भेंट होती है।

यशोदानन्दन ने तयोरियाँ बदलकर कहा “क्यों ख्वाजा साहब, आपको याद है, इस मुहल्ले में कभी कुरबानी हुई है ?

महमूद जी नहीं, जहाँ तक मेरा खयाल है, यहाँ कभी कुरबानी नहीं हुई।

यशोदा तो फिर आज आप यहाँ कुरबानी करने की नयी रस्म क्यों निकाल रहे हैं ?

महमूद इसलिये कि कुरबानी करना हमारा हक़ है। अब तक हम आपके ज़ब्बात का लिहाज़ करते थे, अपने माने हुए हक़ को भूल गये थे; लेकिन जब आप लोग अपने हकों के सामने हमारे ज़ब्बात की परवाह नहीं करते, तो कोई

वज़ह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके ज़ुबान की परवा करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक़ हासिल है, लेकिन कम-से-कम पाँच-सौ बरसों में आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुर्दा हक़ को ज़िन्दा किया है। इसलिए न कि मुसलमानों की ताक़त और असर कम हो जाए। जब आप हमें ज़ेर करने के लिए नये-नये हथियार निकाल रहे हैं, तो हमारे लिए इसके सिवा और क्या चारा है कि हम अपने हथियार को दूनी ताक़त से चलायें।

यशोदा इसके यह मानी है कि कल आप हमारे द्वारों पर, हमारे मन्दिरों के सामने, कुरबानी करें और हम चुपचाप देखा करें। आप यहाँ हरगिज़ कुरबानी नहीं कर सकते और करेंगे तो इसकी ज़िम्मेदारी आपके सिर होगी।”³

प्रेमचन्द ने यहाँ, और आगे भी यह बताया है कि यदि दोनों कौमों एक-दूसरे की भावनाओं का खयाल रखने लगे तो बहुत-से ऐसे मामूली झगड़े जो आगे चलकर भीषण दंगे का रूप ले लेते हैं, अपने-आप सामप्त हो जाँएँ। एक गाय के पीछे, एक पशु के पीछे इन्सानों का खून बहाना कभी भी मानवीय नहीं कहा जा सकता। गौ-हत्या यदि पाप है तो मानव-हत्या महापाप। यशोदानन्दन से चक्रधर कहता है, “अहिंसा का नियम गौओं के लिए ही नहीं, मनुष्यों के लिए भी तो है।”⁴ निःसन्देह गौ-हत्या भी जिस दृष्टिकोण से की जाती है वह भी नितांत अनुचित है। मूल कारण मनुष्य की, विचार से काम न लेने की प्रवृत्ति है। यशोदानन्दन और चक्रधर वाद-विवाद करते हैं

“यशोदा कैसी बातें करते हो जी ! क्या यहाँ खड़े होकर अपनी आँखों से गौ की हत्या होते देखें ?

चक्रधर अगर आप एक बार दिल थामकर देख लेंगे, तो यकीन है कि फिर आपको कभी यह दृश्य न देखना पड़ेगा।

यशोदा हम इतने उदार नहीं हैं।...

चक्रधर तो फिर आइये, लेकिन उस गौ को बचाने के लिए आपको एक भाई का खून करना पड़ेगा।”⁵

यहाँ प्रेमचन्द बड़े यथार्थ ढंग से समस्या प्रस्तुत कर रहे थे कि अंत में चक्रधर को गांधीवादी बनाकर समस्या को वैयक्तिक रूप दे देते हैं। चक्रधर हिन्दुओं को, इस प्रकार शांत करके, फिर मुसलमानों के बीच में जाता है। प्रेमचन्द, इस्लाम की उदारता की ओर संकेत करवाते हुए, चक्रधर से, एक-दूसरे की

भावनाओं की कद्र करने वाली बात को यहाँ पुनः दोहराते हैं, “इस्लाम की इज्जत मेरे दिल में है, वह मुझे बोलने के लिए मजबूर कर रही है। इस्लाम ने कभी दूसरे मज़हब वालों की दिलजारी नहीं की। उसने हमेशा ज़ुबात का एहताराम किया है, बगदाद और रूस, स्पेन और मिस्र की तारीखें उस मज़हबी आज़ादी की शाहिद हैं, जो इस्लाम ने उन्हें अता की थीं। अगर आप हिन्दू ज़ुबात का लिहाज़ करके किसी दूसरी जगह कुरबानी करें, तो यकीनन इस्लाम के वकार में फ़र्क न आयेगा।”⁶

मनुष्यता सद्बिचारों के सम्मुख सोयी नहीं रह सकती। ख्वाजा महमूद जो मौलवी दीन मुहम्मद के भाषणों से मानवता-विरोधी कार्य करने को उद्यत हो गए थे, चक्रधर की विवेकसंगत दलील सुनकर सचेत हो जाते हैं। प्रेमचन्द यहाँ पर भी झगड़ों के उकसानेवालों का भली-भाँति पर्दाफाश करते हैं, “ख्वाजा महमूद बड़े ग़ौर से चक्रधर की बातें सुन रहे थे। मौलवी साहब की उद्दण्टता पर चिहुँककर बोले क्या शरीयत का हुक़म है कि कुरबानी यहीं हो ? किसी दूसरी जगह नहीं की जा सकती ?.....

आपको तो अपने हलवे भाड़े से काम है, जिम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयेगी, दुकानें तो हमारी लुटेंगी, आपके पास फटे बोरिया और बधने के सिवा और क्या रहा है ?...

चक्रधर हर एक कुरबानी हिन्दुस्तान से 21 करोड़ हिन्दुओं के दिलों को जख्मी कर देती है, और इतनी बड़ी तादात के दिलों को दुखाना बड़ी-से-बड़ी क़ौम के लिए भी एक दिन पछतावे का वाइस हो सकता है। हिन्दुओं से ज़्यादा बेतअस्सुब क़ौम दुनिया में नहीं है; लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिए कुरबानी चाहते हैं, तो उनको सदमा ज़रूर होता है और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप खयाल नहीं कर सकते। अगर आपको यकीन न आये, तो देख लीजिये कि इस गाय के साथ एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे सकता है।”⁷

जिस तरह हिन्दुओं के धार्मिक जोश को शान्त करने के लिए चक्रधर गांधीवादी ढंग अपनाता है, उसी तरह मुसलमानों को शान्त करने के लिए भी

“ यह कहते हुए चक्रधर ने तेज़ी से लपककर गाय की गरदन पकड़ ली और बोला, आपको इस गौ के साथ एक इन्सान की कुरबानी करनी पड़ेगी।

चक्रधर मैं एक खुदा का कायल हूँ। वही सारे जहान का ख़ालिक और

मालिक है। फिर और किस पर ईमान लाऊँ !

ख्वाजा वल्लाह, तब तो तुम सच्चे मुसलमान हो। हमारे हज़रत को अल्लाहताला का रसूल मानते हो ?

चक्रधर बेशक मानता हूँ, उनकी इज्जत करता हूँ और उनकी तौहीद का क़ायल हूँ।

ख्वाजा हमारे साथ खाने-पीने से परहेज़ नहीं करते ?

चक्रधर ज़रूर करता हूँ, उसी तरह, जैसे किसी ब्राह्मण के साथ खाने से परहेज़ करता हूँ, अगर वह पाक-साफ़ न हो।

ख्वाजा काश, तुम जैसे समझदार तुम्हारे और भाई भी होते ; मगर यहाँ तो लोग हमें मलेच्छ कहते हैं। यहाँ तक कि हमें कुत्ते से भी नजिस समझते हैं। उनकी थालियों में कुत्ते खाते हैं, पर मुसलमान उनके गिलास में पानी नहीं पी सकता... अब कुछ-कुछ उम्मीद हो रही है कि शायद दोनों कौमों में इत्तफ़ाक हो जाय।”⁸

प्रेमचन्द ने उक्त प्रकरण को समाप्त करने में जो भी ढंग अपनाया हो, पर यह बात निर्विवाद है कि हिन्दू-मुस्लिम फ़सादों के पीछे गाय की कुरबानी, जो प्रायः मूल कारण के रूप में सामने आती है, उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उपन्यासकार इससे अधिक विस्तार उक्त प्रकरण को दे भी नहीं सकता। यह प्रेमचन्द जी की ही कला है जो इन अनेक बातों का समावेश करके भी उपन्यास की रोचकता को कम नहीं होने देते।

वास्तव में इस तरह के दंगे न हिन्दू चाहते हैं और न मुसलमान। छोटे या बड़े सभी झगड़ों की बुनियाद में भय का भाव निहित है। जब हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे से भयभीत होना छोड़ देंगे तब यह साम्प्रदायिक वातावरण स्वतः सुधर जाएगा। चक्रधर मनोरमा से कहता है, “मुसलमानों को लोग नाहक बदनाम करते हैं। फ़साद से वे भी उतना ही डरते हैं, जितना हिन्दू। शान्ति की इच्छा भी उनमें हिन्दुओं से कम नहीं है। लोगों का यह ख्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं, बिल्कुल ग़लत है। मुसलमानों को केवल यह शंका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना वैर चुकाना चाहते हैं और उनकी हस्ती को मिटा देने की फ़िक्र कर रहे हैं। इसी भय से वे ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठते हैं और मरने-मारने पर, आमामदा हो जाते हैं।”⁹ दूसरे, कुछ लोग अपने निजी लाभ के लिए भी इन झगड़ों को बनाए रखना चाहते हैं। अहल्या से ख्वाजा महमूद कहते

हैं, “दोनों कौमों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी इज्जत और सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक-न-एक शिगूफ़ा छोड़ा करते हैं। मेरा तो कौल है कि हिन्दू रहो, चाहे मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बन्दे रहो। सारी खूबियाँ किसी एक ही कौम के हिस्से में नहीं आतीं; न सभी हिन्दू राक्षस हैं, न सब मुसलमान देवता हैं; इसी तरह न सभी हिन्दू काफ़िर हैं, न सभी मुसलमान मोमिन। जो आदमी दूसरी कौम से जितनी नफ़रत करता है, समझ लीजिए कि वह खुदा से उतनी ही दूर है।”¹⁰ ऐसे लोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को दूषित करते हैं।

‘सेवासदन’ में एक इमामबाड़े का वली तेगअली कहता है, “इस वक़्त, उर्दू-हिन्दी का झगड़ा, गौकशी का मसला, जुदागाना इन्तखाब, सूद का मुआविजा कानून, इन सबों से मज़हबी तास्सुब के भड़काने में मदद ली जा रही है।”¹¹

‘कायाकल्प’ का पच्चीसवाँ परिच्छेद प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक समस्या के निमित्त ही लिखा है। इस परिच्छेद में साम्प्रदायिक दंगों के कारणों, उसके स्वरूप और परिणाम पर बड़ी विस्तृत चर्चा है। प्रेमचन्द लिखते हैं, “.....हिन्दुओं और मुसलमानों में आए दिन जूतियाँ चलती रहती थीं।.....निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाए जाते थे। ... मुसलमानों ने बजाजे खोले, हिन्दू नैचे बाँधने लगे। सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम ज़िला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते। दोनों देवताओं के भाग्य जागे; जहाँ कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहाँ पुजारी जी की भंग घुटने लगी। मस्जिदों के दिन फिरे, मुल्लाओं ने अबाबीलों को बदख़ल किया। जहाँ सांड जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हँडिया चढ़ी। हिन्दुओं ने ‘महावीर दल’ बनाया, मुसलमानों ‘अलीगोल’ सजाया। ठाकुर द्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी, मस्जिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फ़तवा दिया, जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकला ले जाये, उसे एक हज़ार हजों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।”¹² आगे चलकर, होली के अवसर पर, भयंकर दंगा हो जाता है। प्रेमचन्द ने दंगे का जो विस्तृत वर्णन दिया है, उसे पढ़कर पाठक का हृदय विक्षोभ से भर उठता है और उसे साम्प्रदायिकता से घृणा हो जाती है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, साम्प्रदायिक समस्या को अंग्रेज़

साम्राज्यवादियों ने राजनीतिक रूप दे रखा था। फूट डालकर शासन करने की नीयत अपना कर अंग्रेज़ अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहते थे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव पनपने दिया। दोनों कौमों के सम्बन्ध किस सीमा तक पहुँच चुके थे, उनका स्पष्ट वर्णन प्रेमचन्द तेगअली के मुँह से करवाते हैं, “आजकल पोलिटिकल मफ़ाद का ज़ोर है, हक़ और इन्साफ़ का नाम न लीजिये। अगर आप मुदरिस हैं तो हिन्दू लड़कों को फेल कीजिए ; तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइए ; मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं को सजाएँ दीजिए ; सब इन्स्पेक्टर पुलिस हैं तो हिन्दुओं पर झूठे मुकदमें दायर कीजिए; तहकीकात करने जाइए तो हिन्दुओं के बयान ग़लत लिखिए; अगर आप चोर हैं तो किसी हिन्दू के घर डाका डालिए ; अगर आपको हुस्न और इश्क का ख़ुब है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उड़ाइए, तब आप कौम के ख़ादिम, कौन के मुहसिन, कौमी किस्ती के नाखुदा सब कुछ हैं।”¹³ ऐसी स्थिति में यह समस्या दिन-पर-दिन जटिल होती गई।

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक समस्या के हल के निमित्त कई सुझाव अपने उपन्यासों में दिये हैं। सर्वप्रथम धर्म की सच्ची शिक्षा देना आवश्यक है। धर्मान्धता का विरोध करते हुए चक्रधर कहता है, “जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा होगी। मुश्किल यह है कि जिन महान् पुरुषों से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढ़कर उद्वण्ड हो जाते हैं। मैं तो नीति को धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक-सी है। अगर अन्तर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्बिचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। ये मानव जाति के निर्माता हैं। जो इनमें से किसी का अनादर करता है या उनकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचय देता है। बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिए कि यह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस धर्म का आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा। हमें अगर संसार में जीवित रहना है, तो अपने हृदय में इन्हीं बातों का संचार करना पड़ेगा।”¹⁴

दूसरी आवश्यकता मध्ययुगीन इतिहास को स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टि से लिखने की है। साम्राज्यवादियों ने भारत के इतिहास को अपने दृष्टिकोण से लिखा है। उन्होंने वहाँ हिन्दू और मुग़ल बादशाहों के वर्णन में इस वैमनस्य को गाढ़ा

करके बताया है और आगामी पीढ़ियों के हृदयों में द्वेष की विषैली भावनाएँ भरने के प्रयत्न किये हैं। 'कर्मभूमि' से ज़िला हाकिम गजनवी ग़लत तवारीख़ के सम्बन्ध में सलीम से कहता है, "ग़लत तवारीख़ें पढ़-पढ़कर दोनों फ़िरके एक-दूसरे के दुश्मन हो गये हैं और मुमकिन नहीं कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानों से फौजी अदावतों का बदला न लें, लेकिन इस ख्याल से तसल्ली होती है कि इस बीसवीं सदी से हिन्दुओं जैसी पढ़ी-लिखी जमाअत मज़हबी गिरोहबन्दी की पनाह नहीं ले सकती। मज़हब का दौरा तो खत्म हो रहा है, बल्कि यों कहें कि खत्म हो गया। सिर्फ़ हिन्दुस्तान में उसमें कुछ-कुछ जान बाकी है। यह तो दौलत का ज़माना है। अब कौम में अमीर और ग़रीब, जायदाद वाले और मर-भूखे, अपनी-अपनी जमाअतें बनायेंगे। उनमें कहीं ज़्यादा खूरेजी होगी, कहीं ज़्यादा तंगदिली होगी। आख़िर एक-दो सदी के बाद दुनिया में एक सल्तनत हो जायगी। सबका एक क़ानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मज़हब शख़्सी चीज़ होगी।"¹⁵

तीसरे, प्रेमचन्द ने आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए पंचायत का सुझाव भी रखा है। 'कायाकल्प' में ख्वाजा महमूद और चक्रधर तय करते हैं, "एक पंचायत बनायी जाए और आपस के झगड़े उसी के द्वारा तय हुआ करें।"¹⁶

हिन्दू-मुसलमान एकता के बड़े मार्मिक चित्र प्रेमचन्द-साहित्य में विद्यमान हैं। 'कर्मभूमि' में लाला समरकान्त और सलीम के भोजन करने का दृश्य हमारे घायल हृदय पर मरहम का काम करता है। प्रेमचन्द छुआछूत की असारता कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं, "भोजन का समय आ गया था। सलीम ने पूछा, 'आपके लिए क्या खाना बनावाऊँ ?... मैं तो आज आपको अपने साथ बैठाकर खिलाऊंगा।'"

"तुम प्याज, मांस, अण्डे खाते हो। मुझसे उन बर्तनों में खाया ही न जायगा।"

"मगर मेरे साथ बैठना पड़ेगा। मैं रोज़ साबुन लगाकर नहाता हूँ।...आपका खाना हिन्दू बनाएगा।"

...सेठजी सन्ध्या करके लौटे, तो देखा, दो कम्बल बिछे हुए हैं और दो थालियाँ रखी हुई हैं।

सेठजी ने खुश होकर कहा, 'यह तुमने बहुत अच्छा इन्तज़ाम किया।'

सलीम ने हँसकर कहा, 'मैंने सोचा, आपका धर्म क्यों लूँ, नहीं एक ही

कम्बल रखता।’

‘अगर यह खयाल है तो तुम मेरे कम्बल पर आ जाओ। नहीं, मैं ही आता हूँ।’

वह थाली उठाकर सलीम के कम्बल पर आ बैठे। अपने विचार में आज उन्होंने अपने जीवन का सबसे महान त्याग किया। सारी सम्पत्ति दान देकर भी उनका हृदय गौरवान्वित न होगा।

सलीम ने चुटकी ली, ‘अब तो आप मुसलमान हो गए।’

सेठजी बोले, मैं मुसलमान नहीं हुआ। तुम हिन्दू हो गए।”¹⁷

स्पष्ट है, प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने वाला लेखक उपर्युक्त बातों को अपने उपन्यास में कोई स्थान नहीं देगा; जबकि प्रेमचन्द उनको स्थान ही नहीं, बड़ा महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। यदि उनके उपन्यासों में से ये स्थल या ऐसे स्थान निकाल दिया जाए तो उनके उपन्यास निश्चय ही अपना प्रभाव खो देंगे। जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना को प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया था और मानवता को उच्च विचारों की जो अमूल्य सम्पत्ति सौंपी थी वह काम में नहीं लाई गई। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य किस सीमा तक गया। कैसी-कैसी अमानुषिक नृशंस हत्याएँ की गईं। यदि प्रेमचन्द आज जीवित होते तो यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि उनके उपन्यासों में कितनी आग होती। मनुष्य को सभ्य बनाने के लिए साहित्य सबसे प्रभावशाली माध्यम है। साहित्यकारों की कृतियों का जनता में समुचित प्रचार होना चाहिए। राजनीतिज्ञों के मात्र भाषणों से जनता के हृदय पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता। प्रेमचन्द ने जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वप्न देखा था वह उनके जीवन-काल में तो साकार न हो सका। आगे तो उस एकता की नींव ही ढहती जात हुई। पर, जब तक प्रेमचन्द-साहित्य जीवित है, साम्प्रदायिकता की घृणित दानवी कभी भी अपने खूनी पंजे मानवता पर नहीं गड़ा सकती। प्रेमचन्द-साहित्य उसको एक चुनौती है।

संदर्भ-संकेत

- 1 ‘कायाकल्प’, पृ. 30
- 2 वही, पृ. 31
- 3 वही, पृ. 33
- 4 वही, पृ. 34
- 5 वही, पृ. 35

- 6 वही, पृ. 37
- 7 वही, पृ. 37 से 39
- 8 वही, पृ. 39-40
- 9 वही, पृ. 57
- 10 वही, पृ. 427
- 11 'सेवासदन', पृ. 249
- 12 'कायाकल्प', पृ. 256
- 13 'सेवासदन', पृ. 174
- 14 'कायाकल्प', पृ. 227
- 15 'कर्मभूमि', पृ. 222-223
- 16 'कायाकल्प', पृ. 44
- 17 'कर्मभूमि', पृ. 354-355

शिक्षा : उद्देश्य और व्यावहारिकता

प्रेमचन्द केवल उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार व पत्रकार ही नहीं थे, वरन् समाज के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात करने वाले एक जागरूक चिन्तक थे। उनके विचार ही उनके समग्र साहित्य के प्राण हैं। उपन्यास में भी वे अपने विचारों को ही प्रधानता देते हैं। ये विचार भारतीय जीवन की विभिन्न समस्याओं से सम्बंध रखते हैं। विभिन्न समस्याओं पर उनके विचार उनकी कृतियों में जगह-जगह बिखरे हुए हैं। स्पष्ट है, उपन्यास में ये विचार अधिकतर पात्रों के द्वारा ही प्रकट किए जा सकते हैं, लेखक अपनी ओर से तो संक्षेप में टिप्पणी-मात्र दे सकता है। मानव-जीवन को सुसंस्कृत करने और उसे पूर्ण विकास की आरे ले जाने में शिक्षा का स्थान सर्वोपरि है। प्रेमचन्द जैसे सचेत लेखक शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को कैसे छोड़ सकते थे ! अतः उनके उपन्यासों में तत्कालीन शिक्षा-पद्धति, उसके दोषों और उसे सुधारने अथवा बदलने की जटिल समस्या का भी समावेश किया गया है।

प्रेमचन्द ने शिक्षा के उद्देश्य, पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, अध्यापकों और युवकों की मनोवृत्ति, शैक्षणिक संस्थाओं की दशा, पाठ्यक्रम आदि पर अपने कुछ उपन्यासों में चर्चा की है। ये उपन्यास 'वरदान', 'कायाकल्प' 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आलोचकों ने प्रेमचंद के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों की ओर ध्यान नहीं दिया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अर्थिक सुविधाएँ प्राप्त थीं, अतः वे अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को मूर्त रूप दे सके। प्रेमचन्द के पास ऐसा कोई साधन नहीं था। फिर भी वे अपने विचारों की शैक्षणिक संस्था 'कर्मभूमि' में छोड़ गए हैं, जो उनके महान शिक्षा-शास्त्री होने का प्रमाण देती है।

प्रेमचन्द ने एक निर्धन विद्यार्थी का जीवन व्यतीत किया था। वे उन सभी कष्टों और आपदाओं से परिचित थे; जो एक निर्धन छात्र को उठानी पड़ती हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में, “एक कुप्पी के सामने रात को बैठकर टाट बिछाकर पढ़ता। पाँच रुपये का ट्यूशन करके आठ रुपये में अपना गुज़र करता था। सुबह उठकर हाथ-मुँह धोकर रोटी पकाता, रोटियाँ सेंककर स्कूल जाता।”² एक बार रोटी के लिए उन्हें अपनी पुस्तकें बेचनी पड़ी थीं “जाड़ों के दिन थे, पास में एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का खाकर काटे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था। संकोचवश मैं उनसे माँग न सकता था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर किताब बेचने गया। एक चक्रवर्ती गणित कुंजी दो साल हुए खरीदी थी, अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था, पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी, लेकिन सौदा एक रुपये में तय हुआ।”³ इस प्रकार विद्यार्थी जीवन में ही प्रेमचन्द अपने समय के शिक्षा-सम्बन्धी अनेक दोषों से अत्यधिक सूक्ष्मता से परिचित हो गए थे। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा-पद्धति की आलोचना, पुस्तकालयों से शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर नहीं की; उसमें जीवन के अनुभव निहित हैं। इसलिए उनके विचार विशेष महत्त्व रखते हैं।

आगे चलकर प्रेमचन्द एक विद्यालय के प्रधानाध्यापक की कृपा से अठारह रुपये मासिक पर अध्यापक हो गए। कानपुर बस्ती गोरखपुर आदि स्थानों में उन्होंने अध्यापन का कार्य किया। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर की हैसियत से छह साल उन्होंने महोबे में बिताए। इस बीच अध्यापक-वर्ग की मनोवृत्ति से ही उनका परिचय नहीं हुआ, वरन् अधिकारी-वर्ग की नौकरशाही वृत्ति का भी उन्हें सामना करना पड़ा। गोरखपुर में इन्स्पेक्टर के निरीक्षण की घटना यहाँ उद्धृत करना संगत होगा, “जाड़े के दिन थे। स्कूल का इन्स्पेक्टर मुआयना करने आया था। एक रोज़ तो इन्स्पेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया। दूसरे रोज़ लड़कों को गेंद खेलना था। उस दिन आप नहीं गए। छुट्टी होने पर आप घर चले आए। आरामकुर्सी पर लेटे दरवाज़े पर आप अखबार पढ़ रहे थे कि सामने ही इन्स्पेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे, लेकिन आप उठे भी नहीं। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इन्स्पेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा। अर्दली जब आया तो आ गए।

‘कहिए, क्या है ?’

इन्स्पेक्टर, 'तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है। उठकर सलाम भी नहीं करते !'

'मैं जब स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ। यह आपने अच्छा नहीं किया। इस पर मुझे अधिकार है कि आप पर केस चलाऊँ।'

इन्स्पेक्टर चला गया। आपने अपने मित्रों से राय ली कि इस पर केस चलाना चाहिए। मित्रों ने सलाह दी, जाने दीजिए। आप भी उसे मगरूर कह सकते थे। हटाइए इस बात को। मगर इस बात की कुरेदन उन्हें बहुत दिनों तक रही।⁴

प्रेमचन्द जैसे स्वाभिमानी मनुष्य के जीवन में ऐसी घटना का होना स्वाभाविक बात है। आगे चलकर देश पर होने वाले अंग्रेजी शासन के अत्याचारों से खिन्न होकर उन्होंने अपनी पच्चीस साल की नौकरी पर लात मार दी। अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्द ने जिस प्रकार एक निर्धन छात्र का जीवन व्यतीत किया था उसी प्रकार एक अभावग्रस्त अध्यापक का जीवन भी बिताया था। अतः शिक्षा के क्षेत्र में उनकी धारणाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण होंगी, उसका अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है।

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द शिक्षा का उद्देश्य बताते हुए आज के अध्यापकों के रहन-सहन तथा विचारों की आलोचना करते हुए लिखते हैं, "जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की ज़रूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है हमारा सेवा-भाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता। अगर यह डिग्री नहीं मिली, अगर हमारी आत्मा जागरित नहीं हुई, तो कागज़ की डिग्री व्यर्थ है। उसे (अमरकान्त) इस शिक्षा ही से घृणा हो गई है। जब वह अपने अध्यापकों को फ़ैशन की गुलामी करते, स्वार्थ के लिए नाक रगड़ते, कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक लाभ के लिए हाथ पसारते देखता, तो उसे घोर मानसिक वेदना होती थी। और इन्हीं महानुभावों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर है। यही कौम के विधाता हैं।"⁵ प्रेमचन्द भारत के प्रचीन आदर्शों के क़ायल थे, अतः अतीत के अध्यापकों की प्रशंसा करत हुए वे लिखते हैं, "तब अमर को उस अतीत की याद आती, जब गुरुजन झोपड़ी में रहते थे, स्वार्थ से अलग, लोभ से दूर, सात्त्विक जीवन के आदर्श, निष्काम सेवा के उपासक। वह राष्ट्र से कम-से-कम लेकर अधिक देते थे। वह वास्तव में देवता थे। और एक यह अध्यापक हैं, जो किसी अंश में एक मामूली व्यापारी या राज्य कर्मचारी से पीछे नहीं। इनमें भी वही दम्भ

है, वही धन-मद है, वही अधिकार-मद है। हमारे विद्यालय क्या हैं, राज्य के विभाग हैं और हमारे अध्यापक उसी राज्य के अंग हैं। ये खुद अंधकार में पड़े हुए हैं, प्रकाश क्या फैलाएंगे ? वे आप अपने मानेविकार के कैदी हैं, आप अपनी इच्छाओं के गुलाम हैं, और अपने शिष्यों को भी उसी कैद और गुलामी में डालते हैं।”⁶ इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रेमचन्द गुरुकुल-पद्धति को पुनर्जीवित करना चाहते थे। विगत युग की अच्छाइयों को आज भी अपनाया जाना चाहिए। केवल यह ध्वनि उक्त उद्धरण से निकलती है।

जिस प्रकार अध्यापक-वर्ग की स्पष्ट आलोचना है उसी प्रकार देश के नवयुवकों की मनोवृत्ति पर भी प्रेमचन्द ने खुलकर लिखा है, जिससे उनमें कुछ सुधार हो सके, वे शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को समझ सकें। अधिकांश नवयुवक कोई ऊँचा सरकारी पद पा जाने की नीयत से ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। ‘कर्मभूमि’ में सलीम का यही आदर्श है, “वह एम.ए. की तैयारी कर रहा था। उसकी अभिलाषा थी कि कोई अच्छा सरकारी पद पा जाए और चैन से रहे। सुधार और संगठन और राष्ट्रीय आन्दोलन से उसे विशेष प्रेम न था।”⁷ एक और स्थल पर डा. शान्तिकुमार से कहता है, “यह तो आप जानते ही हैं, मैं एक सीधा जुमला ठीक नहीं लिख सकता, मगर लियाक़त कौन देखता है ? यहाँ तो सनद देखी जाती है।”⁸ प्रेमचन्द ने शिक्षा का उद्देश्य रोटी-प्राप्ति कभी नहीं समझा। ‘रोटी-रोज़ी’ (bread and butter) को शिक्षा का सिद्धान्त माननेवालों के वे कड़े विरोधी थे। ‘कायाकल्प’ में प्रेमचन्द का आदर्श पात्र चक्रधर शिक्षा और नौकरी पर अपना स्पष्ट मत अपने पिता वज्रधर के सामने रखता है

“चक्रधर मेरी नौकरी करने की इच्छा नहीं है।

वज्रधर यह ख़ब्त तुम्हें कब से सवार हुआ ? नौकरी के सिवा और करोगे ही क्या ?

चक्रधर मैं आज़ाद रहना चाहता हूँ।

वज्रधर आज़ाद रहना था तो एम. ए. क्यों पास किया ?

चक्रधर इसलिए कि आज़ादी का महत्त्व समझूँ।”⁹

प्रेमचन्द को यह बात हस्यास्पद मालूम होती थी, “आदमी केवल पेट पालने के लिए आधी उम्र पढ़ने में लगा दे। अगर पेट पालना ही जीवन का आदर्श हो, तो पढ़ने की ज़रूरत ही क्या ? मजूदर एक अक्षर भी नहीं जानता, फिर भी वह अपने और अपने बाल-बच्चों का पेट बड़े मज़े से पाल लेता है। विद्या के साथ

जीवन का आदर्श कुछ ऊँचा न हुआ, तो पढ़ना व्यर्थ है।”¹⁰ अतः प्रेमचन्द अपने समय की शिक्षा-पद्धति से बड़े असंतुष्ट थे। बड़े-बड़े डिग्रीधारियों की आलोचना करते हुए ‘कर्मभूमि’ में वे लिखते हैं, “जिसके पास जितनी भी बड़ी डिग्री है, उसका स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ है, मानो लोभ और स्वार्थ ही विद्वत्ता का लक्षण है। गरीबों को रोटियाँ मयस्सर न हों, कपड़ों को तरसते हों, पर हमारे शिक्षित भाइयों को मोटर चाहिए, बँगला चाहिए, नौकरों की पलटन चाहिए।”¹¹

आज के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों पर वज्रधर से टिप्पणी करवाते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, “जैसे और भी चीजें बनाने के कारखाने खुल गए हैं, उसी तरह विद्वानों के कारखाने हैं और उनकी संख्या हर साल बढ़ती जाती है।”¹² पश्चिमी सभ्यता की बुराइयों में शिक्षा-पद्धति का स्थान प्रमुख है। पश्चिमी आदर्शों से प्रभावित शिक्षा-पद्धति पर छात्र अमरकान्त के मुख से प्रेमचन्द बड़ा तीख व्यंग्य करवाते हैं, “बताना क्या है, पश्चिमी सभ्यता की बुराइयाँ हम सब जानते ही हैं। वही बयान कर देना।”

“तुम जानते होगे, मुझे तो एक भी नहीं मालूम।”

“एक तो यह तालीम ही है, जहाँ देखो, वही दुकानदारी। अदालत की दुकान, इल्म की दुकान, सेहत की दुकान। इस एक पाइंट पर बहुत कुछ कहा जा सकता है ?”¹³

इसी प्रकार, डा. शान्तिकुमार के शब्दों में, “यह किराये की तालीम हमारे कैरेक्टरों के तबाह किए डालती है। हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार में ज्यादा नफ़ा होगा। तालीम में ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पाओगे। मैं चाहता हूँ, ऊँची-से-ऊँची तालीम सबके लिए मुआफ़ हो, ताकि गरीब-से-गरीब आदमी भी ऊँची-से-ऊँची लियाक़त हासिल कर सके और ऊँचे-से-ऊँचे ओहदे को पा सके। युनिवर्सिटी के दरवाज़े में सबके लिए खुले रखना चाहता हूँ। सारा खर्च गवर्नमेंट पर पड़ना चाहिए। मुल्क को तालीम की उससे कहीं ज्यादा ज़रूरत है, जितनी फौज की।”¹⁴ फौज और शिक्षा के इस अनुपात को प्रेमचन्द ने समझा था। किसी भी देश की रक्षा मात्र सामरिक शक्ति बढ़ा देने से नहीं हो सकती, जब-तक कि उस देश के नवयुवक उच्च आदर्शों की वाहक शिक्षा ग्रहण नहीं करते। खेद है, प्रेमचन्द के इन विचारों पर नवोदित राष्ट्र के कर्णधार ध्यान नहीं देते और वही किराए की शिक्षा ज्यों-की-त्यों कायम है जो भावी पीढ़ी के चरित्र को नष्ट कर रही है।

‘कर्मभूमि उपन्यास का प्रारम्भ ही आधुनिक शिक्षा पर व्यंग्य के साथ होता है। शैक्षणिक संस्थाओं का यथार्थ चित्रण करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, “हमारे स्कूलों और कॉलेजों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। महीने में एक दिन नियत कर दिया जाता है। उस दिन फीस दाखिल न हो, रोज़ कुछ जुर्माना दीजिए। कहीं-कहीं ऐसा भी नियम है कि उसी दिन फीस दुगुनी कर दी जाती है, और किसी दूसरी तारीख को फीस दुगुनी न दो, तो नाम कट जाता है, काशी के क्वींस कालेज में यही नियम था।... ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था कि ग़रीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जाएँ। वही हृदयहीन दफ़्तरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारे विद्यालयों में भी है। वह किसी के साथ रियायत नहीं करता, चाहे जहाँ से लाओ, कर्ज़ लो, गहने गिरो रखो, लोटा-थाली बेचो, चोरी करो, मगर फीस ज़रूर दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी, या नाम कट जायगा। ज़मीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रियायत की जाती है। हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने ही नहीं दिया जाता। वहाँ स्थायी रूप से मार्शल ला का व्यवहार होता है। देर में आइए तो जुर्माना, सबक याद न हो तो जुर्माना, किताबें न खरीद सकिए तो जुर्माना, कोई अपराध हो जाय तो जुर्माना। शिक्षालय क्या हैं, जुर्मानालय हैं। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफ़ों के पुल बाँधे जाते हैं। यदि ऐसे शिक्षालयों में पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए ग़रीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा तक बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या ?”¹⁵ प्रेमचन्द छात्रों पर होने वाले जुर्माने के पक्ष में नहीं थे। जुर्माना करने की पद्धति भी पश्चिम से ही आई जिसने इस निर्धन देश की पहले से ही महेँगी शिक्षा को और महेँगी बना दिया। इन बातों का विद्यार्थी के मन पर क्या असर पड़ता है, इस बात को प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि उन्होंने स्वयं एक निर्धन विद्यार्थी का जीवन बिताया था। और जब ‘कायाकल्प’ में मनोरमा से चक्रधर कहता है, “हमारी शिक्षा ने हमें पशु बना दिया है।”¹⁶ तो पाश्चात्य शिक्षा और उस पद्धति की निस्सारता व्यक्त करने की हद हो जाती है।

‘प्रेमाश्रम’ के प्रारम्भ में ग्रामीणों के मुख से प्रेमचन्द आधुनिक विद्या पर व्यंग्य करवाते हुए लिखते हैं, दुखरन कहता है, “कहते हैं कि ‘विद्या’ से आदमी की बुद्धि ठीक हो जाती है, पर यहाँ उलटा ही देखने में आता है। यह हाकिम और अमले पढ़े-लिखे विद्वान् होते हैं, लेकिन किसी को दया-धर्म का विचार नहीं

होता।¹⁷ मनोहर का यह व्यंग्य कि “विद्या से और कुछ नहीं होता तो दूसरों का धन ऐंठना तो आ जाता है। मूरख रहने से तो अपना धन गँवाना पड़ता है।¹⁸ आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की वास्तविकता को भली-भाँति प्रकट कर देता है।

अब यह देखना है कि प्रेमचन्द किस प्रकार की शिक्षा और शैक्षणिक संस्था पसन्द करते थे। उनके शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्य को देखते हुए यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि वे शिक्षा द्वारा चरित्र-निर्माण को प्रमुखता देते हैं। शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के सामने चाहे कोई लिखित रूप-प्रारूप न रहा हो, किन्तु उसकी झलक उनके उपन्यासों में मिलती ही है। उपन्यास के अन्तर्गत इससे अधिक चिन्तन सम्भव भी नहीं हो सकता। उपन्यास के वस्तु-विन्यास के चौखटे में प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी जगह-जगह लिखा है वह औपन्यासिक कला की उपेक्षा करके ही लिखा है। वे कलावादी उपन्यासकार नहीं थे, समस्याओं को प्रधानता देकर ही उन्होंने उपन्यासों का सर्जन किया।

‘कर्मभूमि’ में डा. शान्तिकुमार के बँगले में प्रेमचन्द एक पाठशाला लगवाते हैं, जहाँ “फीस बिलकुल नहीं ली जाती थी।... छोटे-छोटे भोले-भोले निष्कपट बालकों का कैसे स्वाभाविक विकास हो, कैसे वे साहसी, संतोषी, सेवाशील बन सकें, यही मुख्य उद्देश्य था। सौन्दर्य-बोध जो मानव प्रकृति का प्रधान अंग है, कैसे दूषित वातावरण से अलग रहकर अपनी पूर्णता पाये, संघर्ष की जगह सहानुभूति का विकास कैसे हो, दोनों मित्र यही सोचते थे। उनकी शिक्षा की कोई बनी-बनाई प्रणाली न थी। उद्देश्य को सामने रखकर ही वह साधनों की व्यवस्था करते थे। आदर्श महापुरुषों के चरित्रों, सेवा और त्याग की कथाएँ, भक्ति और प्रेम के पद, यही शिक्षा के आधार थे।¹⁹ इस पाठशाला को अमरकान्त, डा. शान्तिकुमार, सन्यासी आत्मानन्द, संगीताचार्य ब्रजनाथ आदि जी-जान से एक आदर्श संस्था बनाने में जुट जाते हैं। तरह-तरह के लोग इस नवजात संस्था और उसके कार्यकर्ताओं की तरह-तरह से आलोचना करते हैं। कोई इसे ‘मदारी का तमाशा’²⁰ कहता है तो कोई कुछ। आर्थिक कठिनाइयाँ अलग हैं। पर, फिर भी अपने आदर्शों पर अविचल विश्वास के साथ पाठशाला के संस्थापक तथा कार्यकर्ता पाठशाला का विकास करते चले जाते हैं और प्रेमचन्द इस संस्था को आगे चलकर अपने सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुरूप विकसित करके दिखाते हैं, “अमर की शाखा अब नई इमारत में आ गई थी। शिक्षा का लोगों को कुछ ऐसा चस्का पड़ गया था कि जवान तो जवान, बूढ़े भी आ बैठते और कुछ-न-कुछ सीख जाते। अमर की

शिक्षा-शैली आलोचनात्मक थी। अन्य देशों की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति, नये-नये आविष्कार, नये-नये विचार इसके मुख्य विषय थे। देश-देशान्तरों के रस्मों-रिवाज, आचार-विचार की कथा सभी चाव से सुनते। उसे यह देखकर कभी-कभी विस्मय होता था कि वे निरक्षर लोग जटिल सामाजिक सिद्धान्तों को कितनी आसानी से समझ जाते हैं। सारे गाँव में एक नया जीवन प्रवाहित होता हुआ जान पड़ता था। छूतछात का जैसे लोप हो गया था। दूसरे गाँव के ऊँची जातियों के लाग भी अक्सर आ जाते थे।”²¹

उपर्युक्त विवेचन में पाठ्यक्रम-सम्बन्धी अनेक बातें स्वतः आ जाती हैं। यहाँ प्रेमचन्द का शिक्षा-सम्बन्धी स्वप्न साकार हो उठा है। उनके विचार कितने प्रगतिशील हैं तथा उनका दृष्टिकोण कितना व्यापक है यह उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है। उक्त संस्था में छुआछूत का नाम भी नहीं है, जब कि अन्य शालाओं में ‘हरिजनों’ के साथ अमानवीय व्यवहार होता था। प्रेमचन्द ने समाज-विरोधी तत्त्वों के विरुद्ध अपने उपन्यासों में जगह-जगह लिखा, तभी उनकी वे कृतियाँ आज युग-दर्पण का काम देती हैं।

प्रेमचन्द धर्मविहीन शिक्षा के विरोधी थे। पाश्चात्य शिक्षा भौतिक विकास के उद्देश्य को अपना लक्ष्य मानकर चलती है, आत्मिक विकास के लिए उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। प्रेमचन्द भौतिक और आत्मिक दोनों तत्त्वों से युक्त शिक्षा के समर्थक थे। एकांगी शिक्षा ग्रहण से एकांगी विकास ही सम्भव है। भौतिक दिशा में यह एकांगी विकास मनुष्य को स्वार्थी बना देता है। ‘प्रेमाश्रम’ में रायसाहब ज्ञानशंकर से कहते हैं, “यह तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारी धर्मविहीन शिक्षा का दोष है। तुम्हें आदि से ही भौतिक शिक्षा मिली है। हृदय के भाव दब गये। तुम्हारे गुरुजन स्वयं स्वार्थ के पुत्र थे। उन्होंने कभी सरल-सन्तोषमय जीवन का आदर्श तुम्हारे सामने नहीं रखा। तुम अपने घर में, स्कूल में, जगत् में, नित्य देखते थे कि बुद्धिबल का कितना मान है। तुमने सदैव इनाम और पदक पाये, कक्षा में तुम्हारी प्रशंसा होती रही, प्रत्येक अवसर पर तुम्हें आदर्श बनाकर दूसरों को दिखाया जाता था। तुम्हारे आत्मिक विकास की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, तुम्हारे मनोगत भावों को, तुम्हारे उद्गारों को सन्मार्ग पर ले जाने की चेष्टा नहीं की गई, तुमने धर्म और भक्ति का प्रकाश कभी नहीं देखा, जो मन पर छाये हुए तिमिर को नष्ट करने का एक साधन है। तुम जो कुछ हो, अपनी शिक्षा-प्रणाली के बनाये हुए हो।”²²

प्रेमचन्द ने शिक्षा का महत्त्व प्रारम्भ से भली-भाँति समझ लिया था। शिक्षा किसी भी समाज की मनोवृत्तियों की आधार होती है, उसकी उपेक्षा आगे चलकर बड़ा कड़वा फल देती है। उपेक्षा के अतिरिक्त गलत ढंग की शिक्षा नई पीढ़ी को पथभ्रष्ट करके समाज को अधोगति की ओर ले जाती है। प्रेमचन्द के शिक्षा-शास्त्री होने में तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता। 'वरदान' जैसे प्रारम्भिक उपन्यास में ही हम उनको बाल-मानेविज्ञान के ज्ञाता के रूप में पाते हैं। बच्चों को शिक्षा किस ढंग से दी जाय, उसका उल्लेख 'वरदान' में मिलता है। पुराने ढंग की शिक्षा-प्रणाली का अच्छा-खासा मज़ाक प्रताप, बिरजन और मुंशी जी के संवादों में निहित है, "प्रताप धीरे-धीरे कुछ हिचकिचाता, सकुचाता समीप आया। मुंशीजी ने पितृवत् प्रेम से उसे गोद में बैठा लिया और पूछा, 'तुम कौन सी किताब पढ़ रहे थे ?'"

प्रताप बोलने को ही था कि बिरजन बोल उठी, 'बाबा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ थीं। क्यों बाबा, क्या पहले चिड़ियाँ भी हमारी भाँति बातें करती थीं ?

मुंशी जी मुस्कराकर बोले, 'हाँ ! वे खूब बोलती थीं।' अभी उनके मुँह से पूरी बात भी न निकलने पाई थी कि प्रताप, जिसका संकोच अब गायब हो चला था, बोला, 'नहीं बिरजन, तुम्हें भुलाते हैं। ये कहानियाँ बनाई हुई हैं।' मुंशी जी इस निर्भीकतापूर्ण खण्डन पर खूब हँसे।

अब तो प्रताप तोते की भाँति चहकने लगा, '...गांगा जी का पानी नीला है। ऐसे ज़ोर से बहता है कि बीच में पहाड़ भी हो, तो बह जाय। वहाँ साधु बाबा हैं। रेल दौड़ती है सन-सन। उसका इंजन बोलता है भक-भक। इंजन में भाप होती है, उसी के जोर से गाड़ी चलती है। गाड़ी के साथ पेड़ भी दौड़ते दिखाई देते हैं।

...बिरजन चित्र की भाँति चुपचाप बैठी हुई सुन रही थी। रेल पर वह भी दो तीन बार सवार हुई थी, परन्तु उसे आज तक यह न ज्ञात था कि उसे किसने बनाया और वह क्योंकर चलती है। दो बार उसने गुरु जी से यह प्रश्न किया था, परन्तु उन्होंने यह कहकर टाल दिया था कि 'बच्चा, ईश्वर की महिमा अपरम्पार है।' बिरजन ने समझ रखा कि महिमा कोई बड़ा भारी भरकम बलवान घोड़ा है, जो इतनी गाड़ियों को सन-सन खींचे लिये जाता है। जब प्रताप चुप हुआ तो बिरजन ने पिता के गले में हाथ डालकर कहा, 'बाबा, हम भी प्रताप की किताब पढ़ेंगे।'।

मुंशी 'बेटी, तुम तो संस्कृत पढ़ती हो, यह भाषा है।'।

बिरजन 'तो मैं भाषा ही पढ़ूंगी। इसमें कैसी अच्छी-अच्छी कहानियाँ हैं। मेरी किताब में तो एक भी कहानी नहीं। क्यों बाबा, पढ़ना किसे कहते हैं ?

मुंशी जी बगलें झँकने लगे। उन्होंने आज तक आप ही कभी ध्यान नहीं दिया था कि पढ़ना क्या वस्तु है। अभी वे माथा ही खुजला रहे थे कि प्रताप बोल उठा, 'मुझे तुमने पढ़ते देखा, उसी को पढ़ना कहते हैं।'

बिरजन 'क्या मैं नहीं पढ़ती ? मेरे पढ़ने को पढ़ना नहीं कहते ?'

बिरजन 'सिद्धान्त-कौमुदी' पढ़ रही थी। प्रताप ने कहा, 'तुम तोते के भाँति रटती हो।'²³

ये सभी बातें प्रेमचंद के व्यावहारिक ज्ञान की परिचायक है। असाधारण बालकों के मनोविज्ञान पर भी प्रेमचंद लिखते हैं, "साक्षियों के बयान और वकीलों की सूक्ष्म आलोचनाओं के तत्त्व को समझाना इतना कठिन नहीं है, जितना किसी निरुत्साही लड़के के मन में शिक्षा की रुचि उत्पन्न करना।"²⁴

प्रेमचन्द विद्यार्थियों को मात्र पाठ्य-पुस्तकों का कीड़ा बना देना नहीं चाहते। वे उनको समाज के विस्तृत क्षेत्र में भी ले जाते हैं। 'वरदान' में वे लिखते हैं, "प्रतापचंद उन विद्यार्थियों में से न था, जिनका सारा उद्योग वक्तृता और पुस्तकों तक ही सीमित रहता है। उसके समय और योग्यता का एक छोटा भाग जनता के लाभार्थ भी व्यक्त होता था। बहुधा संध्या समय वह कीडगंज और कटरा की दुर्गन्धिपूर्ण गलियों में घूमता दिखाई देता जहाँ विशेषकर नीच जाति के लोग बसते हैं। जिन लोगों की परछाई से उच्च वर्ण का हिन्दू भागता है, उनके साथ प्रताप टूटी खाट पर बैठकर घंटों बातें करता।"²⁵

'रंगभूमि' में भी विनय की मृत्यु पर जाह्नवी यह घोषण करती है, "बाल-बच्चों वालों से मेरा निवेदन है, अपने प्यारे बच्चों को चक्की का बैल न बनाओ, गृहस्थी का गुलाम न बनाना। ऐसी शिक्षा दो कि जिँ, किन्तु जीवन के दास बनकर नहीं, स्वामी बनकर।"²⁶ प्रेमशंकर के शब्दों में, "शिक्षा का फल यह होना चाहिए कि तुम बिरादरी के सूत्रधार बनो, उसको सुधारने का प्रयास करो न यह कि उसके दबाव से अपने सिद्धांतों का भी बलिदान कर दो।"²⁷

'दान' की चर्चा आजकल बहुत है। आचार्य विनावा भावे ने सम्पूर्ण देश में जिस मनोवृत्ति का प्रसार किया है उसका संकेत प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' में भी विद्यमान है। रेणुका अपनी पुत्री सुखदा से कहती है, "मन्दिर तो यों ही हो रहे हैं कि पूजा करने वाले नहीं मिलते। शिक्षादान महादान है।"²⁸ 'शिक्षा-दान-

महादान' का नारा लगाने वाले प्रेमचंद यदि आज जीवित होते तो 'भूदान' की तरह शिक्षा-दान भी देश की नींव सुदृढ़ करने में कितनी बड़ी भूमिका अदा करता, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

संदर्भ-संकेत

- 1 'प्रेमचंद घर में', पृ. 8
- 2 'प्रेमचंद घर में', पृ. 12
- 3 जीवनसार
- 4 'प्रेमचंद घर में', पृ. 54-55
- 5 'कर्मभूमि', पृ. 108
- 6 वही, पृ.108
- 7 वही, पृ.111
- 8 वही, पृ.231
- 9 'कायाकल्प', पृ. 7
- 10 वही, पृ. 7-8
- 11 'कर्मभूमि', पृ. 109
- 12 'कायाकल्प', पृ. 7
- 13 'कर्मभूमि', पृ. 9
- 14 वही, पृ. 77
- 15 वही, , पृ. 5
- 16 'कायाकल्प', पृ. 123
- 17 'प्रेमाश्रम', पृ. 2
- 18 'कर्मभूमि', पृ. 3
- 19 वही, , पृ. 9
- 20 वही, , पृ. 111
- 21 'प्रेमाश्रम', पृ. 179-180
- 22 वही, , पृ. 434-435
- 23 'वरदान', पृ. 12-13
- 24 वही, , पृ. 27
- 25 वही, , पृ. 109
- 26 'रंगभूमि' (भाग - 2), पृ.385
- 27 'प्रेमाश्रम', पृ. 169
- 28 'कर्मभूमि', पृ. 238

औद्योगिक विकास : आर्थिक व समाज-शास्त्रीय पक्ष

औद्योगिक समस्या को प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' और 'गोदान' में उठाया है। 'रंगभूमि' के प्रमुख उद्योगपति जॉन सेवक हैं तथा 'गोदान' के मिस्टर चन्द्रप्रकाश खन्ना। एक तम्बाकू का कारखाना खोलते हैं तो दूसरे की शक्कर-मिल है। प्रेमचन्द ने अपने इन दो उपन्यासों में उद्योगपतियों की योजनाओं, उनके पीछे औद्योगिक नैतिकता तथा औद्योगीकरण के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है।

इस स्थल पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या प्रेमचन्द औद्योगीकरण के विरोधी थे ? ज़मीन पर से एकाधिकर उठता देखकर अधिकांश पूँजीपतियों ने जगह-जगह बड़े-बड़े कारखाने खोलने प्रारंभ किए, जिससे उनकी पूँजी सुरक्षित रह सके और समस्त आधुनिक साधनों के माध्यम से वे मज़दूरों का शोषण करके अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा बना सकें। औद्योगीकरण के पीछे मुनाफ़े का दृष्टिकोण प्रमुख है। प्रेमचंद इसी पूँजीवादी औद्योगीकरण के विरोधी थे, जिसमें मानवीय मूल्यों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। 'रंगभूमि' और 'गोदान' में तम्बाकू और शक्कर के कारखानों को प्रतीक मानकर पूँजीपति मनोवृत्ति को प्रेमचन्द ने हमारे सामने रखा है और यह बताया है कि ऐसे औद्योगीकरण से जनता का कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे तो प्रेमचन्द ने शोषण का एक नया हथियार ही बताया है, जिसके परिणाम कोई कम भयावह नहीं हैं। किसानों और मज़दूरों का शोषण ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अतः प्रेमचन्द उद्योगों और औद्योगीकरण के विरोधी नहीं थे, पूँजीपति औद्योगिक प्रकृति के कट्टर विरोधी थे। तम्बाकू और

शकर के उपर्युक्त कारखानों के माध्यम से उन्होंने पूँजीशाही वर्ग का नग्न चित्रण करके उसकी मनोवृत्तियों के प्रति घृणा को जन्म दिया है। जॉन सेवक के कारनामों के प्रति पाठक क्रोध से भर उठता है। मिस्टर खन्ना भी पाठक की सहानुभूति उस समय तक प्राप्त नहीं करते जब-तक उनकी शकर मिल तबाह नहीं हो जाती। अभिप्राय यह कि प्रेमचन्द ने औद्योगीकरण के अथवा पूँजीपति व्यक्तियों के विरुद्ध न लिखकर वर्तमान औद्योगिक-व्यवस्था के विरोध में लिखा है।

आधुनिक सभ्यता का आधार धन है। धनिक अपनी इच्छापूर्ति आज सहज ही कर सकता है। समस्त शासकीय मशीनरी को उसने पैसे के बल पर अपने वश में कर रखा है। 'रंगभूमि' में जॉन सेवक कहता है, "यह व्यापार राज्य का युग है। योरोप के बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूँजीपतियों के इशारों पर बनते-बिगड़ते हैं। किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं कि उनकी इच्छा का विरोध करे। तुमने मुझे समझा क्या है, मैं वह नरम चारा नहीं हूँ, जिसे क्लार्क और महेन्द्र खा जायेंगे।"¹ अतः पूँजीपति वर्ग मानवीय मूल्यों को धता बताकर मनमानी योजनाएँ तैयार करता है और जनता को अपार कष्ट पहुँचाकर उन योजनाओं को फलीभूत होते देखने के प्रयत्न करता है। 'रंगभूमि' में जॉन सेवक तम्बाकू का कारखाना खोलने के लिए भूमिका तैयार करता हुआ कहता है, "मेरा इरादा है म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब से मिलकर यहाँ एक शराब और ताड़ी की दुकान खुलवा दूँ। तब आसपास के चमार यहाँ रोज़ आएंगे और आपको उनसे मेलजोल पैदा करने का अवसर मिलेगा।"² नगर के हितों की रक्षा करने वाली संस्थाओं को ये पूँजीपति मानों अपनी जेबी संस्था समझते हैं। धन के बल पर खेतों में गेहूँ-जौ के स्थान पर तम्बाकू की खेती करवा लेना भी उनके लिए साधारण बात है। तम्बाकू की खेती के प्रश्न पर जॉन सेवक पूर्ण विश्वास के साथ कहता है, "कच्चा माल पैदा करना हमारा काम होगा। किसान को ऊख या जौ-गेहूँ से कोई प्रेम नहीं होता। वह जिसके करने में अपना लाभ देखेगा, वही पैदा करेगा।"³ इस स्थल पर प्रेमचन्द ने उद्योगपतियों की नैतिकता पर तीव्र प्रहार किए हैं। कुँवर साहब और जॉन सेवक का निम्नलिखित वार्तालाप प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। स्वार्थी और लाभ-लोभी जॉन सेवक बड़ा भला बनकर कहता है, "हमारी जाति का उद्धार कला-कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारखाने से कम-से-कम एक हजार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जाएगी और खेती के सिर से उनका बोझ टल जाएगा। जितनी एक आदमी

अच्छी तरह जोत-बो सकता है, उसमें घर-भर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारखाना ऐसे बेकारों को अपनी रोटी कमाने का अवसर देगा।”...

कुँवर साहब “लेकिन तम्बाकू कोई अच्छी चीज़ तो नहीं। इसकी गणना मादक वस्तुओं में है, और स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर पड़ता है।”

जॉन सेवक “(हँसकर) ये सब डाक्टरों की कोरी कल्पनाएँ हैं, जिन पर गम्भीर विचार करना हास्यास्पद है। डाक्टरों के आदेशानुसार हम जीवन व्यतीत करना चाहें, तो जीवन का अन्त ही हो जाए।...व्यवसायी लोग इन गोरखधंधों में नहीं पड़ते; उनका लक्ष्य केवल वर्तमान परिस्थितियों पर रहता है। हम देखते हैं कि इस देश में विदेश से करोड़ों रुपये के सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्तव्य है कि इस धन-प्रवाह को विदेश जाने से रोकें। इसके बगैर हमारा आर्थिक जीवन कभी पनप नहीं सकता।”⁴

व्यवसायी लोग इन गोरखधंधों में नहीं पड़ते, यह लिखकर प्रेमचन्द ने आधुनिक औद्योगिक समाज की मनोवृत्ति का परिचय दे दिया है। तम्बाकू का कारखाना खोलने के पक्ष में जॉन सेवक ने जो दलीलें दी थीं, उनका कुँवर साहब पर असर पड़ता है और वे पाँच-सौ हिस्से लेने का वचन देते हैं। यहाँ प्रेमचन्द ने ऐसे बनावटी देशभक्तों पर भी व्यंग्यात्मक छींटे मारे हैं, “तुमने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिए नहीं अपने स्वार्थ के लिए यह प्रयत्न किया है। देश के सेवक बनकर तुम अपनी पाँचों उँगलियाँ घी में रखना चाहते हो। तुम्हारा मनोवांछित उद्देश्य यही है कि नफे का बड़ा भाग किसी हीले से आप हज़म करो। तुमने इस लोकोक्ति को प्रमाणित कर दिया कि बनिया मारे जान, चोर मारे अनजान।”⁵ ढोंगी ईश्वर-भक्त ईश्वर सेवक जॉन का समर्थन करता हुआ कहता है, “खुदा मुझ पर दया-दृष्टि करे। बेटा, रंग मिलाए बगैर भी दुनिया का कोई काम चलता है? सफलता का यही मूलमंत्र है, और व्यवसाय की सफलता के लिए तो यह सर्वथा अनिवार्य है।”⁶ प्रभु सेवक के मुख से प्रेमचन्द आधुनिक व्यावसायिक मनोवृत्ति की तीव्र भर्त्सना करते हुए लिखते हैं, “व्यवसाय कुछ नहीं है, अगर नर-हत्या नहीं है। आदि से अन्त तक मनुष्यों को पशु समझना और उनसे पशुवत् व्यवहार करना इसका मूल सिद्धान्त है। जो यह नहीं कर सकता, वह सफल व्यवसायी नहीं हो सकता।”⁷

उधर ‘गोदान’ में मिस्टर चन्द्रप्रकाश खन्ना जो एक बैंक के मैनेजर और शक्कर मिल के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं इसी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। शक्कर मिल

जल जाने पर मि. खन्ना स्वयं अपनी नैतिकता को उधारकर हमारे सामने रख देते हैं, “ आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है। कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ऊख तोलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाट रखे।”⁸ मिल के पीछे कौन-सा अर्थशास्त्र कार्य कर रहा था, उसका परिचय देते हुए मिस्टर खन्ना कहते हैं, “हमारी नियमावली देखिए, हम पूर्ण सहकारिता के सिद्धान्त पर काम करते हैं। दफ्तर और कर्मचारियों के खर्च के सिवा नफे की एक पाई भी किसी की जेब में नहीं जाती। आपको आश्चर्य होगा कि इस नीति से कम्पनी कैसे चल रही है। और मेरी सलाह से थोड़ा-सा स्पेकुलेशन का काम भी शुरू कर दीजिए। यह जो आज सैकड़ों करोड़पति बने हुए हैं, सब इसी स्पेकुलेशन से बने हैं। रूई, शक्कर, गेहूँ, रबर किसी जिन्स का सट्टा कीजिए। मिनटों में लाखों का वारा-न्यारा होता है।”⁹ अधिक-से-अधिक मुनाफे की मनोवृत्ति की निन्दा करते हुए मेहता मिस्टर खन्ना से कहते हैं, “क्या आपका विचार है कि मजदूरों को कष्ट न होगा ? आपके मजदूर बिलों में रहते हैं गंदे, बदबूदार बिलों में, जहाँ आप एक मिनट भी रह जाएँ, तो आपको कै आ जाए। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खाएगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं।”¹⁰ और प्रेमचन्द ने बतलाया कि अनीति पर खड़ा औद्योगिक संस्कृति का प्रतीक यह मिल भस्मीभूत हो जाता है, “उस अग्नि-समुद्र के नीचे ऐसा धुआँ छाया था, मानों सावन की घटा कालिख में नहाकर नीचे उतर आई हो। उसके ऊपर जैसे आग का थरथराता हुआ, उबलता हुआ हिमाचल खड़ा था। हाते में लाखों आदमियों की भीड़ थी, पुलिस भी थी, फायर ब्रिगेड भी, सेवा-समितियों के सेवक भी; पर सबके-सब आग की भीषणता से मानों शिथिल हो गए हों। फायर ब्रिगेड के छींटे उस अग्नि-सागर में जाकर जैसे बुझ जाते थे। इटें जल रही थीं, लोहे के गडर जल रहे थे और पिघली हुई शक्कर के परनाले चारों तरफ बह रहे थे। और तो और जमीन से भी ज्वाला निकल रही थी।”¹¹ ‘रंगभूमि’ में जहाँ किसानों की ज़मीन छिनती है और उनके मकान ढहा दिए जाते हैं, वहाँ ‘गोदान’ में प्रेमचन्द मिल को धू-धू जलती हुई चित्रित करते हैं। यह पूँजीवादी संस्कृति के अवश्यंभावी विनाश का विश्वास है। मजदूरों का संघर्ष जैसे-जैसे तीव्र होता जाएगा वैसे-वैसे आधुनिक सम्यता के अंग पूँजीपति या तो आत्म-समर्पण कर देंगे अथवा समाप्त हो जाएंगे।

औद्योगीकरण का विरोध प्रेमचन्द ने एक और दृष्टिकोण से भी किया है। प्रेमचन्द चारित्रिक आदर्श पर विश्वास रखते थे। वे मज़दूरों का नैतिक स्तर ऊँचा देखना चाहते थे। औद्योगीकरण से मज़दूरों के नैतिक स्तर को उठाने में कोई सहायता नहीं मिलती। पूँजीपति उसे दिन-पर-दिन गिराने का षड्यंत्र रचते हैं। वे चाहते हैं, मज़दूर वर्ग शराब, व्यभिचारादि दुर्गुणों में फँसा रहे। उसमें नैतिक ज्वाला का प्रवेश न हो; अन्यथा वह अपने शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर बैठेगा और पूँजीपतियों के मुनाफ़े को भारी चोट पहुँचेगी। ये विचार प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में सूरदास के माध्यम से व्यक्त किए हैं। सूरदास नायकराम से कहता है, "मुहल्ले की रौनक ज़रूर बढ़ जाएगी, रोज़गारी लोगों को फायदा भी खूब होगा ; लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी वहाँ ताड़ी-शराब का प्रचार भी तो बढ़ जाएगा, कसबियाँ तो आकर बस जाएंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेगा, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैलाएंगे। देहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजदूरी करने आएंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जाएगी। भगवान न करें, यहाँ वह रौनक हो, सरकार, मुझे इस कुकरम और अधरम से बचाएँ।"¹² और जब फैक्टरी लगभग तैयार हो जाती है तब जो आशंका सूरदास ने व्यक्त की थी वह सत्य प्रमाणित होती है। इन्द्रदत्त से सूरदास कहता है, "साहब, आप पुतलीघर के मज़दूरों के लिए घर क्यों नहीं बनवा देते ? वे सारी बस्ती में फैले हुए हैं और रोज़ ऊधम मचाते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छोड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुई थीं, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न शराबियों का ऐसा हुल्लड़ रहा। जबेतक मज़ूर लोग यहाँ काम पर नहीं आते, औरतें घरों से पानी भरने नहीं निकलतीं। रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती। किसी को समझाओ, तो लड़ने पर उतारू हो जाता है।"¹³ ये सामाजिक दुर्गुण भी औद्योगीकरण के साथ-साथ स्वतः आते हैं जिनके पीछे आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था ही उत्तरदायी है।

औद्योगीकरण के सम्बन्ध में अप्रासंगिक रूप से 'प्रेमाश्रम' में भी चर्चा मिलती है। किसी कम्पनी का प्रतिनिधि रायसाहब से हिस्से लेने का अनुरोध करता है। यहाँ प्रेमचन्द रायसाहब और एजेण्ट के वार्तालाप को सप्रयोजन प्रस्तुत करते हैं और औद्योगीकरण पर अपने विचार तार्किक ढंग से उपस्थित करते हैं :

“ऐजेण्ट जब आप जैसे विचारशील सज्जन व्यापारिक उद्योग से पृथक् रहेंगे तो इस अभागे देश की उन्नति सदैव स्वप्न ही रहेगी।

रायसाहब मैं ऐसी व्यापारिक संस्थाओं को देशोद्धार की कुंजी नहीं समझता।...आपकी यह कम्पनी धनवानों को और धनवान बनाएगी, जनता को इससे बहुत लाभ पहुँचाने की सम्भावना नहीं। निस्सन्देह आप कई हजार कुलियों को काम में लगा देंगे, पर यह मज़दूर अधिकांश किसान ही होंगे और किसानों को कुली बनाने का मैं कट्टर विरोधी हूँ। मैं नहीं चाहता कि वह लोभ के वश अपने बाल-बच्चों को छोड़कर कम्पनी की छावनियों में जाकर रहें और अपना आचरण भ्रष्ट करें। अपने गाँव में उनकी एक विशेष स्थिति होती है। उनमें आत्मप्रतिष्ठा का भाव जाग्रत रहता है। बिरादरी का भय उन्हें कुमार्ग से बचाता है। कम्पनी की शरण में जाकर वह अपने घर के स्वामी नहीं, दूसरे के गुलाम हो जाते हैं, और बिरादरी के बन्धनों से मुक्त होकर नाना प्रकार की बुराइयाँ करने लगते हैं। कम से कम मैं अपने किसानों को इस परीक्षा में डालना नहीं चाहता।

ऐजेण्ट क्षमा कीजिए, आपने एक ही पक्ष का चित्र खींचा है। कृपा करके हमारे पक्ष का भी अवलोकन कीजिए। हम कुलियों को जैसे वस्त्र, जैसा भोजन, जैसे घर देते हैं, वैसे गाँव में रहकर उन्हें कभी नसीब नहीं हो सकते। हम उनकी दवा-दारू का, उनकी सन्तानों की शिक्षा का, उन्हें बुढ़ापे में सहारा देने का उचित प्रबन्ध करते हैं।

यहाँ तक कि हम उनके मनोरंजन और व्यायाम की व्यवस्था कर देते हैं। वह चाहें तो टेनिस-फुटबाल खेल सकते हैं। चाहे तो पार्कों की सैर कर सकते हैं। सप्ताह में एक दिन गाने-बजाने के लिए समय से कुछ पहले ही छुट्टी दे दी जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि पार्कों में रहने के बाद कोई कुली फिर खेती करने की परवा न करेगा।

रायसाहब नहीं, मैं इसे कदपि स्वीकार नहीं कर सकता। किसान कुली बनकर कभी अपने भाग्य-विधाता को धन्यवाद नहीं दे सकता, उसी प्रकार जैसे कोई आदमी व्यापार कर स्वतन्त्र सुख भोगने के बाद नौकरी की पराधीनता को पसन्द नहीं कर सकता। सम्भव है कि अपनी दीनता उसे कुली बने रहने पर मजबूर करे, पर मुझे विश्वास है कि वह इस दासता से मुक्त होने का अवसर पाते ही तुरन्त अपने घर की राह लेगा। और फिर उसी टूटे-फूटे झोंपड़े में अपने बाल-बच्चों के साथ रहकर सन्तोष के साथ कालक्षेप करेगा। आपको इसमें सन्देह

हो तो आप कृषक कुलियों से एकान्त में पूछकर अपना समाधान कर सकते हैं। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह बात कहता हूँ कि आप लोग इस विषय में योरोपवालों का अनुकरण करके हमारे जातीय जीवन के गुणों का सर्वनाश कर रहे हैं। योरोप में industrialism की जो उन्नति हुई उसके विशेष कारण हैं। वहाँ के किसानों की दशा उस समय गुलामों से भी गयी-गुजरी थी। वह ज़मींदार के बन्दी होते थे। इस कठिन कारावास के देखते हुए धनपतियों की क़ैद ग़नीमत थी। हमारे किसानों की आर्थिक दशा चाहे कितनी बुरी क्यों न हो, पर वह किसी के गुलाम नहीं हैं। अगर कोई उन पर अत्याचार करे तो वह आदालतों में उससे मुक्त हो सकते हैं। नीति की दृष्टि में किसान और ज़मींदार दोनों बराबर हैं।”¹⁴

प्रेमचन्द घरेलू धन्धों के पक्षपती थे। नवीन औद्योगीकरण से घरेलू उद्योग-धंधे पनप नहीं सकते, अतः उन्हें सुरक्षा दी जानी चाहिये। ऐसा करने से देश और जनता को लाभ हो सकता है, जो आधुनिक औद्योगीकरण से असम्भव है

“उन्हें घर से निर्वासित करके दुर्व्यसन के जाल में न फँसाएँ, उनके आत्माभिमान का सर्वनाश न करें और यह उसी दशा में हो सकता है जब घरेलू शिल्प का प्रचार किया जाए और वह अपने गाँव में कुछ और बिरादरी की तीव्र दृष्टि के सम्मुख अपना अपना काम करते रहें।

ऐजेण्ट आपका अभिप्राय cottage industry से है। समाचार-पत्रों में कहीं-कहीं इसकी चर्चा भी हो रही है। किन्तु इसका सबसे बड़ा पक्षपाती भी यह दावा नहीं कर सकता कि इसके द्वारा आप विदेशों का सफलता के साथ अवरोध कर सकते हैं।

रायसाहब इसके लिए हमें विदेशी वस्तुओं पर कर लगाना पड़ेगा। योरोपवाले दूसरे देशों से कच्चा माल ले जाते हैं, जहाज का किराया देते हैं, उन्हें मजूरों को कड़ी मजदूरी देनी पड़ती है, उस पर हिस्सेदारों को नफ़ा भी खूब चाहिए। हमारा घरेलू शिल्प इन समस्त बाधाओं से मुक्त रहेगा और कोई कारण नहीं कि उचित संगठन के साथ वह विदेशी व्यापार पर विजय न पा सके। वास्तव में हमने कभी इस प्रश्न पर ध्यान नहीं दिया। पूँजी वाले लोग इस समस्या पर विचार करते हुए डरते हैं। वे जानते हैं कि घरेलू शिल्प हमारे प्रभुत्व का अन्त कर देगा। इसीलिए वह इसका विरोध करते हैं।”¹⁵

इस प्रकार, प्रेमचन्द अपने उपन्यासों की विशाल पृष्ठभूमि तैयार करते हैं, जिससे देश की अनेक समस्याओं का उसमें समावेश हो सके। उपन्यासों के

माध्यम से बड़े सरल ढंग से उन्होंने गम्भीर प्रश्नों की विवेचना की है तथा उनका व्यावहारिक रूप दिखाकर समाज को उचित मार्ग खोजने के लिए सचेत किया है।

संदर्भ-संकेत

- 1 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 352
- 2 वही, पृ. 14
- 3 वही, पृ. 16
- 4 वही, पृ. 79-80
- 5 वही, पृ. 84
- 6 वही, पृ. 181
- 7 'रंगभूमि' (भाग-2), पृ. 180
- 8 'गोदान', पृ. 95
- 9 'गोदान', पृ. 120
- 10 'गोदान', पृ. 390
- 11 'गोदान', पृ. 393
- 12 'रंगभूमि' (भाग-1), पृ. 131-132
- 13 वही, पृ. 167-168
- 14 'प्रेमाश्रम', पृ. 124.126
- 15 वही, पृ. 127-128

ग्रामीण भारत

प्रेमचन्द का जन्म 'लमही' गाँव में हुआ था। उनका सरकारी नौकरी का क्षेत्र भी ग्रामीण प्रदेश रहा। चूँकि आप शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे, अतः गाँव-गाँव दौरा करना पड़ता था। स्वभावतः ग्रामीण जीवन के प्रति प्रेमचन्द के हृदय में अपार प्रेम था। ग्रामीण जनता और उसकी विविध समस्याओं से प्रेमचन्द का अत्यधिक निकट का सम्पर्क था। वे किसान-वर्ग के मनोविज्ञान से भली-भाँति परिचित थे। कहना न होगा कि यह सब ग्रामीण जनता के गहन सम्पर्क में आने का परिणाम है। यही कारण है कि प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण कर सके हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसके पीछे उनका अनुभव निहित है; इसलिए उसकी सच्चाई बरबस पाठक को आकर्षित कर लेती है। आज के छोटे-बड़े अनेक नेता किसानों के पक्षपाती होने का ढोंग रचते हैं, पर किसानों के जीवन से उनका तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। प्रेमचन्द ने ऐसे नेताओं की ओर 'कायाकल्प' में संकेत किया है। चक्रधर कहता है, "हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सच्ची दशा नहीं मालूम होती।" किसानों के प्रति प्रेमचन्द ने कोरी बौद्धिक सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की है; वरन् बड़े ही यथार्थ ढंग से उनकी दुर्बलताओं, विशेषताओं और समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उनके अनेक उपन्यासों में प्रस्तुत समस्याओं का वर्णन मिलता है। प्रारम्भ से ही वे गाँव

को दृष्टि में रखकर उपन्यास लिखते हैं और 'गोदान' तक आते-आते उनकी दृष्टि ग्रामीण जीवन के प्रत्येक पहलू पर अच्छी तरह से प्रकाश डाल देती है। किसानों के जीवन से सम्बन्धित उनके निम्नलिखित उपन्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं 'वरदान', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'गोदान'।

ग्रामीण जीवन की व्याख्या के लिए उसके अग्रलिखित विभाग किए जा सकते हैं :

1. व्यक्ति किसान,
2. उसकी आर्थिक स्थिति,
3. उसके शोषक,
4. भारत का नया किसान और
5. किसान की समस्याओं के निराकरण का मार्ग।

जहाँ तक व्यक्ति किसान का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द ने उसकी चारित्रिक विशेषताओं, उसके अन्धविश्वासों तथा उसकी दुर्बलताओं पर स्पष्ट रूप से लिखा है। किसान गाँव के अन्य देहातियों से कोई पृथक् संस्कृति नहीं रखता। वास्तव में, यह ग्रामीण जनता का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे, यह भी स्पष्ट है कि ग्रामों में अधिकांश किसान ही रहते हैं। अतः जहाँ प्रेमचन्द ने ग्रामीणों के जीवन का चित्रण किया है, उसे किसान-वर्ग से भी सम्बद्ध समझना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव को आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बनाती हैं। प्रेमचन्दकालीन किसानों जैसी मनोवृत्तियाँ आज के किसानों में भी पायी जाएँ, यह कोई अनिवार्य नहीं।

भारतीय ग्रामीण जनता अन्धविश्वासी होती है। प्राचीन संस्कारों में वह बुरी तरह ग्रस्त है। प्रेमचन्द ने ग्रामीण जनता के अन्धविश्वासों का जगह-जगह वर्णन किया है। यथा 'वरदान' में 'कमला के नाम बिरजन के पत्र' शीर्षक से सत्रहवें परिच्छेद में "हमारे घर के पीछे एक गड्ढा है... यहाँ किम्बदन्ती है कि गड्ढे में चुड़ैलें नहाने आया करती हैं। और वे अकारण राह चलनेवालों से छेड़छाड़ किया करती हैं। इसी प्रकार द्वार पर एक भारी पीपल का पेड़ है। वह भूतों का आवास है। ...पीपल का त्रास सारे गाँव के हृदय पर ऐसा छाया हुआ है कि सूर्यास्त ही से मार्ग बन्द हो जाता है।"² आदि विस्तृत वर्णन किया गया है।

'वरदान' प्रेमचन्द जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है। वह कोई समस्यामूलक भी नहीं है, फिर भी प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन का समावेश किसी-न-किसी बहाने उसमें भी कर देते हैं। बिरजन के पत्रों में जहाँ प्रेम-चर्चा होनी चाहिए थी; वहाँ यह

रूखा वर्णन है। इस सबका अन्ततः उद्देश्य क्या है ? कहना न होगा कि प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही ग्रामीण जनता की ओर आकर्षित थे। उसमें सुधार देखना चाहते थे। गाँवों के अपने अनुभवों को उन्होंने अपनी कलाकृतियों में बड़ी स्वतन्त्रता से व्यक्त किया है।

आगे चलकर 'रंगभूमि' में भी ग्रामीणों के अन्धविश्वासों का उल्लेख मिलता है। जैनब ग्रामीण स्त्रियों की इस दुर्बलता का लाभ उठाती हुई जमुना को डराती है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "अन्य स्त्रियों की भाँति वह भी थाना, पुलिस, कचहरी और दरबार की अपेक्षा भूतों-पिशाचों से ज़्यादा डरी रहती थी। पास पड़ोस में पिशाच-लीला देखने के अवसर आये दिन मिलते ही रहते थे। मुल्लाओं के यन्त्र-मन्त्र कहीं ज़्यादा लागू होते हैं, यह भी मानती थी। जैनब बेगम ने उसकी पिशाच-भीरुता को लक्षित करके अपनी विषय चातुरी का परिचय दिया। जमुना भयभीत होकर बोली, "नहीं बेगम साहब, आपको भी भगवान् ने बाल-बच्चे दिये हैं, ऐसे जुलुम न कीजिएगा, नहीं तो मर जाऊंगी।"³

पूर्वजन्मवाद पर विश्वास भी एक अन्धविश्वास ही है। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त लोगों में पूर्वजन्म पर विश्वास बहुत कम पाया जाता है, पर, ग्रामीण अनपढ़ जनता तो शत-प्रतिशत पूर्वजन्मवाद की विश्वासी होती है। नगरों का आधुनिक शोषक-वर्ग, पूर्वजन्म के सिद्धान्त की आड़ में, ग्रामीणों का शोषण और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए देखा जाता है। 'रंगभूमि' का सूरदास पूर्वजन्म पर अटल आस्था रखता है। सुभागी उसके चोरी गए रुपयों का भेद उसे बता देती है, जिस पर सूरदास कहता है, "मेरे रुपये थे ही नहीं, शायद उन जन्मों में मैंने गैरों के रुपये चुराये होंगे।"⁴ इसी प्रकार 'गोदान' का होरी पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। अपने पुत्र गोबर से वह कहता है, "यह बात नहीं है बेटा, छोटे-बड़े भगवान् के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या ?"⁵

जीवन के अनेक थपेड़ों ने वास्तव में ग्रामीण जनता को भाग्यवादी और पूर्वजन्म का विश्वासी बना दिया है। शताब्दियों से उनका शोषण हुआ है। जब-जब किसान ने सिर उठाया तब-तब उसे बुरी तरह कुचल दिया गया। किसान-वर्ग का असंगठित होना इसके पीछे प्रमुख कारण कहा जा सका है। युगों से दमन-चक्र में पीसे गये किसान डरपोक हो गए हैं। ज़मींदार के पाँव तले गर्दन दबी होने के कारण वे अपने मानवोचित अधिकारों तक की माँग करने में डरते हैं।

प्रेमचन्द ने किसानों की इस डरपोक मनोवृत्ति का उल्लेख किया है। चारणों की तरह वे अपने 'उपास्य' की झूठी प्रशंसा नहीं करते। किसानों के प्रति उनके हृदय में जो अपार प्रेम और सहानुभूति है, वह वास्तविकता को नहीं दबाती। 'गोदान' का होरी अनेक स्थलों पर अपनी डरपोक प्रवृत्ति का परिचय देता है। यथा, "यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब-तक जान बची हुई है। नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी ? किस पर कुड़की नहीं आयी ? जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशलता है।"⁶

"पानी में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता।"⁷

अनेक अभावों और कष्टों के होते हुए भी भारतीय किसान का चरित्र उज्ज्वल होता है; वह दगाबाज़ नहीं होता। प्रेमचन्द उसकी खूबियों और स्वार्थी मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए लिखते हैं, "किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घंटों चिरौरी करता है। जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता।"⁸

किसान की स्वार्थी मनोवृत्ति के पीछे उसका शोषण और उस पर होने वाले अत्याचार हैं। ज़मीदारों के अमानवीय व्यवहार से वह त्रस्त है। जब कभी उसका सद्-मनुष्यों से सम्बन्ध आता है; वह अपने स्वार्थ को भूल जाता है। 'कर्मभूमि' में समरकान्त सलीम के अफसरी अभिमान पर हँसकर कहते हैं, "यह बेचारे किसान ऐसे गरीब हैं कि थोड़ी-सी हमदर्दी करके उन्हें गुलाम बना सकते हो। हुकूमत वह बहुत झेल चुके हैं। अब भलमनसी का बर्ताव चाहते हैं।"⁹ प्रेमचन्द को ग्रामीण जीवन नागरिक जीवन से अधिक प्रिय है। स्वार्थ-भावना के होते हुए भी जिस आत्मीयता के दर्शन ग्रामीण जनता में होते हैं, वह नागरिक जनता में दुर्लभ हैं। 'सेवासदन' में प्रेमचन्द लिखते हैं "ग्रामीण जीवन में एक प्रकार की ममता होती है जो नागरिक जीवन में नहीं पाई जाती। एक प्रकार का स्नेह-बन्धन होता है जो सब प्राणियों को, चाहे छोटे हों या बड़े, बाँधे रहता है।"¹⁰

गाँव के लोग शान्तिप्रिय होते हैं। जहाँ तक होता है वे झगड़ों से दूर रहते हैं। 'गोदान' का 'होरी' झगड़े से बचने के लिए गुम खा लेना श्रेयस्कर समझता है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "होरी की कृषक प्रवृत्ति झगड़े से भागती थी। चार बातें सुनकर

गम खा जाना इससे कहीं अच्छा है कि आपस में तनाजा हो। कहीं मारपीट हो जाय, तो थाना-पुलिस हो, बँधे-बँधे फिरो, सबकी चिरौरी करो। अदालत की धूल फाँको, खेती-बारी जहनुम में मिल जाय।”¹¹ इसी प्रकार ‘रंगभूमि’ में प्रभु सेवक कहता है, “सूर्य को सिद्ध करने के लिए दीपक की ज़रूरत नहीं होती। देहाती लोग प्रायः शान्तिप्रिय होते हैं। जब तक उन्हें भड़काया न जाए, लड़ाई-दंगा नहीं करते। आपकी तरह उन्हें ईश्वर-भजन से रोटियाँ नहीं मिलतीं। सारे दिन सिर खपाते हैं तब रोटियाँ नसीब होती हैं।”¹² कृषक की अभिलाषाएँ छोटी-छोटी होती हैं, पर वे भी पूरी नहीं हो पातीं। होरी की अभिलाषा को प्रेमचन्द ने कितने मार्मिक शब्दों में लिखा है, “होरी कदम बढ़ाये चला जाता है। पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा, भगवान्, कहीं गौं से बरखा कर दे और डांडी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय ज़रूर लेगा। देसी गाय न तो दूध दें, न उनके बछवे ही किसी काम के हों। बहुत हुआ तो तेली के कोल्हू में चले। नहीं, वह पछाँई गाय लेगा। उसकी खूब सेवा करेगा। कुछ नहीं तो चार-पाँच सेर दूध होगा। गोबर दूध के लिए तरस-तरसकर रह जाता है। इस उमिर में न खाया-पिया, तो फिर कब खायेगा ? साल-भर भी दूध पी ले, तो देखने लायक हो जाय। बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे। दो सौ से कम में गोई न होगी। फिर, गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जाएँ, तो कहना क्या। न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा।”¹³ और जब होरी की जीवन-लीला समाप्त होती है तब “हीरा ने रोते हुए कहा, “भाभी, दिल कड़ा करो, गो-दान करा दो, दादा चले।’

धनिया ने उसकी ओर तिरस्कार की आँखों से देखा। अब वह दिल को और कितना कठोर करे ? अपने पति के प्रति उसका जो धर्म है, क्या उसको बताना पड़ेगा ? जो जीवन का संगी था, उसके नाम को रोना ही क्या उसका धर्म है ?

और कई आवाज़ें आयीं ‘हाँ, गो-दान करा दो, अब यही समय है।’

धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े मातादीन से बोली, ‘महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है।’

और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।”¹⁴

इस प्रकार प्रेमचन्द ने कृषक के स्वभाव और जीवन पर जगह-जगह बड़े मनोयोग से लिखा है।

किसान की आर्थिक स्थिति भी उनकी आँखों से ओझल नहीं रही। 'वरदान' के उसी 'कमला के नाम विरजन के पत्र' शीर्षक के अन्तर्गत प्रेमचन्द लिखते हैं, "टूटे-फूटे फूस के झोंपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामन कूड़े-करकट के ढेर, कीचड़ में लिपटी हुई भैंसें, दुर्बल गायें...मनुष्यों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा है।...वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक फटा हुआ वस्त्र नहीं है। और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं।"¹⁵

इसी प्रकार 'कर्मभूमि' में भी जगह-जगह किसान-वर्ग की दयनीय दशा का चित्रण किया गया है :

(क) "सलीम बोला मैं समझता था कि देहातियों के पास अनाज के बखारें भरी होंगी, लेकिन यहाँ तो किसी घर में अनाज के मटके तक न थे।... और महाजन और अमले इन्हीं गरीबों को चूसते हैं ? मैं कहता हूँ, उन लोगों को इन बेचारों पर दया नहीं आती ?"¹⁶

(ख) "अमरकान्त ने करुण स्वर में कहा मुझे तो उस आदमी की सूरत नहीं भूलती, जो छः महीने से बीमार पड़ा था और एक पैसे की दवा न ली थी। इस दशा में ज़मींदार ने लगान की डिग्री करा ली और जो कुछ घर में था, नीलाम करा लिया। बैल तक बिकवा लिये। ऐसे अन्यायी संसार की नियन्ता कोई चेतना शक्ति है, मुझे तो इसमें सन्देह हो रहा है।"¹⁷

(ग) "सलीम ने हर एक गाँव का दौरा करके असाभियों की अर्थिक दशा की जाँच करना शुरू की। अब उसे मालूम हुआ कि उनकी दशा उससे कहीं हीन है, जितनी वह समझे बैठा था। पैदावार का मूल्य लागत और लगान से कहीं कम था। खाने-कपड़े की भी गुंजाइश न थी, दूसरे खर्चों का क्या जिक्र ! ऐसा कोई बिरला किसान ही था, जिसका सिर ऋण के नीचे न दबा हो।...उनसे पूरी लगान वसूल करना, मानो उनके मुँह से रोटी का टुकड़ा छीन लेना है, उनकी रक्तहीन देह से खून चूसना है।"¹⁸

'गोदान' तो कृषक जीवन का महाकाव्य ही है। 'होरी' का जीवन तत्कालीन भारत के लाख-लाख किसानों का जीवन है। प्रेमचन्द होरी की शोचनीय आर्थिक दशा का चित्रण करते हुए लिखते हैं : "एक तो जाड़े की रात, दूसरे, माघ की वर्षा। मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ। होरी भोजन करके पुनिया के मटर के खेत की मेड़ पर अपनी मड़ैया में लेटा हुआ था। चाहता था, शीत को भूल जाए और

सो रहे, लेकिन तार-तार कम्बल, फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख आने की नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिला कि उसी से मन बहलाता। उपला सुलगा था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर, हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म साँसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था। ...कम्बल तो उसके जन्म से भी पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में आज वही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है; पर अब वह भोजन को चबाने वाला दाँत नहीं, दुखने वाला दाँत है। जीवन में ऐसा तो कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कभी कुछ बचा हो।”¹⁹

भारतीय किसानों की सबसे ज्वलंत समस्या ऋण के बोझ से मुक्त होने की है। प्रेमचन्दकालीन ही नहीं बल्कि आज भी अधिकांश किसान महाजनी समस्या के पाट के नीचे बुरी तरह पिस रहे हैं। प्रेमचन्द ने बताया कि इन किसानों के लिए “कर्ज वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।”²⁰ ‘गोदान’ का ‘होरी’ बहुत कुछ ऋण-भार के कारण ही आजन्म कष्ट उठाता है और अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। ‘होरी’ और अन्य किसानों के ऋण की चर्चा करते हुए प्रेमचन्द मार्मिक व्यंग्य के साथ लिखते हैं, “फ़सल में सब कुछ खलिहान पर तौल देने पर भी अभी उस पर कोई तीन सौ का कर्ज था, जिस पर कोई सौ रुपये सूद के बढ़ते जाते थे। मंगरू शाह से आज पाँच साल हुए बैल के लिए साठ रुपये लिये थे। उसमें साठ दे चुका था, पर यह साठ रुपये ज्यों-के-त्यों बने हुए थे। दातादीन पंडित से तीस रुपये लेकर आलू बोए। आलू तो चोर खोद ले गए और उन तीस के इन तीन बरसों में सौ हो गए थे। दुलारी विधवा सहुवाइन थी, जो गाँव में नोन, तेल, तम्बाकू की दुकान रखे हुए थी। बँटवारे के समय उससे चालीस रुपये लेकर भाइयों को देना पड़ा था। उसके भी लगभग सौ रुपये हो गए थे; क्योंकि आने रुपये का ब्याज था। लगान के भी और पचीस रुपये बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शकुन के रुपयों का भी कोई प्रबन्ध करना था। ज़िन्दगी के दो बड़े-बड़े काम सिर पर सवार थे, गोबर और सोना का विवाह...यह विपत्ति अकेले उसी के सिर पर न थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था। अधिकांश की दशा तो इससे भी बदतर थी।”²¹

एक ओर ऋण का बोझ और दूसरी ओर जमींदारों के अत्याचार। किसानों

के शोषण का भयंकर रूप प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में बताया है। जब तक किसान-वर्ग ज़मींदारों के चुंगल से मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसकी समस्याएँ सुलझ नहीं सकतीं। ज़मींदारों और सरकारी अफसरों व कर्मचारियों के द्वारा शोषित किसानों के अनेक चित्र प्रेमचन्द ने चित्रित किए हैं :

“इसमें सन्देह नहीं कि अधिकारियों के यह दौरे सदृच्छाओं से प्रेरित होकर होते हैं।...किन्तु जिस भाँति प्रकाश की रश्मियाँ पानी में वक्रगामी हो जाती हैं, उसी भाँति सदृच्छाएँ भी बहुधा मानवी दुर्बलताओं के सम्पर्क से विषम हो जाया करती हैं। अधिकारी वर्ग और उनके कर्मचारी विरहिणी की भाँति इस सुखकाल के दिन गिना करते हैं। शहरों में तो दाल नहीं गलती, या गलती है तो बहुत कम। वहाँ प्रत्येक वस्तु के लिए उन्हें जेब में हाथ डालना पड़ता है, किन्तु देहातों में जेब की जगह उनका हाथ अपने सोटे पर होता है या किसी दीन किसान की गर्दन पर।...जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं। घी से भरे हुए कनस्टर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं। घर वाले हर्ष के फूले नहीं समाते, अपने भाग्य को सराहते हैं। ... देहात वालों के लिए यह बड़े संकट के दिन होते हैं, उनकी शामत आ जाती है, मार खाते हैं, बेगार में पकड़े जाते हैं, दासत्व के दारुण निर्दय आघातों से आत्मा का भी हास हो जाता है।”²²

“ज़मींदारों के बावन हाथ हाते हैं।”²³ उनका वर्ग किसानों को किसी न किसी बहाने फँसाने का सामर्थ्य रखता है। पुलिस, न्यायालय, सरकारी अधिकारी, कर्मचारी सभी की उनकी पर बड़ी कृपा होती है; क्योंकि किसान की लूट में इन सभी का हाथ रहता है। ‘प्रेमाश्रम’ में दारोगा नूर आलम सुक्खू चौधरी को किस जालसाज़ी से फँसाता है

“सुक्खू चौधरी ने कभी कोकीन का सेवन नहीं किया था, उसकी सूरत नहीं देखी थी, उसका नाम नहीं सुना था, उसके घर में एक तोला कोकीन बरामद हुई। फिर क्या था मुक़दमा तैयार हो गया। माल निकलने की देर थी, हिरासत में आ गए।”²⁴

नकली न्याय का पर्दाफ़ाश करता हुआ कादिर कहता है

“खुदा ताला ने आँखें बन्द कर ली हैं। जो कोई भला मानुष दरद बूझकर हमारे पीछे खड़ा हो जाता है, तो उस बेचारे की जान भी आफत में फँस जाती है। उसे तंग करने के लिए, फँसाने के लिए तरह-तरह के कानून गढ़ लिए जाते हैं।”²⁵

अहलकार लोग ग़रीबों को किस तरह सताते हैं इसका नग्न चित्र 'कायाकल्प' में विद्यमान है। राजा विशालसिंह के गद्दी-उत्सव के लिए असामियों पर हल पीछे दस रुपये चन्दा लगा दिया जाता है। निर्धन असामी देने से आनाकानी करते हैं तब कर्मचारियों को आदेश मिलता है कि धड़ल्ले से रुपयों की वसूली कीजिए। प्रेमचन्द लिखते हैं

“हुकूम मिलने की देर थी। कर्मचारियों के हाथ तो खुजा रहे थे। वसूली का हुकूम पाते ही बाग-बाग हो गए। फिर तो वह अँधेर मचा कि सारे इलाके में कुहराम पड़ गया।...चारों तरफ लूट-खसोट हो रही थी। गालियाँ और ठोक-पीट तो साधारण बात थी। किसी के बैल खोल लिए जाते थे, किसी की गाय छीन ली जाती, कितनों ही के खेत कटवा लिए गए। बेदखली के इजाफ़े की धमकियाँ दी जाती थीं। जिसने खुशी से दिए, उसका तो 10) ही में गला छूट गया। जिसने हीले-हवाले किए, कानून बघारा, उसे 10) के बदले 20), 30), 40) देने पड़े।”²⁶

इस प्रकार अहलकार, थानेदार, पटवारी, कानूनगो, कारिन्दे, माल के हुक्काम सभी को किसानों की जान का गाहक प्रेमचन्द ने बताया है। न्यायालय के कारकुन, मुहर्रि, चपरासी सभी किसान को चूसने में लगे हुए हैं। धर्मभीरुता के कारण भी किसानों का पर्याप्त शोषण होता है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने महन्तजी और किसानों का तुलनात्मक चित्रण करके धर्म की आड़ में होने वाले किसानों के शोषण पर प्रकाश डाला है, “बेचारे एक तो गरीब, ऋण के बोझ से लदे हुए, दूसरे मूर्ख, न कायदा जानें, न कानून। महन्तजी जितना चाहें इजाफ़ा करें, जब चाहें बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। अक्सर खेतों का लगान इतना बढ़ गया था कि सारी उपज लगान के बराबर न पहुँचती थी; किन्तु लोग भाग्य को रोकर, भूखे-नंगे रहकर कुत्तों की मौत मरकर खेत जोतते थे।...

किसानों ने एक-एक दाना बेच डाला, भूसे का एक तिनका भी न रखा; लेकिन यह सब कुछ करने पर भी चौथाई लगान से ज़्यादा न अदा कर सके। और ठाकुरद्वारे में वही उत्सव थे, वही जल-विहार थे।²⁷

धर्मभीरु होरी दातादीन के छल-कपट और बेईमानी का विरोध नहीं करता, प्रत्युत, “होरी के पेट में धर्म की क्रांति मची हुई थी। अगर ठाकुर या बनिये के रुपये होते तो उसे ज़्यादा चिन्ता न होती; लेकिन ब्राह्मण के रुपये उसकी एक पाई भी दब गई तो हड्डी तोड़कर निकलेगी। भगवान् न करें कि ब्राह्मण का कोप किसी पर गिरे। बंस में कोई चिल्लू-भर पानी देने वाला, घर में दिया जलाने वाला भी नहीं

रहता। उसका धर्मभीरु मन त्रस्त हो उठा। उसने दौड़कर पंडित जी के चरण पकड़ लिए और आर्त स्वर में बोला महाराज, जब तक मैं जीता हूँ, मैं तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊंगा।”²⁸ शोषक वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए ऐसे ही धर्म की व्यवस्था कर रखी है। सीधे व धर्मपरायण किसानों का शोषण उसकी आड़ में आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। महाजनी सभ्यता पैसे के लिए सब कुछ करने के लिए कटिबद्ध है। किसानों की महाजनों ने क्या दशा कर रखी है, उका स्वरूप शोभा और होरी के वार्तालाप में भली-भाँति देखा जा सकता है :

“शोभा निराश होकर बोला न जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं।

होरी बोला इस जनम में तो कोई आशा नहीं है भाई। हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोंटा पहनना और मोटा-झोंटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।”²⁹

इस प्रकार प्रेमचन्द ने किसान-वर्ग के जीवन की विस्तृत झाँकी अपने उपन्यासों में चित्रित की है। किसान की अनेक समस्याओं का सम्यक् उद्घाटन करने के बाद वे उसके हल का उपाय भी सुझाते हैं। वास्तव में किसान की प्रमुख समस्या आर्थिक है। जब तक किसान का शोषण बन्द नहीं होता तब तक उसकी दशा में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए किसान का शोषण करने वाले वर्ग का नाश होना आवश्यक है। प्रेमचन्द ने इस दिशा में स्पष्ट संकेत दिए हैं। उन्होंने किसान-वर्ग में उभरती एक नई विद्रोही पीढ़ी का चित्रण करके किसानों के मुक्ति-संग्राम को दिशा दी है। ‘प्रेमाश्रम’, ‘कर्मभूमि’, और ‘गोदान’ में प्रेमचन्द का क्रांतिकारी व्यक्तित्व देखने योग्य है। ‘प्रेमाश्रम’ का मनोहर प्रारम्भ में भी अपने स्वभिमान के प्रति कितना सजग है : “गिरधर जब ज़मींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुक्म के बाहर नहीं जा सकते।

मनोहर ज़मीन कोई खैरात जोतते हैं ? उसका लगान देते हैं। एक किस्त भी बाकी पड़ जाय तो नालिश होती है।”³⁰ मनोहर से कहीं विद्रोही व्यक्तित्व बलराज नामक नौजवान किसान का है। बलराज स्पष्ट चुनौती के शब्दों में कहता है : “ज़मींदार कोई बादशाह नहीं है कि चाहे जितनी जबरदस्ती करे और हम मुँह न खोलें। इस ज़माने में तो बादशाह को भी इतना अख़्तियार नहीं, ज़मींदार किस गिनती में हैं। कचहरी-दरबार में कहीं सुनायी नहीं है। तो (लाठी दिखाकर) यह तो कहीं नहीं गयी है।”³¹

किसान के हृदय और मस्तिष्क से सर्वप्रथम भय दूर करना आवश्यक है। तभी वह शोषक का बुलंदी से सामना कर सकता है। दूसरे, उसका शिक्षित होना भी अनिवार्य है। दुनिया के अन्य देशों के किसान-आन्दोलनों की जानकारी मिलते रहने पर भारतीय किसान भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकता है। प्रेमचन्द ने बलराज को ऐसे ही जागरूक किसान के रूप में 'प्रेमाश्रम' में चित्रित किया है। बलराज कहता है- "मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज्य है। वह जो चाहते हैं, करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"³² सरकारी अफसरों की मनमानी लूट के विरुद्ध भी प्रेमचन्द अपने किसानों को खड़ा करते हैं। "कादिर इसमें हाकिमों का कसूर नहीं यह सब उनके लश्कर वालों की धाँधली है।

मनोहर कैसी बातें कहते हो दादा ? यह सब मिलीभगत है। हाकिम का इशारा न हो तो मजाल है कि कोई लश्करी पराई चीज़ पर हाथ डाल सके। सब कुछ हाकिमों की मर्जी से होता है। सेंट का माल किसको बुरा लगता है ?"³³ प्रेमचन्द के ये किसान गूँगे, बेबस और कमज़ोर नहीं हैं। उनमें क्रांतिकारी भावनाएँ कूट-कूटकर भरी हुई हैं। जो हर अन्याय का सक्रिय विरोध करते हैं। 'गोदान' में 'धनिया' और 'गोबर' का व्यक्तित्व भी ऐसा ही है। धनिया की स्पष्ट मान्यता है, "हमने ज़मींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें ? उसके तलवे क्यों सहलावें ?"³⁴ गोबर अपने पिता के दब्बूपन का विरोध करता हुआ कहता है, "रोज़-रोज़े मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो ? बाकी न चुके, तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नजर-नजराना सब तो हमसे भराया जाता है फिर किसी की क्यों सलामी करो ?"³⁵ दातादीन के हथकंडों का पर्दाफाश करता हुआ गोबर एक और स्थल पर कहता है, "मुझे खूब याद है, तुमने बैल के लिए तीस रुपये दिये थे। उसके सौ हुए। अब सौ के दो-सौ हो गए। इसी तरह इन लोगों को लूट-लूटकर मजूर बना डाला और आप उनकी जमीन के मालिक बन बैठे। तीस के दो-सौ। कुछ हद है।"³⁶ और दातादीन के चले जाने पर, "गोबर ने तिरस्कार की आँखों से देखकर कहा "गये थे देवता को मनाने ? तुम्हीं लोगों ने तो इन सबों का मिजाज बिगाड़ दिया है। तीस रुपये दिए, अब दो-सौ रुपये लेगा और डॉट ऊपर से बतायेगा और तुमसे

मजूरी करायेगा और काम कराते-कराते मार डालेगा।”³⁷ होली के पर्व पर व्यंग्य करने का गाँव वालों को अवसर मिलता है। प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता पर एक स्थल पर बड़ा करारा व्यंग्य किया है। किसान महाराज ठाकुर की नक़ल बना रहे हैं

“किसान आकर ठाकुर के चरण पकड़कर रोने लगता है। बड़ी मुश्किल से ठाकुर रुपये देने पर राजी होते हैं। अब कागज़ लिखा जाता है और असामी से हाथ में पाँच रुपये दिए जाते हैं, तो वह चकराकर पूछता है

‘यह तो पाँच ही हैं मालिक।’

‘पाँच नहीं, दस हैं घर जाकर गिनना।’

‘नहीं सरकार पाँच हैं।’

‘एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं ?’

‘हाँ सरकार।’

‘एक तहरीर का ?’

‘हाँ सरकार।’

‘एक कागद का ?’

‘हाँ सरकार।’

‘एक दस्तूरी का ?’

‘हाँ सरकार’

‘एक सूद का ?’

‘हाँ सरकार।’

‘पाँच नगद, दस हुए कि नहीं ?’

‘हाँ सरकार। अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजए।’

‘कैसा पागल है !’

‘नहीं सरकार। एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का, एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने का, एक रुपया बड़ी ठकुराइन के पान खाने का। बाकी बचा एक वह आपके क्रिया-कर्म के लिए।’

³⁸ गोबर के माध्यम से प्रेमचन्द भारतीय किसानों को जो संदेश देते हैं, वह किसान-वर्ग के भविष्य का मूलाधार है “उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफ़तों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आएगी।”³⁹ प्रेमचन्द ने

इस प्रकार किसानों की मात्र दयनीय दशा का ही चित्रण नहीं किया , प्रत्युत उनमें उभरते हुए क्रांतिकारी विचारों को भी व्यक्त किया है। प्रेमचन्द का साहित्य किसान को पस्त-हिम्मत नहीं करता, वह उन्हें सजग करता है, उन्हें अपने अधिकारों के पाने के लिए संगठित होने की प्रेरणा देता है। उनके आन्दोलनों को बल पहुँचता है।

किसान-वर्ग की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में स्पष्ट घोषण की है, जिसके अनुसार ज़मींदारी-प्रथा का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

प्रेमशंकर और ज्वालासिंह के संवादों में प्रेमचन्द अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं : "प्रेम मेरा सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी मेहनत की कमाई खानी चाहिए। यही प्राकृतिक नियम है। किसी को यह अधिकार नहीं कि दूसरों की कमाई को अपनी जीवन-वृत्ति का आधार बनाये।

ज्वाला तो यह कहिए कि आप जमींदार के पेशे को ही बुरा समझते हैं !

प्रेम हाँ, मैं इसका भक्त नहीं हूँ। भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिनके बिना खेती नहीं हो सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।"⁴⁰

अतः स्पष्ट है, प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में मात्र ग्रामीण जीवन की कथा ही नहीं कहते वरन् उस कथा के माध्यम से वे ग्रामीण जीवन की नाना समस्याओं और प्रश्नों पर प्रकाश डालते हुए उनके हल का रास्ता भी बताते हैं। भारतीय किसानों की आज प्रमुख समस्या ज़मींदारी-प्रथा से मुक्ति की समस्या है; क्योंकि इसी पहलू पर उनकी आर्थिक स्थिति निर्भर करती है।

प्रेमचन्द ने अपने किसानों को इसी प्रथा के विरोध में खड़ा किया है तथा उन्हें सही दिशा दी है। यह मार्ग समस्यामूलक उपन्यासकार ही अपना सकता है।

संदर्भ-संकेत

1 'कायाकल्प', पृ. 253

2 'वरदान', पृ. 80

3 'रंगभूमि' (भाग -1), पृ. 175

4 वही, पृ. 204

5 'गोदान', पृ. 22

6 वही, पृ. 3

- 7 वही, पृ. 302
- 8 वही, पृ. 11
- 9 'कर्मभूमि', पृ. 252
- 10 'सेवासदन', पृ. 68
- 11 'गोदान', पृ. 56
- 12 'रंगभूमि' (भाग -1), पृ. 209-210
- 13 'गोदान', पृ. 5
- 14 वही, पृ. 490-491
- 15 'वरदान', पृ. 89
- 16 'कर्मभूमि', पृ. 27
- 17 वही, पृ. 28
- 18 वही, पृ. 370
- 19 'गोदान', पृ. 158
- 20 वही, पृ. 338
- 21 वही, पृ. 45-46
- 22 'प्रेमाश्रम', पृ. 71-72
- 23 वही, पृ. 251
- 24 वही, पृ. 272
- 25 वही, पृ. 279
- 26 'कायाकल्प', पृ. 129-130
- 27 'कर्मभूमि', पृ. 297-298
- 28 'गोदान', पृ. 297-298
- 29 वही, पृ. 246
- 30 'प्रेमाश्रम', पृ. 5
- 31 वही, पृ. 67
- 32 वही, पृ. 69
- 33 वही, पृ. 73
- 34 'गोदान', पृ. 3
- 35 वही, पृ. 19
- 36 वही, पृ. 298
- 37 वही, पृ. 298
- 38 वही, पृ. 294-295
- 39 वही, पृ. 481
- 40 'प्रेमाश्रम', पृ. 230

अस्पृश्यता

अछूत-वर्ग के अन्तर्गत प्रेमचन्द ने केवल चमारों के जीवन पर प्रकाश डाला है। किसी विशिष्ट जाति को लेकर प्रेमचन्द ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे वास्तव में उस जाति-विशेष तक ही सीमित न रहकर उस वर्ग के ही बन गए हैं। अतः चमारों के रहन-सहन, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति आदि का जहाँ कहीं चित्रण किया गया है, वहाँ समस्त अछूत-वर्ग का ही चित्रण समझना चाहिए।

छुआछूत हिन्दू समाज की एक भयंकर सामाजिक बीमारी है। धार्मिक अन्धविश्वासों द्वारा पोषित छुआछूत की भावनाएँ हिन्दू समाज के अधिकांश जनों में व्याप्त हैं। ये लोग चाहे अपढ़ ग्रामीण-स्त्री-पुरुष हों या पढ़े-लिखे नागरिक, दोनों अपने को इस सामाजिक कुरीति से मुक्त नहीं कर सकते हैं। प्रेमचन्द छुआछूत के विरुद्ध थे। मनुष्य-मनुष्य के बीच यह अन्तर अमानवीय है। प्रेमचन्द ने हिन्दू समाज में पाये जाने वाले इस अमानवीय भाव को दूर करने और अछूत-वर्ग के स्वाभिमान को जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया है।

अछूत-वर्ग पर 'कर्मभूमि' में विस्तार से लिखा गया है। वास्तव में यही एक उपन्यास है जिसमें अछूतों की समस्या पाई जाती है। वैसे 'प्रतिज्ञा', 'गोदान' आदि उपन्यासों में भी यत्र-तत्र अछूतों की समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

अछूत-समस्या के अनेक पहलू हैं। कुछ लोग इसे मात्र धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हैं। हिन्दुओं ने अपने मन्दिरों में अछूतों का प्रवेश निषिद्ध कर रखा है। अनेक समाज-सुधारक अछूतों को मन्दिर-प्रवेश करा देने में ही अछूतों की समस्या का समाधान समझ बैठे हैं। वास्तव में, मंदिर-प्रवेश से अछूतों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता। उनकी मूल समस्या तो सामाजिक ओर आर्थिक है। जब तक समाज में तथाकथित अछूत-वर्ग और उसके कर्म के प्रति सम्मान-भाव उत्पन्न नहीं

होता तब-तक उसके जीवन में क्रांति नहीं आ सकती। प्रेमचन्द ने जहाँ प्रस्तुत समस्या के धार्मिक पहलू को छुआ है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया है।

प्रेमचन्द किसी वर्ग-विशेष के प्रति मात्र बौद्धिक संवेदना ही प्रकट नहीं करते। अछूत-वर्ग एक दलित, तिरस्कृत और उपेक्षित वर्ग है, मात्र इसीलिए आँखें बन्द करके उसके गुण-गान करना प्रेमचन्द की नीति नहीं है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग का पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। जहाँ उन्होंने अच्छाइयों को छुआ है वहाँ उस वर्ग-विशेष में पाई जाने वाली दुर्बलताओं को भी छोड़ा नहीं है। यह अवश्य है कि उनकी सहानुभूति समाज द्वारा पीड़ित और बहिष्कृत वर्गों की ओर है; पर यह सहानुभूति सचाई को तोड़ती-मरोड़ती नहीं है।

‘कर्मभूमि’ में दूसरे भाग से चमारों के जीवन की कहानी प्रारम्भ होती है; जब अमर एक परदेशी के रूप में एक पहाड़ी गाँव में पहुँचता है, जहाँ रैदास रहते हैं। सर्वप्रथम उसका एक बुढ़िया से साक्षात्कार होता है। अमर जात-पाँत के सम्बन्ध में प्रारम्भ में ही स्पष्ट घोषणा करता है, “मैं जात-पाँत नहीं मानता, माताजी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो, तो आदर के योग्य है; जो दगाबाज़, झूठा, लम्पट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के योग्य नहीं।”¹ प्रेमचन्द की यह स्पष्ट मान्यता थी।

अछूतों की आर्थिक स्थिति कितनी भयावह है उसका चित्र उस बुढ़िया रैदास की झोपड़ी है “अमर झोपड़ी में गया, तो उसका हृदय काँप उठा, मानों दरिद्रता छाती पीट-पीटकर रो रही है। और हमारा उन्नत समाज विलास में मग्न है। उसे रहने को बँगला चाहिए, सवारी को मोटर। इस संसार का विध्वंस क्यों नहीं हो जाता ?”²

चमारों की सामाजिक स्थिति का चित्रण बालकों के मुख से प्रेमचन्द करवाते हैं। अमर चमार बालकों से पूछता है, “कहाँ पढ़ने जाते हो ? बालक ने नीचे ओठ सिकोड़कर कहा कहाँ जायँ, हमें कौन पढ़ाये ? मदरसे में कोई जाने तो देता नहीं। एक दिन दादा हम लोगों को लेकर गए थे। पंडित जी ने नाम लिख लिया, पर हमें सबसे अलग बैठाए थे। सब लड़के हमें ‘चमार-चमार’ कहकर चिढ़ाते थे। दादा ने नाम कटा दिया।”³ इस समाज में जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होता तब-तक उसके सामाजिक स्तर को ऊँचा नहीं उठाया जा सकता। अशिक्षित दशा में, उनमें पाए जाने वाले दोष भी नहीं मिट सकते एवं उनकी

आर्थिक स्थिति भी नहीं सुधर सकती।

प्रेमचन्द ने चमार-वर्ग के चित्रण में कम रुचि नहीं ली है। उन्होंने चमार-वर्ग को क्षयी या दमित रूप में चित्रित नहीं किया वरन् उसमें वर्ग-चेतना की आग भड़कती बताई है। वे प्रत्येक अनीति और अत्याचार का कड़ा विरोध करते हैं। इस पहाड़ी गाँव का चौधरी गूदड़ अमर से कहता है, “भगवान् ने छोटे-बड़े का भेद क्यों लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उसके तो सभी लड़के हैं। फिर सबको एक आँख से क्यों नहीं देखता ?

प्रयाग ने शंका समाधान की पूरब-जनम का संस्कार है। जिसने जैसे कर्म किये, वैसे फल पा रहा है।

चौधरी ने खण्डन किया यह सब मन को समझाने की बातें हैं बेटा, जिससे गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीर के राग-रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते रहें कि भगवान् ने हमको गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष; पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें और पेट भर भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हज़ार की तलब मिले।”⁴

जहाँ प्रेमचन्द अछूतों के स्वाभिमान की पूरी रक्षा करते हैं वहाँ उनमें पाये जाने वाले दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं। मृत गो का मांस खाने का प्रश्न सामने आता है। पक्ष-विपक्ष में अनेक बातें कहीं जाती हैं। चमारों में पूर्व-संस्कारों के कारण मृत गाय का मांस खाना साधारण बात थी। और भी निम्न प्रवृत्तियाँ चमार-वर्ग में पाई जाती हैं। दारू-शराब और मुरदा-मांस का प्रचलन होने से अन्य जातियाँ चमारों से दूर रहती हैं। उनके सामाजिक बहिष्कार के पीछे कुछ उनमें भी पाये जाने वाले दोष हैं। प्रेमचन्द ने इस पहलू पर भी स्पष्ट रूप से लिखा है। चमड़े का काम करने अथवा जूते बनाने से कोई जाति निकृष्ट नहीं हो जाती, लेकिन इस बात को स्वीकार करने पर भी चमारों में पाये जानेवाले दोषों पर परदा नहीं डाला जा सकता। मुर्दा गाय के मांस खाने के सम्बन्ध में प्रेमचन्द एक युवक को मध्यस्थ बनाकर कहलाते हैं, “मरी गाय के मांस में ऐसा कौन-सा मज़ा रखा है, जिसके लिए सब मरे जा रहे हो। गड्ढा खोदकर मांस गाड़ दो, खाल निकाल लो...सारी दुनिया हमें इसीलिए अछूत समझती है कि हम दारू-शराब पीते हैं, मुरदा-मांस खाते हैं और चमड़े का काम करते हैं और हममें क्या बुराई है? दारू शराब हमने छोड़ ही दी; हमने क्या छोड़ दी, समय ने छुड़वा दी। फिर मुरदा-मांस

में क्या रखा है ? रहा चमड़े का काम उसे कोई बुरा नहीं कह सकता और अगर कहे भी तो हमें उसकी परवाह नहीं। चमड़ा बनाना-बेचना बुरा काम नहीं।”⁵

मरी गाय का मांस यदि दो-चार चमार खाना छोड़ देंगे तो इससे उनकी बिरादरी के सभी चमार तो सुधर नहीं जाते। दो-चार का हृदय-परिवर्तन कर देने से कोई सामूहिक हल सामने नहीं आता। लेकिन प्रेमचन्द इसके लिए रुकने वाली नहीं थे। इसी बीच एक बूढ़े ने कहा, “तुम्हारे या हमारे छोड़ देने से क्या होता है? सारी बिरादरी तो खाती है !

भूरे ने जवाब दिया बिरादरी खाती है, बिरादरी नीच बनी रहे। अपना-अपना धर्म अपने-अपने साथ है।

गूदड़ ने भूरे को सम्बोधित किया तुम ठीक कहते हो। लड़कों का पढ़ाना ही ले लो। पहले कोई भेजता था अपने लड़के को ? मगर जब हमारे लड़के पढ़ने लगे, तो दूसरे गाँव के लड़के भी आ गये।”⁶ इस प्रकार प्रेमचन्द कर्म में अधिक विश्वास रखते थे। वे मात्र वैचारिक दुनिया में अपने पात्रों को नहीं छोड़ देते, वरन् उन्हें कर्मठ और जीवटपूर्ण बनाकर सामाजिक सुधार की दिशा में लगा देते हैं।

‘कर्मभूमि’ में अछूत-समस्या का दूसरा पहलू मंदिर-प्रवेश का है जो एक सीमा तक उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। एक महीने से ठाकुरद्वारे में पं. मधुसूदन जी की कथा हो रही है। एक दिन सहसा पिछली सफों में हंगामा हो जाता है। कथा बन्द हो जाती है। यह हंगामा मन्दिर में बैठे अछूतों को लेकर होता है। प्रेमचन्द ने धर्मध्वजियों की वास्तविकता इस प्रसंग को लेकर विस्तार से चित्रित की है :

“ब्रह्मचारी लोग भगवान् की कथा सुनने आते हैं कि अपना धर्म भ्रष्ट करने आते हैं ? भंगी, चमार जिसे देखो, घुसा चला आया है। ठाकुर जी का मन्दिर न हुआ, सराय हुई।

...ये दुष्ट रोज़ यहाँ आते थे। रोज़ सबको छूते थे। इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज़ खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है ? धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है ? धर्मात्माओं के क्रोध का पारावार न रहा। कई आदमी जूते ले लेकर उन गरीबों पर पिल पड़े। भगवान् के मन्दिर में, भगवान् के भक्तों के हाथों, भगवान् के भक्तों पर पादुका-प्रहार होने लगा।”⁷

प्रेमचन्द इन धर्म के तथाकथित ठेकेदारों से कहीं समझौता नहीं करते। डा. शान्तिकुमार के मुख से चुनौती के स्वर में कहलाते हैं, “अन्धे भक्तों की आँखों में

धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गये ? अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं,।”

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे। ‘कर्मभूमि’ में जब उन्होंने अछूतों की समस्या को स्पर्श किया तो उस पर ऊपरी तौर पर ही लिखकर वे सन्तोष नहीं कर लेते। वे समाज को सचेत करते हैं, उसे और आगे बढ़ाते हैं तथा उसे अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तैयार भी करते हैं। दूसरे दिन नियत समय पर कथा फिर प्रारम्भ होती है, पर अछूत-वर्ग और उससे सहानुभूति रखने वाले लोग उसमें भाग नहीं लेते। वे ‘नौजवान सभा’ के नाम से खुले मैदान में अपनी अलग कथा का आयोजन करते हैं। प्रेमचन्द ने इन दोनों समाजों की कथा का चित्रण करके बताया है कि धर्म के उपासक वास्तव में कौन हैं। मन्दिर में हो रही कथा का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, “श्रोताओं की संख्या बहुत कम हो गयी थी। मधुसूदन जी ने बहुत चाहा कि रंग जमा दें, पर लोग जम्हाइयाँ ले रहे थे। और पिछली सफ़ों में लोग धड़ल्ले से सो रहे थे। मालूम होता था, मन्दिर का आँगन कुछ छोटा हो गया है, दरवाज़े कुछ नीचे हो गये हैं।”⁹ यह दशा उन ‘धर्मवीरों’ की है जो मन्दिर में अछूतों को देखकर हिंसक हो उठे थे, जो धर्म पर अपना एकाधिकार समझते हैं। दूसरी और प्रगतिशील जमात द्वारा आयोजित कथा का दृश्य देखिये, “उधर नौजवान सभा के सामने खुले मैदान में शान्तिकुमार की कथा हो रही थी। ब्रजनाथ, सलीम, आत्मानन्द आदि आने वालों का स्वागत करते थे। थोड़ी देर में दरियाँ छोटी पड़ गयीं और थोड़ी देर और गुज़रने पर मैदान भी छोटा पड़ गया। अधिकांश लोग नंगे बदन थे, कुछ लोग चीथड़े पहने हुए थे। उनकी देह से तम्बाकू और मैलपन की दुर्गन्ध आ रही थी। स्त्रियाँ आभूषणहीन, मैली कुचैली धोतियाँ या लहंगे पहने हुए थीं।... पर हृदयों में दया थी, धर्म था, सेवा-भाव था, त्याग था।”¹⁰

यह वास्तविक धर्म का रूप था; मनुष्य-मनुष्य के बीच किसी छुआछात व घृणा का नाम न था। मुसलमान, हिन्दू अछूत सभी दया, धर्म, सेवा और त्याग के साक्षात् अवतार बने हुए थे। प्रेमचन्द ने इस तुलनात्मक चित्रण द्वारा धर्म के ठेकेदारों की धज्जियाँ उड़ाई हैं। समस्त धार्मिक पाखण्डों को खोलकर रख दिया है। कथा के वर्ण्य-विषय पर प्रेमचन्द लिखते हैं, “यह देवी-देवताओं और अवतारों की कथा न थी, ब्रह्म-ऋषियों के तप और तेज का वृत्तन्त न था, क्षत्रियों के शौर्य और दान की गाथा न थी। यह उस पुरुष का पावन चरित्र था, जिसके यहाँ मन

और कर्म की शुद्धता ही धर्म का मूल तत्त्व है। वही ऊँचा है, जिसका मन शुद्ध है, जिसका मन अशुद्ध है, जिसने वर्ण का स्वाँग रचकर समाज के एक अंग को मान्य और दूसरे को म्लेच्छ नहीं बनाया। किसी के लिए उन्नति या उद्धार का द्वार नहीं बन्द किया, एक के माथे पर बड़प्पन का तिलक और दूसरे के के माथे पर नीचता का कलंक नहीं लगाया। इस चरित्र में आत्मोन्नति का एक सजीव सन्देश था, जिसे सुनकर दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था, मानों उनकी आत्मा के बन्धन खुल गये हैं, संसार पवित्र और सुन्दर हो गया है।¹¹ धर्म की इससे सुन्दर व्याख्या और क्या हो सकती है! अछूतों के सामाजिक सम्मान को बढ़ाने के लिए प्रेमचन्द ने वर्णवादियों की दूषित मनोवृत्तियों पर प्रहार करने में कोई कसर नहीं की। अगले रोज़ फिर कथा होती है। डा. शान्तिकुमार का प्रवचन चल रहा है, “क्या तुम ईश्वर के घर से गुलामी करने का बीड़ा लेकर आये हो ? तुम तन-मन से दूसरों की सेवा करते हो, पर तुम गुलाम हो। तुम्हारा समाज में कोई स्थान नहीं। तुम समाज की बुनियाद हो। तुम्हारे ही ऊपर समाज खड़ा है, पर तुम अछूत हो। तुम मन्दिरों में नहीं जा सकते। ऐसी अनीति इस अभागे देश के सिवा और कहाँ हो सकती है ? क्या तुम सदैव इसी भाँति पतित और दलित बने रहना चाहते हो ?

...मन्दिर किसी एक आदमी या समुदाय की चीज़ नहीं है। वह हिन्दू मात्र की चीज़ है। यदि तुम्हें कोई रोकता है तो उसकी ज़बरदस्ती है। मत टलो उस मन्दिर के द्वार से, चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा ही क्यों न हो।¹²

इस प्रकार ‘कर्मभूमि’ में समाज के ये दलित अछूत संगठित होकर अपने सामाजिक अधिकारों की लड़ाई छेड़ देते हैं। पहले शान्तिपूर्ण प्रतिशोध में उन्हें सफलता नहीं मिलती। पंडे-पुजारियों की लाठियों के कुंदों के प्रहारों से आहत होकर भीड़ में भगदड़ मच जाती है। डा. शान्तिकुमार भीड़ को रोकते रह जाते हैं और अन्त में घायल होकर बेहोश होकर गिर जाते हैं। प्रेमचन्द यहाँ यथार्थ चित्रण करके समस्या को स्वाभाविक विकास की दिशा में ले जाते हैं। युग-युग से दलित वर्ग में चेतना और संघर्ष का क्रमिक विकास प्रेमचन्द ने बताया है। कोई जादू की छड़ी से वे अछूत-वर्ग का कायाकल्प नहीं कर देते। जहाँ वे यथार्थ का आँचल नहीं छोड़ते वहीं दूसरी ओर अछूत-वर्ग के साहस को भी कम करके नहीं बताते। इस प्रकार प्रेमचन्द-साहित्य दलित-वर्ग को शक्ति प्रदान करता है। उसे निराश नहीं होने देता। अगले रोज़ अछूतों का आन्दोलन ज़ोर पकड़ता है। हिन्दू धर्म के तथाकथित रक्षक अछूतों के बढ़ते आन्दोलन पर, आपे से बाहर हो जाते

हैं। पुलिस भी उन्हीं की रक्षा के लिए आ जाती है। समरकान्त क्रोधित हाकर कहता है, “वहाँ का तो रास्ता ही बन्द है। जाने कहाँ के चमार-सियार आकर द्वार पर बैठे हैं। किसी को जाने ही नहीं देते। पुलिस खड़ी उन्हें हटाने का प्रयत्न कर रही है, पर अभागे कुछ सुनते ही नहीं।”¹³ अन्त में लाला समरकान्त निहत्थे अछूतों और उनके उद्धारकों पर गोली चला देते हैं। प्रेमचन्द नैना के मुख से ऐसे धर्म पर टिप्पणी करवाते हैं, “जिस धर्म की रक्षा गोलियों से हो, उस धर्म में सत्य का लोप समझो।”¹⁴ अछूतोद्धार के इस आन्दोलन में प्रेमचन्द नारी-वर्ग को सबसे अधिक सामने लाते हैं। उनकी नारियाँ अछूत विरोधी तत्त्वों का खुला विरोध करती हैं। सुखदा और नैना के द्वारा प्रेमचन्द ने भारत की प्रगतिशील नारियों के विचारों-भावों को व्यक्त किया है। सम्भवतः इसलिए भी कि भारतीय स्त्रियाँ अधिकतर धर्मपरायण होती हैं। उनमें चेतना का समावेश नितान्त अनिवार्य है। जब ऐसी स्त्रियाँ ‘कर्मभूमि’ को पढ़ेंगी तो उनका प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्रियों के साहस और मानवीय गुणों से निश्चय ही वे प्रभावित होंगी। सुखदा के भाषण से भागने वाले आदमियों की एक दीवार-सी खड़ी हो जाती है। प्रेमचन्द ने इस आन्दोलन की दृढ़ता का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। वे लिखते हैं- “बन्दूकों से धाँय-धाँय की आवाजें निकलीं। एक गोली सुखदा के कानों के पास से भन से निकल गयी। तीन-चार आदमी गिर पड़े, पर दीवार ज्यों-की-त्यों अचल खड़ी थी।”¹⁵

अछूत मन्दिर में प्रवेश कर ही जाते हैं। प्रेमचन्द ने यह मन्दिर-प्रवेश कोई गांधीवादी ढंग पर चित्रित नहीं किया है। समरकांत और ब्रह्मचारी का हृदय-परिवर्तन कराके सद्भावना के वातारण में यह घटना नहीं घटती। प्रेमचन्द उस विराट् जन-समूह के बलिदानों की गाथा लिखने के बाद उसकी विजय का चित्र खींचते हैं, “संध्या समय इन धर्म-विजेताओं की अर्थियाँ निकलीं। सारा शहर फट पड़ा। जनाजे पहले मंदिर-द्वार पर गये। मंदिर के दोनों द्वारा खुले हुए थे। पुजारी और ब्रह्मचारी किसी का पता न था। सुखदा ने मंदिर से तुलसी-दल लाकर अर्थियों पर रखा और मरने वालों के मुख में चरणमृत डाला। इन्हीं द्वारों को खुलवाने के लिए यह भीषण संग्राम हुआ। अब वह द्वार खुला हुआ है, वीरों का स्वागत करने के लिए हाथ फैलाये हुए है; पर ये रूठने वाले अब द्वार की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। कैसे विचित्र विजेता हैं ! जिस वस्तु के लिए प्राण दिये, उसी से इतना विराग !

... इधर गंगा के तट पर चिताएँ जल रही थीं, उधर मंदिर इस उत्सव के आनन्द में दीपकों के प्रकाश से जगमगा रहा था। मानों वीरों की आत्माएँ चमक रही हों।”¹⁶

अछूत-समस्या का यह धार्मिक पहलू है, जिसे प्रेमचन्द ने काफी विस्तार के साथ ‘कर्मभूमि’ में चित्रित किया है और अछूत-वर्ग की विजय बताई है। लेकिन अछूत-समस्या कोई मंदिर-प्रवेश की समस्या नहीं है। वास्तव में, इससे उनकी आर्थिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। प्रेमचन्द ने उक्त समस्या के अन्य पहलू पर भी दृष्टि डाली है। यदि वे समस्यामूलक उपन्यासकार न होते तो इन बातों की गहराई में कदापि न जाते। ‘कर्मभूमि’ में अगला संघर्ष सामाजिक और आर्थिक दशा को लेकर होता है।

अछूत और निम्न-वर्ग के रहन-सहन का स्तर जितना भयावह गाँवों में है उतना ही नगरों में। उनके रहने के स्थान साक्षात् नरक हैं। ‘कर्मभूमि’ में दलित वर्ग के मकानों की समस्या को भी उठाया गया है। म्युनिसिपल बोर्ड और उसके कर्णधार केवल धनियों की ही सेवा करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। गरीबों की झोपड़ियों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। नगर की सभी दलित जातियाँ इस उपेक्षा और अत्याचार के विरुद्ध संगठित हाकर अपने जीवनयापन का स्तर ऊँचा उठाने के लिये आन्दोलन करती हैं। इन जातियों में चमार हैं, धोबी है, मेहतर हैं, नाई हैं, कहार हैं। सब अपनी-अपनी पंचायत करते हैं और हड़ताल की तैयारी करते हैं। हड़ताल के पूर्व ये लोग हाकिम से कहने-सुनने के सभी असफल प्रयास कर चुके थे। प्रेमचन्द ने दलितों में एक नई चेतना फूटती हुई बताई है। वे चुपचाप अन्याय को सहन नहीं कर लेते। उन्हें भी अपने स्वत्व का ज्ञान हो गया है। वे अब अधिकारियों की निरंकुशता और स्वार्थपरता को सहन नहीं करते। सुखदा के द्वारा प्रेमचन्द उन्हें उनके अधिकार के लिए लड़ने को तैयार करते हैं, “हाकिमों से जो कुछ कहना-सुनना था, कह-सुन चुके, किसी ने भी कान न दिया।... हम जितने दबेंगे, यह बड़े आदमी हमें उतना ही दबायेंगे। आज तुम्हें तय करना है कि तुम अपने हक के लिए लड़ने को तैयार हो या नहीं।”¹⁷ मुरली खटिक विद्राही स्वर में कहता है, “किसी को तो महल और बँगला चाहिए, हमें कच्चा घर भी न मिले। मेरे घर में पाँच जनें हैं। उनमें से चार आदमी महीने-भर से बीमार हैं। उस काल कोठरी में बीमार न हों, तो क्या हों ! समाने से गंदा नाला बहता है। साँस लेते नाक फटती है।”¹⁸ आगे चलकर म्युनिसिपल बोर्ड इन टूटी-फूटी झोंपड़ियों को ही

समूल नष्ट करने पर तुल जाता है। 'नगर-निर्माण संघ' बनाकर किसानों की ज़मीन अमीरों के बँगले बनवाने के लिए कौड़ियों में ख़रीद ली जाती है। जनता इसके विरुद्ध आवाज़ लगाती है। रेणुका देवी समस्त दलितों से आह्वान-स्वर में कहती हैं, "हमारी लड़ाई इस बात पर है कि जिस नगर में आधे से ज़्यादा आबादी गन्दे बिलों में मर रही हो, उसे कोई अधिकार नहीं है कि महलों और बँगले के लिए ज़मीन बेचे। आपने देखा था, यहाँ कई हरे-भरे गाँव थे। म्युनिसिपैलिटी ने नगर-निर्माण संघ बनाया। गाँव के किसानों की जमीन कौड़ियों के दाम छीन ली गई, और आज वही ज़मीन अशर्फियों के दाम बिक रही है, इसलिए कि बड़े आदमियों के बँगले बनें। हम अपने नगर के विधाताओं से पूछते हैं, क्या अमीरों ही के जान होती है ? अमीरों ही को ही तन्दुरुस्त रखना चाहिए ? गरीबों को तन्दुरुस्ती की ज़रूरत नहीं ? अब जनता इस तरह मरने को तैयार नहीं है। अगर मरना ही है तो इस मैदान में, खुले आकाश के नीचे, चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में मरना बिलों में मरने से कहीं अच्छा है !...हमें बोर्ड के मेम्बरों को यही चेतावनी देनी है।"¹⁹ अछूतों और दलितों का विशाल समूह म्युनिसिपल बोर्ड के कार्यालय की ओर बढ़ता है। नैना के बलिदान से उसे दुर्दम बल मिलता है और अन्त में उसकी विजय होती है। म्युनिसिपल बोर्ड अपने निर्णय को निरस्त कर देता है।

इस प्रकार 'कर्मभूमि' में अछूत-वर्ग के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर भी प्रेमचंद ने पूरे मनोयोग से लिखा है। अछूत-समस्या का समाधान यही है कि शासकों को और कुलीन कहलाने वालों को चाहिए कि वे दलितों को सीधे-सीधे मानवीय अधिकार प्रदान करें अन्यथा अब समय आ गया है कि वे मौन बैठने वाले नहीं हैं और कभी भी विद्रोह की आग भड़का सकते हैं। प्रेमचन्द ने समाज के ठेकेदारों को चेतावनी देकर उक्त समस्या पर भली-भाँति प्रकाश डाला है। अपने उपन्यासों में कथा-विकास को रोककर, चरित्र-चित्रण की कला को भूलकर प्रेमचन्द पात्रों के मुख से लम्बे-लम्बे भाषण दिलवाने लगते हैं। इसका मूल कारण यही है कि वे उपन्यास के माध्यम से विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन करना चाहते थे। यदि वे इन लम्बे-लम्बे संवादों और भाषणों को न रखते तो उनका उद्देश्य ही पूरा न होता !

संदर्भ-संकेत

1 'कर्मभूमि', पृ. 148

2 'कर्मभूमि', पृ. 148

- 3 'कर्मभूमि', पृ. 152
- 4 'कर्मभूमि', पृ. 157
- 5 'कर्मभूमि', पृ. 177
- 6 'कर्मभूमि', पृ. 178
- 7 'कर्मभूमि', पृ. 206
- 8 'कर्मभूमि', पृ. 208
- 9 'कर्मभूमि', पृ. 209
- 10 'कर्मभूमि', पृ. 209
- 11 'कर्मभूमि', पृ. 209-210
- 12 'कर्मभूमि', पृ. 211
- 13 'कर्मभूमि', पृ. 215
- 14 'कर्मभूमि', पृ. 217
- 15 'कर्मभूमि', पृ. 218
- 16 'कर्मभूमि', पृ. 219-220
- 17 'कर्मभूमि', पृ. 266-267
- 18 'कर्मभूमि', पृ. 267
- 19 'कर्मभूमि', पृ. 394-395

भारतीय नारी (क) वैवाहिक-समस्या

वैवाहिक समस्या भारतीय समाज की ही समस्या नहीं; वरन् समग्र मानव समाज से सम्बद्ध है। प्रत्येक देश और जाति के लोग अपने-अपने आचार-विचार से विवाह के सम्बन्ध में सोचते हैं। प्रेमचन्द ने अपने प्रायः सभी उपन्यासों में हिन्दू समाज की वैवाहिक समस्या को स्पर्श किया है। सामाजिक संगठन में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैवाहिक असंगतियाँ समाज में अनेक कुरीतियों को पनपने अवसर देती हैं। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्धों में असंगतियाँ नहीं होनी चाहिए। प्रेमचन्द भारतीय जन-समाज को स्वस्थ और आदर्श रूप में देखना चाहते थे। ऐसी स्थिति में वैवाहिक समस्या की ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। दूसरे आज घर-घर में वैवाहिक समस्या एक ज्वलंत समस्या के रूप में देखी जाती है। प्रेमचन्द ने वैवाहिक समस्या को मध्य-वर्ग तक ही सीमित रखा है। उच्च व निम्नवर्गीय समाज का चित्रण इस क्षेत्र में नाममात्र का है। वास्तव में देखा जाय तो वैवाहिक समस्या अपने सबसे अधिक जटिल रूप में मध्यवर्गीय परिवारों में ही पायी जाती है। अतः उक्त समस्या के लिए मध्यमवर्ग को केन्द्र मानकर चलना आवश्यक था।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि प्रेमचन्द की विवाह-सम्बन्धी क्या मान्यताएँ थीं। 'वरदान', 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'गोदान' तक क्या वे मान्यताएँ अपरिवर्तित रहीं ? यदि नहीं, तो विवाह-सम्बन्धी उनकी अन्तिम और अधिकृत मान्यताएँ कौन-कौन सी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए उनके उपन्यासों में व्यक्त विचारों का उल्लेख आवश्यक है।

'वरदान' में प्रेमचन्द लिखते हैं, "यह कच्चे धागे का कंगन पवित्र धर्म की हथकड़ी है, जो कभी हाथ से न निकलेगी, और मण्डप उस प्रेम और कृपा की

छाया का स्मारक है, जो जीवनपर्यन्त सिर से न उठेगी।”¹

“हृदय का मिलाप सच्चा विवाह है। सिन्दूर का टीका, ग्रन्थि-बन्धन और भाँवर ये सब संसार के ढकोसले हैं।”²

“मैं आर्य बाला हूँ। मैंने गांधारों और सावित्री के कुल में जन्म लिया है। जिसे एक बार मन से अपना पति मान चुकी, उसे नहीं त्याग सकती। यदि मेरी आयु इसी प्रकार रोते-रोते कट जाय, तो भी अपने पति की ओर से मुझे कुछ भी खेद न होगा।”³

‘वरदान’ में विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचार प्राचीन आदर्शों के पोषक हैं। यह अवश्य है कि वे वैवाहिक रीति-रिवाजों को महत्त्व नहीं देते। ‘सेवासदन’ में भी प्रेमचन्द यही बात लिखते हैं, “विवाह, भाँवर या सिन्दूर बन्धन नहीं, बन्धन केवल मन का भाव है।”⁴ प्रेमचन्द धर्म और प्रेम के आधार पर होने वाले विवाह के समर्थक थे। ‘सेवासदन’ में शान्ता कहती है, “हम विवाह को धर्म का बन्धन समझती हैं। हमारा प्रेम धर्म के पीछे चलता है।”⁵ ‘प्रेमाश्रम’ में गायत्री भी प्राचीन वैवाहिक आदर्शों को सब-कुछ समझती है, “विवाह स्त्री पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्माएँ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।”⁶ पश्चिमी देशों के वैवाहिक आदर्शों की आलोचना करती हुई गायत्री कहती है, “उन देशों की बात न चलाइये, वहाँ के लोग विवाह को केवल सामाजिक सम्बन्ध समझते हैं।...उनके विचार में स्त्री-पुरुष की अनुमति ही विवाह है, लेकिन भारतवर्ष में कभी इन विचारों का आदर नहीं हुआ।”⁷ ‘कायाकल्प’ में लोगों के मुख से पुनः ऊपरी रीति-रिवाजों को महत्त्वहीन ठहराया गया है, “चार भाँवरों फिर जाने से ही ब्याह नहीं हो जाता।”⁸ ‘कर्मभूमि’ में नैना कहती है, “जो विवाह को धर्म का बन्धन नहीं समझता है, उसे केवल वासना की तृप्ति का साधन समझता है, वह पशु है।”⁹ ‘गोदान’ में मेहता कहते हैं, “प्रेम जब आत्मसमर्पण का रूप लेता है, तभी ब्याह है, उसके पहले ऐयाशी है।”¹⁰ इसके पूर्व ‘वरदान’ में प्रेम और विवाह पर प्रेमचन्द लिख चुके थे, “प्रेम चित्त की प्रवृत्ति है और ब्याह एक पवित्र धर्म है।”¹¹ इस प्रकार प्रेमचन्द विवाह की गम्भीरता के कायल थे। उन्होंने धर्म और प्रेम को विवाह का आधार माना है, जिसमें धर्म का स्थान सर्वोपरि है। सामाजिक संगठन में विवाह आवश्यक वस्तु है। दाम्पत्य जीवन की महत्ता प्रतिपादित करता हुआ प्रभुसेवक कहता है, “दाम्पत्य मनुष्य के सामाजिक जीवन का मूल है। उसका त्याग कर दीजिए, बस हमारे सामाजिक संगठन का शीराजा

बिखर जाएगा और हमारी दशा पशुओं के समान हो जाएगी। गार्हस्थ्य को ऋषियों ने सर्वोच्च धर्म कहा है, और अगर शान्त हृदय से विचार कीजिए, तो विदित हो जाएगा कि ऋषियों का यह कथन अत्युक्ति नहीं है। दया, सहानुभूति, सहिष्णुता, उपकार, त्याग आदि देवोचित गुणों के विकास के जैसे सुयोग, गार्हस्थ्य जीवन में प्राप्त होते हैं, और किसी अवस्था में नहीं मिल सकते।”¹²

विवाह का महान आदर्श आज समाज में लुप्त हो गया है। दाम्पत्य जीवन का सुख आज दुर्लभ वस्तु बन गया है। वैवाहिक असंगतियाँ आज घर-घर में विद्यमान हैं, जिन्होंने स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों को विकृत तो किया ही है, समाज की शान्ति भी भंग कर रखी है। प्रेमचन्द ने वैवाहिक असंगतियों की ओर अपने उपन्यासों में जगह-जगह हमारा ध्यान आकर्षित किया है। विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही प्रगतिशील थे। समाज के प्रचलित रवैये से उन्हें घोर असंतोष था, क्योंकि इन्हीं कारणों से विवाह की पवित्रता दिन-पर-दिन कम होती जा रही थी। प्रेमचन्द द्वारा वर्णित वैवाहिक असंगतियों के दो उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :

‘वरदान’ में प्रेमचन्द अपरिचित लड़के-लड़कियों के वैवाहिक सम्बन्धों पर टीका करते हुए लिखते हैं, “वह (प्रताप) जो अपने विचारों में बिरजन को अपना समझता था, कहीं का न रहा। और वह (कमला) जिसने बिरजन को एक पल के लिए भी अपने ध्यान में स्थान न दिया था, उसका सर्वस्व हो गया।”¹³

‘निर्मला’ में निर्मला का विवाह दोहाजू से होता है। प्रेमचन्द ने कितने तीखे व्यंग्य से लिखा है, “अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।”¹⁴

दोहाजू विवाह, अनमेल विवाह आदि कुरीतियों ने समाज के ढाँचे को जर्जर कर दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन कुरीतियों को किन कारणों ने जन्म दिया है ? अनमेल विवाह क्यों होते हैं ? प्रेमचन्द ने दो प्रमुख कारण इस सम्बन्ध में बताए हैं प्रथम, दहेज़-प्रथा और दूसरा, माता-पिता की ओर से पर्याप्त सावधानी का अभाव।

हिन्दू समाज में वैवाहिक समस्या को सबसे अधिक जटिल दहेज़-प्रथा ने बनाया है। अनेक सुन्दर, सुशिक्षित और सुसंस्कृत लड़कियाँ समुचित दहेज़ के

अभाव में असुन्दर, मूर्ख और असंस्कृत लड़कों से ब्याह दी जाती हैं। प्रेमचन्द ने एक ऐसे ही अनमेल विवाह की करुण कहानी 'निर्मला' में कही है। निर्मला का दहेज की कुप्रथा के कारण ही दोहाजू से विवाह होता है और उसका सारा जीवन करुण प्रसंगों से परिपूर्ण हो जाता है। निर्मला देश के करोड़ों निर्धन परिवारों की लड़कियों का प्रतिनिधित्व करती है।

निर्मला के पिता बाबू उदयभानु लाल जब जीवित थे, तब उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह भालचन्द्र सिन्हा के ज्येष्ठ पुत्र भुवनमोहन सिन्हा से तय कर लिया था। बाबू उदयभानु लाल एक अच्छे वकील थे। लक्ष्मी उन पर प्रसन्न थी, फिर भी दहेज का भय उन्हें खा रहा था। बाबू भालचन्द्र सिन्हा ने अपने पुत्र के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते समय दहेज सम्बन्धी कोई बात तय नहीं की, प्रत्युत यह कह दिया, "आपकी खुशी हो आप दहेज दें या न दें, मुझे परवाह नहीं। बारात में जो लोग जाएँ उनका आदर-सत्कार अच्छी तरह होना चाहिये जिससे मेरी जग-हँसाई न हो।"¹⁵ लेकिन बाबू भालचन्द्र सिन्हा का असली चेहरा निर्मला के पिता उदयभानु की मृत्यु के पश्चात दिखाई देता है। उन्हें इस बात की आशा थी कि उदयभानु काफ़ी अच्छा दहेज देंगे, क्योंकि उनकी वकालत अच्छी चलती थी। उदयभानु की मृत्यु से उनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया, पर वे सज्जनता का स्वाँग छोड़ना नहीं चाहते। निर्मला की माँ कल्याणी पुरोहित मोटेराम के द्वारा जब भालचन्द्र सिन्हा के पास सन्देश भेजती है तब वे जिस अभिनय-कला से अपने मनोभाव को छिपाते हैं उसका वर्णन पढ़ने योग्य है। मोटेराम कहते हैं, "आप जैसे सज्जनों के दर्शन दुर्लभ हैं। नहीं तो आज कौन बिना दहेज के पुत्र का विवाह करता है।"

भालचन्द्र "महाराज दहेज की बातचीत ऐसे सत्यवादी पुरुषों से नहीं की जाती उनसे तो सम्बन्ध हो जाना ही लाख रुपये के बराबर है। मैं इसको अपना अहोभाग्य समझता हूँ। हा, कितनी उदार आत्मा थी। रुपयों को तो उन्होंने कुछ समझा ही नहीं, तिनके के बराबर भी परवाह नहीं की। बुरा रिवाज है, बेहद बुरा। मेरा बस चले, तो दहेज लेनेवालों और दहेजवालों दोनों को गोली मार दूँ। फिर चाहे फाँसी ही क्यों न हो जाए। पूछो, आप लड़के का विवाह करते हैं कि उसे बेचते हैं ? अगर आपको लड़के की शादी में दिल खोलकर खर्च करने का अरमान है तो शौक से कीजिए, लेकिन जो कुछ कीजिए, अपने बल पर। यह क्या कि कन्या के पिता का गला रेतिये। नीचता है, घोर नीचता। मेरे बस चले, तो इन

पाजियों को गोली मार दूँ?”¹⁶ दहेज-प्रथा के विरोध में इतना भाषण करने के बाद भालचन्द्र सिन्हा निर्मला से अपने पुत्र का विवाह करने में असमर्थता प्रकट करते हैं और वास्तविकता को छिपाकर अंधविश्वासी औरतों जैसी दलील प्रस्तुत करते हैं, “पण्डितजी हल्फ़ से कहता हूँ, मुझे उस लड़की से जितना प्रेम है, उतना अपनी लड़की से भी नहीं, लेकिन जब ईश्वर को मंजूर नहीं है, तो मेरा क्या बस है ? यह मृत्यु एक प्रकार की अमंगल सूचना है, जो विधाता की ओर से हमें मिली है। यह किसी आनेवाली मुसीबत की आकाशवाणी है। विधाता स्पष्ट रीति से कह रहा है, यह विवाह मंगलमय न होगा। ऐसी दशा में आप ही सोचिए, जिस काम का आरम्भ ही अमंगल से हो, उसका अन्त मंगलमय हो सकता है ? नहीं, जानबूझकर मक्खी नहीं निगली जाती। समधिन साहब को समझाकर कह दीजिएगा, मैं उनकी आज्ञापालन करने को तैयार हूँ, लेकिन इसका परिणाम अच्छा न होगा। स्वार्थ के वश मैं होकर मैं अपने परम मित्र की सन्तान के साथ यह अन्याय नहीं कर सकता।”¹⁷

पर, उनका सारा पाजीपन उनकी पत्नी रँगिलीबाई खोल देती है, “साफ़ बात कहने में संकोच क्या ? हमारी इच्छा है, नहीं करते। किसी का कुछ लिया तो नहीं है। जब दूसरी जगह दस हजार नकद मिल रहे हैं, तो वहाँ क्यों न करूँ ? उनकी लड़की कोई सोने की थोड़े ही है ? वकील साहब जीते होते तो शरमाते-शरमाते भी पन्द्रह-बीर हजार दे मरते। अब वहाँ क्या रहा है।”¹⁸ और जब कल्याणी का पत्र पढ़कर रँगिलीबाई दया से द्रवीभूत हो उठती है तथा निर्मला से विवाह करने को राज़ी हो जाती है तब बाबू भालचन्द्र सिन्हा तरह-तरह से पैतरे बदलने लग जाते हैं। उनकी इस कलाबाज़ी पर रँगिलीबाई की फटकार भालचन्द्र सिन्हा जैसे लाखों बाबुओं की नीचता का पर्दाफाश करती है, “क्यों जी, तुम मुझसे भी उड़ते हो, दाई से पेट छिपाते हो ! मैं तुम्हारी बातें मान जाती हूँ, तो तुम समझते हो, इसे चकमा दिया, मगर मैं तुम्हारी एक-एक नस पहचानती हूँ। तुम अपना ऐब मेरे सिर पटककर खुद बेदाग़ बचना चाहते हो। बोलो, कुछ झूठ कहती हूँ ? जब वकील साहब जीते थे, तो तुमने सोचा था कि ठहराव की ज़रूरत ही क्या है, वह खुद ही जितना उचित समझेंगे देंगे, बल्कि बिना ठहराव के और ही ज़्यादा मिलने की आशा होगी। अब जो वकील साहब का देहान्त हो गया, तो तरह-तरह के हीले हवाले करने लगे। यह भलमनसी नहीं, छोटापन है। इसका इल्जाम भी तुम्हारे ही सिर है। मैं शादी-ब्याह के नज़दीक न जाऊँगी। तुम्हारी जैसे इच्छा हो, करो। ढोंगी

आदमियों से मुझे चिढ़ है। जो बात करो, सफ़ाई से करो, बुरा हो या अच्छा। 'हाथी के दाँत दिखाने के और खाने के और' वाली नीति पर चलना तुम्हें शोभा नहीं देता।"¹⁹

इसी प्रकार धन के लोभी, अकर्मण्य, अनैतिक व चरित्रहीन युवकों को भी प्रेमचन्द समाज के सामने लाते हैं। बाबू भालचन्द्र सिन्हा का पुत्र भुवन अपनी माँ से कहता है, "कहीं ऐसी जगह शादी करवाइये कि खूब रुपये मिलें। और न सही, एक लाख का तो डौल हो। वहाँ क्या रक्खा है ? वकील साहब रहे नहीं, बुढ़िया के पास अब क्या होगा ?

रँगिलीबाई तुम्हें ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म नहीं आती ?

भुवन इसमें शर्म की कौन-सी बात है ? रुपये किसे काटते हैं ? लाख रुपये तो लाख जन्म मे भी जमा न कर पाऊंगा। दुनिया का कुछ मज़ा न उठा संकूगा। किसी धनी लड़की से शादी हो जाती तो चैन से कटती। मैं ज़्यादा नहीं चाहता , बस एक लाख नकद हो, या फिर कोई ऐसी जायदादवाली बेवा मिले जिसके एक ही लड़की हो।

रँगिलीबाई चाहे औरत कैसी ही मिले ?

भुवन धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे गालियाँ भी सुनाये तो चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है ?"²⁰

निदान, निर्मला के विवाह की बात टूट जाती है। प्रेमचन्द दहेज-प्रथा पर टीका करते हुए लिखते हैं, "वह (निर्मला) रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे, दहेज हो तो सारे दोष गुण हैं, प्राण का कोई मूल्य नहीं, केवल दहेज का मूल्य है। कितनी विषम भाग्यलीला है !"²¹ आगे चलकर भुवन का विवाह सुधा नामक युवती से हो जाता है। प्रेमचन्द ने सुधा के माध्यम से भुवन जैसे युवकों पर कितना मर्मभेदी व्यंग्य किया है, "मेरे दादाजी ने पाँच हज़ार दिये न। अभी छोटे भाई के विवाह में पाँच-छः और मिल जायेंगे। फिर तो तुम्हारे बराबर धनी संसार में कोई दूसरा न होगा। ग्यारह हज़ार बहुत होते हैं, बाप रे बाप ! ग्यारह हज़ार... उठा-उठाकर रखने लगें, तो महीनों लग जायँ। अगर लड़के उड़ाने भी लगें, तो तीन पीढ़ियों तक खर्च चले। कहीं से बात हो रही है या नहीं ?"²²

'निर्मला' उपन्यास के पूर्व 'प्रतिज्ञा' में भी प्रेमचन्द ने दहेज-प्रथा के विरोध में पर्याप्त लिखा है। यहाँ उन्होंने दहेज के मूल कारण पर प्रकाश डाला है। सुमित्रा

और पूर्णा का निम्नलिखित वार्तालाप उपर्युक्त तथ्य को हमारे सामने रखता है, “सुमित्रा मज़ा तो तभी आये, जब लड़की वाले भी लड़कियों का दहेज़ लेने लगे। बिना भरपूर दहेज़ लिए विवाह ही न करें। तब पुरुषों के होश ठिकाने हो जायँ। मेरा तो अगर बाबूजी विवाह न करते, तो मुझे कभी इसका खयाल भी न आता। मेरी समझ में यही बात नहीं आती कि लड़कीवालों को ही लड़की ब्याहने की इतनी गरज़ क्यों होती है?”

पूर्णा तुम बहन, बच्चों की-सी बातें करती हो। लड़कियों के विवाह में साल दो-साल का विलम्ब हो जाता है, तो चारों ओर हँसी होने लगती है। लड़कों का विवाह कभी न हो, तो भी कोई नहीं हँसता। लोक-रीति भी कोई चीज़ है।”²³ यहाँ प्रेमचन्द ने लोक-रीति का उल्लेख करके वर्तमान सामाजिक संगठन की निन्दा की है। दहेज़-प्रथा कानून से बिलकुल नहीं मिटायी जा सकती। कानून बना देने पर वह कोई और शक्ति में सामने आ जाएगी। आवश्यकता लोक-रीति को बदलने की है।

‘सेवासदन’ का आधार भी दहेज़-प्रथा है। दारोगा कृष्णचन्द्र के दो लड़कियाँ हैं सुमन और शान्ता। सुमन को सोलहवाँ वर्ष लगने पर वे वर की खोज करते हैं। प्रेमचन्द बताते हैं कि दारोगाजी के सामने दहेज़ की दुर्भेद दीवार आकर उनका किस प्रकार रास्ता रोक लेती है, “वर की खोज में दौड़ने लगे, कई जगहों से टिप्पणियाँ मँगवाई। वह शिक्षित परिवार चाहते थे। वह समझते थे कि ऐसे घरों में लेन-देन की चर्चा न होगी, पर उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार है। राशि ठीक हो जाने पर जब लेन-देन की बातें होने लगतीं तब कृष्णाचन्द्र की आँखों के सामने अँधेरा छा जाता था। कोई चार हज़ार सुनाता, कोई पाँच हज़ार और कोई इससे भी आगे बढ़ जाता। बेचारे निराश होकर लौट आते।”²⁴ आगे दहेज़ के लिए कृष्णचन्द्र रिश्वत लेते हैं और पकड़े जाते हैं। उनके पकड़े जाने के बाद सुमन का जीवन किस दिशा में जाता है, वह ‘सेवासदन’ का कथानक है।

अतः आज हिन्दू समाज में विवाह के लिए सर्वप्रथम धन देखा जाता है। हिन्दू समाज की वैवाहिक समस्या के पीछे आर्थिक अभाव नहीं वरन् गिरी हुई नैतिकता है। जिस समाज में विवाह का आधार ही धन है; वहाँ आर्थिक प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। अमीर-ग़रीब सभी परिवारों में इस गिरी हुई नैतिकता के दर्शन होते हैं; जो वैवाहिक असंगतियों को जन्म देती है। यदि ग़रीबी मिटा दी जाय तो

भी दहेज-प्रथा उस समय तक नहीं मिट सकती जब तक समाज का स्तर ऊँचा नहीं उठता। अतः दहेज-प्रथा का आर्थिक पहलू नगण्य है। वह तो एक सामाजिक कुरीति है; जिसे कानून अथवा नैतिक बल से दूर करना आवश्यक है। कानून से दहेज-प्रथा को मिटाने में सहायता मिल सकती है, पर उसे बिल्कुल हटाया नहीं जा सकता। इसलिए प्रेमचन्द युवकों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं जिससे यह कुप्रथा मिट सके। 'निर्मला' में सुधा के मुख से प्रेमचन्द युवकों की पीढ़ी को आत्मबल का परिचय देने का आह्वान करते हैं, “बूढ़ा आदमी सोचता है, मुझे सारा खर्च सँभालना पड़ेगा, कन्यापक्ष से जितना ऐंठ सकूँ, उतना ही अच्छा, मगर यह वर का धर्म है कि यदि स्वार्थ के हाथों बिल्कुल बिक नहीं गया है, तो अपने आत्मबल का परिचय दे।”²⁵

और 'कायाकल्प' में वे एक ऐसा आदर्श युवक (चक्रधर के रूप में) हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं; जहाँ वह अपनी माँ निर्मला से उग्र होकर कहता है, “अगर तुम मेरे सामने देने-दिलाने का नाम लोगी, तो ज़हर खा लूंगा।

निर्मला वाह रे, तो क्या पच्चीस बरस तक यों ही पाल-पोसा है ? मुँह धो रख।

चक्रधर तो बाज़ार में खड़ा करके बेच क्यों नहीं देती ? देखो कै टके मिलते हैं ?”²⁶

यही नहीं, चक्रधर अपने पिता वज्रधर से भी स्पष्ट शब्दों में कहता है, “मेरा खयाल है कि स्त्री हो या पुरुष, गुण और स्वभाव ही उसमें मुख्य वस्तु है। इसके सिवा और सभी बातें गौण हैं।”²⁷

वैवाहिक समस्या से सम्बन्धित दूसरा महत्वपूर्ण पहलू माता-पिता की ओर से पर्याप्त सावधानी का अभाव है। हिन्दू परिवारों में विवाह युवक-युवती स्वतन्त्र रूप से नहीं करते, उसके पीछे उनके माता-पिता का हाथ रहता है। पुत्री तो शत-प्रतिशत माता-पिता की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर रहती है। ऐसी सूरत में वैवाहिक असंगतियों के प्रति वर-वधू के माता-पिता भी उत्तरदायी ठहरते हैं। प्रेमचन्द ने प्रस्तुत समस्या के इस पहलू पर भी अपने उपन्यासों में विस्तार से लिखा है।

माता-पिता अपनी लड़की का मात्र विवाह कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं। लड़की का विवाह करके वे मानों अपने सिर से बहुत बड़ा बोझ उतारकर निश्चित हो जाते हैं। यदि विवाह असफल रहा तो उसके लिए अपने दोष न

देखकर भाग्य को कोसते हैं। इसका मुख्य कारण सामाजिक व्यवस्था है जहाँ लड़की का विवाह अधिक दिन रोके रखना कलंक की बात समझी जाती है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द लिखते हैं, "जवान लड़की बैठी रहे, यह कुल के लिए घोर अपमान की बात थी।"²⁸ अतः 'कुल-मर्यादा' की रक्षा के लिए कुपात्र के साथ भी लड़कियों का विवाह करवा दिया जाता है और बाद में भाग्य की आड़ में माता-पिता अपने दब्बूपन और आलस्य को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। ठाकुर हरिसेवक सिंह को फटकारती हुई लौंगी कहती है, "भाग्य पर वह भारोसा करता है, जिसमें पौरुष नहीं होता। लड़की को डुबा दिया, ऊपर से शरमाते नहीं, कहते हो भाग्य भी कोई चीज़ है।"²⁹ 'निर्मला' में कल्याणी भी अपनी पुत्री का विवाह भाग्य के आसरे कर देने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती है, "आप ईश्वर का नाम लेकर वकील साहब का टीका कर आइये। आयु कुछ अधिक है। लेकिन मरना-जीना विधि के हाथ है। पैंतीस साल का आदमी बूढ़ा नहीं कहलाता। अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है, तो जहाँ जायगी, सुखी रहेगी। दुःख भोगना है, तो जहाँ जाएगी, दुःख झेलेगी।"³⁰ 'वरदान' में मुंशी संजीवनलाल अपनी पत्नी सुशीला पर बिरजन के विवाह का दोषारोपण करता है, पर प्रेमचन्द उपन्यास कला की हत्या करके भी उनके विचारों का खंडन करते हैं और समाज के ऐसे लापरवाह पिताओं को चेतावनी देते हैं "कभी कमला हाट में बुलबुल लड़ाते मिल जाता, कभी गुण्डों के संग सिगरेट पीते, पान चबाते, बेढंगेपन से घूमता हुआ दिखाई देता। मुंशीजी जब जामाता की यह दशा देखते तो घर आते ही स्त्री पर क्रोध निकालते, यह सब तुम्हारी ही करतूत है। तुम्हीं ने कहा था, घर-वर दोनों अच्छे हैं, तुम्हीं रीझी थीं। उन्हें उस क्षण यह विचार न होता कि जो दोषारोपण सुशीला पर है, कम-स-कम मुझ पर उतना ही है। वह बेचारी तो घर में बन्द रहती थी, उसे क्या ज्ञान था कि लड़का कैसा है, वह सामुद्रिक विद्या थोड़े ही पढ़ी थी ? उसके माता-पिता को सभ्य देखा, उनकी कुलीनता और वैभव पर सहमत हो गयी। पर मुंशीजी ने तो केवल अकर्मण्यता और आलस्य के कारण छानबीन न की, यद्यपि उन्हें इसके अनेक अवसर प्राप्त थे, और मुंशीजी के अगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।"³¹

इसके विपरीत प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में आदर्श माता-पिता का भी समावेश किया है जो विवाह को मात्र गुड्डे-गुड्डियों का खेल नहीं समझते। 'प्रतिज्ञा'

में प्रेमा का महा दकियानूस पिता बदरी प्रसाद भी इस मामले में काफी उदार है। प्रेमचन्द लिखते हैं, “बदरी प्रसाद विवाह के विषय में उसकी (प्रेमा) अनुमति आवश्यक समझते थे।”³²

‘कायाकल्प’ में यशोदानन्द कहता है, “स्त्री में कितने ही गुण हों, लेकिन यदि उसकी सूरत पुरुष को पसन्द न आयी, तो वह उसकी नज़रों में गिर जाती है, और उनका दाम्पत्य जीवन दुःखमय हो जाता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वर और कन्या में दो-चार बार मुलाकात भी हो जानी चाहिये। कन्या के लिए तो वह अनिवार्य है। पुरुष को स्त्री पसन्द न आयी तो वह और शादियाँ कर सकता है। स्त्री को पुरुष पसन्द न आया तो उसकी सारी उम्र रोते ही गुज़रेगी।”³³ इसी उपन्यास में एक स्थल पर मनोरमा कहती है, “जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है, वह विवाह ही नहीं है।”³⁴ ‘गोदान’ में मेहता रायसाहब से कहते हैं, “आप अपनी शादी के ज़िम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब आपका लड़का बालिग है और अपना नफ़ा-नुकसान समझता है। कम से कम मैं तो शादी जैसे महत्त्व के मुआमले में प्रतिष्ठा का कोई स्थान नहीं समझता।”³⁵ ‘कायाकल्प’ में लौंगी एक तरह से सभी माता-पिताओं को सचेत करती हुई कहती है, “लड़की कंगाल को दे दें, पर बूढ़े को न दें। ग़रीब रहेगी तो क्या, जन्म-भर रोना-झींकना तो न रहेगा।”³⁶ कुछ यही सन्देश मृत्यु-शय्या पर पड़ी निर्मला का है, “बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ। अगर जीती-जागती बचे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। ..चाहे क्वॉरी रखियेगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा। इनती ही आपसे मेरी विनय है।”³⁷

प्रेमचन्द प्रारम्भ में विवाह को धर्म-बन्धन मानते थे। आगे ‘गोदान’ में उन्होंने विवाह को ‘सामाजिक समझौते’ के नाम से पुकारा है। लेकिन उनके ‘सामाजिक समझौते’ की भावना में और धर्म में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ‘गोदान’ में मेहता मालती वार्तालाप प्रेमचन्द के सामाजिक समझौते की भावना को स्पष्ट कर देता है। मेहता कहते हैं, “विवाह को मैं ‘सामाजिक समझौता’ समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने से पहले आप स्वाधीन है, समझौता हो जाने के बाद आके हाथ कट जाते हैं।

“तो आप तलाक़ के विरोधी हैं, क्यों?”

“पक्का।”³⁸

फिर भी विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की मान्यताएँ स्पष्ट नहीं हो सकी हैं। 'कर्मभूमि' में वे विच्छेद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। नैना और सुखदा का विवाद इस बात का प्रमाण है। "अब कोई इस भ्रम में नहीं रहे कि पति चाहे जो करे, उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पियेगी, उसे अपना देवता समझेगी, उसके पाँव दबायेगी और वह उससे हँसकर बोलेगा, तो अपने भाग्य को धन्य मानेगी। वह दिन लद गए।

नैना बहस कर बैठी तुम कहती हो, पुरुष के आचार-विचार की परीक्षा लेनी चाहिए। क्या परीक्षा कर लेने पर धोखा नहीं होता ? आये दिन तलाक़ क्यों होते रहते हैं ?

सुखदा बोली तो इसमें क्या बुराई है ? यह तो नहीं होता कि पुरुष तो गुलछरें उड़ाए और स्त्री उसके नाम को रोती रहे।...तलाक़ की प्रथा यहाँ हो जाने दो, फिर मालूम होगा कि हमारा जीवन कितना सुखी है।"³⁹ 'गोदान' कर्मभूमि' के बाद लिखा गया है। अतः 'गोदान' के विचारों को ही अन्तिम मान्यता दी जानी चाहिए।

वैवाहिक समस्या का आखिर क्या हल है ? प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर युवकों को नैतिक दृढ़ता का सन्देश दिया है और उनके सामने आदर्श पात्र उपस्थित किए हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने युवतियों को भी वर्तमान समाज-व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने के लिए ललकारा है। 'कर्मभूमि' की सकीना का आदर्श क्या हमारी अनेक वैवाहिक असंगतियों और कुरीतियों को दूर करने में उपयोगी प्रमाणित नहीं हो सकता ? सकीना कहती है "मैं शादी नहीं करना चाहती, बस। जब तक कोई ऐसा आदमी न हो, जिसके साथ मुझे आराम से ज़िन्दगी बसर होने का इतमीनान हो, मैं यह सरदर्द नहीं लेना चाहती। तुम मुझे ऐसे घर में डालने जा रही हो, जहाँ ज़िन्दगी तल्लू हो जायगी। शादी की मंशा यह नहीं है कि आदमी रो-रोकर दिन काटे।"⁴⁰ इस प्रकार प्रेमचन्द ने वैवाहिक समस्या के समस्त पहलुओं पर विचार करने के बाद समाज के सामने जो रास्ता रखा है वह कोई कानून का रास्ता नहीं है, और न वह अव्यावहारिक ही है। समाज के नैतिक मूल्यों में परिवर्तन हुए बिना प्रस्तुत समस्या का कोई ठोस और स्थायी हल मिलना असम्भव नहीं तो, दुर्लभ अवश्य है।

संदर्भ-संकेत

1 'वरदान', पृ. 33

- 2 'वरदान', पृ. 153-154
- 3 'वरदान', पृ. 158 (माधवी का कथन)
- 4 'सेवासदन', पृ. 242
- 5 'सेवासदन', पृ. 264
- 6 'प्रेमाश्रम', पृ. 264
- 7 'प्रेमाश्रम', पृ. 265
- 8 'कायाकल्प', पृ. 61
- 9 'कर्मभूमि', पृ. 263
- 10 'गोदान', पृ. 199
- 11 'वरदान', पृ. 156
- 12 'रंगभूमि' (भाग - 1), पृ. 154
- 13 'वरदान', पृ. 42
- 14 'निर्मला', पृ. 37
- 15 'निर्मला', पृ. 3
- 16 'निर्मला', पृ. 19
- 17 'निर्मला', पृ. 21
- 18 'निर्मला', पृ. 22
- 19 'निर्मला', पृ. 24
- 20 'निर्मला', पृ. 26
- 21 'निर्मला', पृ. 33
- 22 'निर्मला', पृ. 108
- 23 'प्रतिज्ञा', पृ. 92
- 24 'सेवासदन', पृ. 5-6
- 25 'निर्मला', पृ. 106
- 26 'कायाकल्प', पृ. 16-17
- 27 'कायाकल्प', पृ. 117
- 28 'प्रतिज्ञा', पृ. 33
- 29 'कायाकल्प', पृ. 195
- 30 'निर्मला', पृ. 36
- 31 'वरदान', पृ. 43-44
- 32 'प्रतिज्ञा', पृ. 34
- 33 'कायाकल्प', पृ. 117
- 34 'कायाकल्प', पृ. 117
- 35 'गोदान', पृ. 199
- 36 'कायाकल्प', पृ. 174
- 37 'निर्मला', पृ. 184
- 38 'गोदान', पृ. 80.81
- 39 'कर्मभूमि', पृ. 263
- 40 'कर्मभूमि', पृ. 263

भारतीय नारी (ख) दाम्पत्य जीवन

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे। उन्होंने अपने प्रायः सभी उपन्यासों को समस्या-केन्द्रित रखा है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनमें पाये जाने वाले ऐसे विचार हैं जो विभिन्न समस्याओं की ओर सहज ही पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। इस प्रकार उनके एक उपन्यास में यदि एक या दो समस्याएँ प्रमुख होती हैं तो दूसरी ओर अन्य समस्याओं का प्रासंगिक स्पर्श भी होता है जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द में यह प्रवृत्ति 'वरदान', 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक पायी जाती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त पारिवारिक समस्याओं का भी उद्घाटन हुआ है। इन पारिवारिक समस्याओं का क्षेत्र भी मध्यवर्गीय समाज है। आज संयुक्त पारिवारिक जीवन का विघटन हो रहा है। घर-घर में कलह और उसके दुष्परिणामों के समाचार प्रायः सुनने को मिलते हैं। प्रेमचन्द ने पारिवारिक झगड़ों के कारणों पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला है और आपसी कलह से त्रस्त भारतीय परिवारों को सुख और शांति का मार्ग भी बताया है। इस पारिवारिक जीवन के अनेक पहलू हैं, जिनमें प्रमुख पति-पत्नी सम्बन्ध है। यद्यपि इस पहलू का आधार वैवाहिक समस्या है, पर सफल दाम्पत्य-जीवन के लिए कुछ और भी चाहिए। प्रेमचन्द ने पति-पत्नी सम्बन्धों की मानोवैज्ञानिक व्याख्या करके इस पहलू पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

संयुक्त परिवार की समस्या, 'प्रेमाश्रम' में विशेष रूप से मिलती है। वैसे 'रंगभूमि', 'निर्मला', 'गोदान', 'ग़बन', 'कर्मभूमि' आदि में भी उसका अपना स्थान है। भारतीय परिवारों का संयुक्त जीवन क्यों विश्रुंखल हो रहा है ? वे कौन से

प्रमुख कारण हैं जिनकी वज़ह से पारिवारिक सुख और शान्ति दुर्लभ हो गयी है आदि विषयों पर प्रेमचन्द के उपर्युक्त उपन्यास पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। प्रेमचन्द ने बताया है कि चाहे वे संयुक्त परिवार निम्नवर्ग के हों, चाहे मध्यवर्ग के दोनों की विशृंखलता का मूल कारण आर्थिक है। अर्थ ने आज भाई-भाई को, पिता-पुत्र को एक-दूसरे का शत्रु बना दिया है। पारिवारिक अन्य झगड़ों की जड़ भी आर्थिक प्रश्न है। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर बरसों के चले आए संयुक्त परिवार को आर्थिक कारणों से ही भंग कर देना चाहता है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "अब उन्हें रात-दिन यही दुश्चिन्ता रहती थी कि किसी तरह चचा साहब से अलग हो जाऊँ। यह विचार सर्वथा उनके स्वार्थनुकूल था। उनके ऊपर केवल तीन प्राणियों के भरण-पोषण का भार था आप, स्त्री और भावज। लड़का अभी दूध पीता था। इलाके की आमदनी का बड़ा भाग प्रभाशंकर के काम आता था, जिनके तीन पुत्र थे, दो पुत्रियाँ, एक बहू, एक पोता और स्त्री-पुरुष आप। ज्ञानशंकर अपने पिता के परिवार-पालन पर झुँझलाया करते। आज से तीस साल पहले वह अलग हो गए होते तो आज हमारी दशा खराब न होती।"¹ 'रंगभूमि' में ताहिरअली के परिवार के साथ भी आर्थिक प्रश्न प्रमुख है। ताहिरअली की स्त्री अपने देवर पर आक्षेप करती है, "ये भाईबन्द एक भी काम न आएंगे। ज्यों ही अवसर मिला, पर झाड़कर निकल जाएंगे, तुम ताकते रह जाओगे।"² प्रेमचन्द ने मध्यमवर्ग में पायी जाने वाली आर्थिक स्वार्थ की भावना का कारण पाश्चात्य सभ्यता माना है। 'प्रेमाश्रम' में वे इसी ओर संकेत करते हैं। प्रभाशंकर के मुख से कहलाते हैं, "यह (ज्ञानशंकर) पश्चिमी सभ्यता का मारा हुआ है, जो लड़के को बालिग होते ही माता-पिता से अलग कर देती है। उसने वह शिक्षा पायी है जिसका मूलतत्त्व स्वार्थ है। उसमें अब दया, विनय, सौजन्य कुछ भी न रहा। वह अब केवल अपनी इच्छाओं का, इन्द्रियों का दास है।"³ पश्चिमी सभ्यता एक अंश तक इसके लिए उत्तरदायी हो सकती है, पर वास्तव में मनुष्य का स्वभाव ही इसके लिए उत्तरदायी है, और स्वभाव को आर्थिक विषमताएँ बनाती हैं। 'निर्मला' में अधिकार-भावना के कारण पारिवारिक कलह जन्म लेती है, पर इस अधिकार-भावना के पीछे भी आर्थिक कारण ही है। रुक्मिणी और निर्मला के पारिवारिक सम्बन्धों के बिगड़ने पर प्रेमचन्द व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "जब से वकील साहब ने निर्मला के हाथ में रुपये-पैसे देने शुरू किए हैं, रुक्मिणी उसकी आलोचना करने पर आरूढ़ हो गई थी। उन्हें मालूम होता था कि प्रलय होने में बहुत थोड़ी कसर रह गई है। लड़कों को बार-बार पैसों

की ज़रूरत पड़ती। जब-तक खुद स्वामिनी थी, उन्हें बहला दिया करती थी। अब सीधे निर्मला के पास भेज देती। निर्मला को लड़कों का चटोरापन अच्छा न लगता था। कभी-कभी पैसे देने से इन्कार कर देती। रुक्मिणी को अपने वाग्बाण सर करने का अवसर मिल जाता। अब तो मालकिन हुई है, लड़के काहे को जिएंगे। बिना माँ के बच्चे को कौन पूछे ? रुपयों की मिठाइयाँ खा जाते थे। अब धेले-धेले को तरसते हैं। निर्मला अगर चिढ़कर किसी दिन बिना कुछ पूछे-ताछे पैसे दे देती, तो देवीजी उसकी दूसरी ही आलोचना करतीं इन्हें क्या, लड़के मरें या जिएँ, इनकी बला से, माँ के बिना कौन समझाए कि बेटा, बहुत मिठाइयाँ मत खाओ। आई-गई तो मेरे सिर जाएगी, उन्हें क्या।”⁴ यहाँ पाश्चात्य संस्कारों का प्रश्न ही नहीं आता है। निःसन्देह जब-तक आर्थिक मामलों में संयुक्त परिवार के सदस्य पारस्परिक सहमति से कोई निश्चित योजना अपने सामने नहीं रखते, तब-तक पारिवारिक एकता स्थापित नहीं हो सकती। जिस परिवार में ऐसी योजना नहीं है वहाँ आपसी प्रेम का नितांत अभाव है। वहाँ प्रायः झगड़े होते रहते हैं, जो बँटवारे के बाद ही समाप्त होते हैं।

पारिवारिक जीवन का प्रमुख स्तम्भ दाम्पत्य जीवन है। पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रेमचन्द ने प्रायः अपने प्रत्येक उपन्यास में चर्चा की है। इन सम्बन्धों का आरम्भ विवाह के बाद होता है, जो सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इन सम्बन्धों के मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर प्रेमचन्द की दृष्टि गई है। वैसे देखा जाए तो प्रत्येक उपन्यास में दाम्पत्य जीवन का चित्रण रहता है, पर वह चित्रण कथा-विकास को अथवा चरित्रांकन को सामने रखकर किया जाता है ; लेकिन प्रेमचन्द की यह सीमा नहीं है। वे पारिवारिक समस्या के इस पहलू पर प्रमुखता से विचार करते हैं, कथा-विकास और चरित्रांकन पर नहीं। सुखी दाम्पत्य जीवन किस प्रकार अपनाया जा सकता है, उसकी झलक भी वे अपने उपन्यासों में देते हैं।

दाम्पत्य-जीवन में सुख और आनन्द का अभाव क्यों पाया जाता है ? पति-पत्नी के आपसी मधुर सम्बन्ध क्यों लुप्त हो रहे हैं ? प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में अनेक कारण उपस्थित किए हैं। जैसे, पति-उपेक्षा, अधिकार-भावना, अविश्वास, कलह, व्यवहार, पुराने और नये विचारों का संघर्ष, स्त्री को समझने की कमी, पातिव्रत का एकांगी आदर्श आदि। ‘प्रतिज्ञा’ में सुमित्रा और कमलाप्रसाद का दाम्पत्य जीवन पति-उपेक्षा के फलस्वरूप ही धीरे-धीरे विषाक्त हो उठता है। स्त्री

का स्वतंत्र अस्तित्व न समझने वाले तथा उसे एक निर्जीव मूक यन्त्र समझने वाले घरों में दाम्पत्य-सुख का भाव असम्भव है। पूर्णा सुमित्रा से उसके पति कमलाप्रसाद के आने के बारे में पूछती है।

सुमित्रा द्वार की ओर भयभीत नेत्रों से देखती हुई कहती है, “अभी नहीं, बारह ही तो बजे हैं। इतनी जल्दी क्यों आएंगे ? न एक, न दो, न तीन। मेरा विवाह तो इस महल से हुआ है। लाला बदरीप्रसाद की बहू हूँ, इससे बड़े सुख की कल्पना कौन कर सकता है।”⁵ सुमित्रा के हृदय की वेदना उपर्युक्त व्यंग्य में साकार हो उठी है। ‘प्रतिज्ञा’ में कमलाप्रसाद को एक लम्पट और व्यभिचारी पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, अतः सुमित्रा के प्रति उपेक्षा का भाव उसमें पाया जाना स्वाभाविक है, पर यह बात नहीं कि यह उपेक्षा-भाव ऐसे ही पुरुषों में पाया जाता है। ‘रंगभूमि’ में इन्दु और महेन्द्र के दाम्पत्य जीवन की भी बहुत कुछ यही ग्रन्थि है। इन्दु सौफिया से कहती है, “किसी देशसेवक से विवाह न करना, नहीं तो पछताओगी। तुम उसके अवकाश के समय की मनोरंजन-सामग्री मात्र रहोगी।”⁶ पुरुष-पिडू समाज में नारी के स्वाभिमान का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। अतः स्त्री का जीवन बड़ा दयनीय हो जाता है। उसके दाम्पत्य-जीवन की कल्पना चूर-चूर हो जाती है। पुरुष-पिडू समाज का आधार आर्थिक है। स्त्री की वह ऐसी सारी शक्तियाँ नष्ट कर देता है, जिससे वह आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो सके। निदान उसे पुरुष की चाकरी करनी पड़ती है। पातिव्रत के उच्च आदर्शों के नाम पर इस प्रकार दाम्पत्य जीवन की सारी सरसता कटुता में बदल जाती है। प्रायः कलह हुआ करती है। ऐसे घरों में शान्ति विरले ही देखने में आए। ‘प्रतिज्ञा’ की सुमित्रा व ‘निर्मला’ की कल्याणी के जीवन के ऐसे चित्र प्रेमचन्द ने स्पष्ट रेखाओं में चित्रित किए हैं। सुमित्रा विद्रोह के स्वर में कहती है, “स्त्री पुरुष के पैरों की जूती के सिवा और है ही क्या ? पुरुष चाहे जैसा हो, चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो, स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण-रज धो-धोकर पिए। मैंने कौन-सा अपराध किया था, जो उन्हें मनाने जाती ?”⁷ एक और स्थल पर सुमित्रा का कुचला हुआ अभिमान पति को चुनौती देता है, “कमला ने कमरे में कदम रखते ही कठोर स्वर में कहा, “बैठी गप्पें लड़ा रही हो। ज़रा-सी अचकन माँग भेजी, तो उठते न बना। बाप से कहा होता, किसी करोड़पति सेठ के घर ब्याहते। यहाँ का हाल तो जानते थे।

सुमित्रा ने तड़पकर कहा बाप दादे का नाम न लेना, कहे देती हूँ। यह

चारपाई पर कुंजी पड़ी है और वह सामने सन्दूक है। अचकन लो और बाहर जाओ। यहाँ कोई तुम्हारी लौंडी नहीं है, जब अपनी कमाई खिलाना, तब डॉट लेना। बाप यह नहीं जानते थे कि यह ठाट बाहर-ही-बाहर है।...

-मेरी अचकन निकालती हो या नहीं ?

-अगर भलमनसी से कहते हो तो हाँ, रोब से कहते हो तो नहीं।

-मैं तो रोब से ही कहता हूँ।

-तो निकाल लो।

-तुम्हें निकालना पड़ेगा ?

-मैं नहीं निकालूंगी...

-तुम अपने घर चली जाओ।

- मेरा घर यही है। यहाँ से और कहीं नहीं जा सकती।

- लखपती बाप का घर तो है।

- बाप का घर था जब था, अब यही घर है। मैं अदालत से लड़कर 500 रुपये महीने ले लंगी लाला, इस फेर में न रहना। पैर की जूती नहीं हूँ कि नई थी तो पहना, पुरानी हो गई तो निकाल फेंका।”⁸

इसी प्रकार ‘निर्मला’ में उदयभानु-कल्याणी दम्पति के जीवन में यही बात पायी जाती है।

“कल्याणी इसलिए न कि जानते हो, इसे कहीं ठिकाना नहीं है, मेरी ही रोटियों पर पड़ी हुई है, या और कुछ ? यहाँ कोई बात कहो, बस सिर हो गये, मानों मैं घर की लौंडी हूँ, मेरा केवल रोटी ओर कपड़े का नाता है। जितना ही मैं दबती हूँ, तुम और भी दबाते हो।

उदयभानु मैं कमाकर लाता हूँ, जैसा चाहूँ खर्च कर सकता हूँ। किसी को बोलने का अधिकार नहीं है।”⁹

अतः जब तक स्त्री आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं करती, उसके स्वाभिमान को इसी प्रकार पद-पद पर ठेस पहुँचाई जाएगी। पुरुष-पिटू समाज में स्त्री को नौकरी नहीं करने दी जाती, उसे पति अपना दासी बनाकर रखना चाहता है। स्पष्ट है, जहाँ पति-पत्नी के सम्बन्धों का यह आधार हो वहाँ सफल और सुखी दाम्पत्य जीवन दुर्लभ है।

स्त्री और पुरुष के इस आर्थिक पहलू पर ‘प्रतिज्ञा’ से लेकर ‘मंगलसूत्र’ तक प्रेमचन्द बराबर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। ‘प्रतिज्ञा’ में सुमित्रा प्रश्न करती

है, “आखिर पुरुष अपनी स्त्री पर क्यों इतना रोब जमाता है? बहन, कुछ तुम्हारी समझ में आता है?”¹⁰ इस प्रश्न का उत्तर पूर्णा ने बड़े ही यथार्थ ढंग से दिया है, “मर्द स्त्री से बल में, बुद्धि में, पौरुष में अक्सर बढ़कर होता है, इसलिए उसकी हुकूमत है। जहाँ पुरुष के बदले स्त्री में यही गुण हैं, वहाँ स्त्रियों की ही चलती है। मर्द कमाकर खिलाता है, रोब जमाने से भी जाए ?”¹¹ और सुमित्रा इसी बात को और जोर देकर कहती है, “बस, बस, तुमने लाख रुपये की बात कह दी। यही मैं भी समझती हूँ। बेचारी औरत कमा नहीं सकती, इसलिए उसकी यह दुर्गति है।”¹²

‘मंगलसूत्र’ में सन्तकुमार और पुष्पा दम्पति का जीवन भी यही कहानी कह रहा है। सन्तकुमार ने पुष्पा से, इस यथार्थ तथ्य को पुष्ट करने के लिए कहा था, “जो स्त्री पुरुष पर अवलम्बित है, उसे पुरुष की हुकूमत माननी पड़ेगी।”¹³ और जब मौखिक झगड़े के बाद पुष्पा सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर-स्वरूप पान का एक बीड़ा लगाकर सन्तकुमार को देती हुई कहती है, “अब से कभी यह बात मुँह से न निकालना। अगर मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ, तो तुम भी मेरे आश्रित हो, मैं तुम्हारे घर में जितना काम करती हूँ, इतना ही काम दूसरों के घर में करूँ, तो अपना निर्वाह कर सकती हूँ या नहीं, बोलो ? तब मैं जो कूळ कमाऊंगी वह मेरा होगा। यहाँ मैं चाहे प्राण भी दे दूँ पर मेरा किसी चीज़ पर अधिकार नहीं। तुम जब चाहे मुझे घर से निकाल सकते हो।”¹⁴ यहाँ प्रेमचन्द भारतीय नारी के स्वाभिमान की ही रक्षा नहीं करते वरन् उसको समाज में उचित स्थान का अधिकारी भी घोषित करते हैं। प्रेमचन्द के अधिकांश नारी पात्र विद्राही व्यक्तित्व से परिपूर्ण हैं। पुरुष-पिटू समाज स्त्री के आत्मबल को समाप्त करने के लिए तरह-तरह के षडयन्त्र रचता है। पुष्पा के इस कथन में कितनी सत्यता है, “हम भी तो वही आत्मबल और शक्ति और कला प्राप्त करना चाहती हैं, लेकिन तुम लोगों के मारे जब कुछ चलने पावे। मर्यादा और आदर्श और जाने किन-किन बहानों से हमें दबाने की और हमारे ऊपर अपनी हुकूमत जमाए रखने की कोशिश करते रहते हो।”¹⁵ परिवारों में देखा जाता है, जहाँ स्त्री में सहनशीलता अधिक होती है वहाँ ऊपरी शान्ति तो अवश्य पाई जाती है, पर वहाँ भी दाम्पत्य-जीवन का रस अनुभूत नहीं हो सकता। दूसरी ओर जिस परिवार के नारी-वर्ग में चेतना है, वहाँ स्त्री-पुरुष में इस अधिकार-भावना को लेकर प्रायः संघर्ष होते रहते हैं; जो कभी-कभी तो अप्रिय परिणामों के जनक होते हैं। ‘कायाकल्प’ में रोहिणी की सूखी हँसी और निम्नलिखित विवशताजन्य बोल

भारतीय स्त्री की दयनीय स्थिति को और स्पष्ट करते हैं, “आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। आपने वही किया, जो सभी पुरुष करते हैं, और लोग छिपे-छिपे करते हैं, राजा लोग वही काम खुले-खुले करते हैं। स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है, कभी उनके पाँव की जूती। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है। यह अपना दोष नहीं, हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसीलिए बनाया है। हमें यह सब चुपचाप सहना चाहिए, गिला या मान करने का दंड बहुत कठोर होता है, और विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है।”¹⁶

‘सेवासदन’ में सुमन-गजानन्द का दाम्पत्य जीवन असफल रहता है और भयानक परिणाम के रूप में समाने आता है। चूँकि सुमन को अपना स्वाभिमान प्यारा था, अतः वह घर छोड़कर भाग जाती है और वेश्या-जीवन अपनाने के लिए बाध्य होती है। सुमन के इस प्रसंग पर प्रेमचन्द आपसी व्यवहार को प्रधानता देते हैं। पति-पत्नी के झगड़ों का कारण कभी-कभी एक-दूसरे के प्रति अशिष्ट व्यवहार भी होता है। सुमन के चले जाने पर स्वयं गजानन्द उसके कारणों का विश्लेषण करता हुआ कहता है, “मेरी असज्जनता और निर्दयता, सुमन की चंचलता और विलास, दोनों ने मिलकर हम दोनों का सर्वनाश कर दिया। मैं अब उस समय की बातों को सोचता हूँ तो ऐसे मालूम होता है कि एक बड़े घर की बेटी से ब्याह हो जाने पर उसका उचित आदर-सम्मान नहीं किया। निर्धन था, इसलिए आवश्यक था कि मैं धन के अभाव को अपने प्रेम और भक्ति से पूरा करता। मैंने इसके विपरीत उससे निर्दयता का व्यवहार किया। उसे वस्त्र और भोजन का कष्ट दिया। वह चौका-बरतन, चक्की-चूल्हे में निपुण नहीं थी और न हो सकती थी, पर उससे सब काम लेता था और जरा-भर देर हो जाती तो बिगड़ता था। अब मुझे मालूम होता है कि मैं ही उसके घर से निकलने का कारण हुआ, मैं उसकी सुन्दरता का मान न कर सका, इसलिए सुमन का भी सुझसे प्रेम नहीं हो सका।”¹⁷ अनेक परिवारों में दाम्पत्य जीवन की समस्या नये और पुराने आदर्शों के संघर्ष से जन्म लेती है। धर्म और पातिव्रत के नाम पर हिन्दू नारी का शताब्दियों से शोषण हो रहा है। आधुनिक नारी अपने इस शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। अब वह पतिदेव की आज्ञानुसार सिर के बल चलना अपना धर्म नहीं समझती। ‘रंगभूमि’ में इन्दु एक ऐसी ही नारी है। उसकी माँ जाह्नवी पुराने आदर्शों के अनुरूप बेटी को भी ढालना चाहती है, पर इन्दु इसका खुला विरोध करती है। जाह्नवी कहती है, “मैं तुम्हें पति-परायण सती देखना चाहती हूँ, जिसे अपने पुरुष की आज्ञा या इच्छा के

सामने अपने मानापमान का ज़रा भी विचार नहीं होता। अगर वह तुम्हें सिर के बल चलने के कहे तो भी तुम्हारा धर्म है कि सिर के बल चलो।” इन्दु उत्तर देती है, “आप मुझसे वह करने को कहती हैं, जो मेरे लिए असम्भव है।”¹⁸ इन्दु का यह विद्रोह उच्छृंखलता की कोटि का नहीं, वरन् अपना सुदृढ़ वैचारिक पहलू रखता है, “स्त्री का कर्तव्य है कि अपने पुरुष की सहगामिनी बने। पर प्रश्न यह है, क्या स्त्री का अपने पुरुष से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है ? इसे तो बुद्धि स्वीकार नहीं करती।”¹⁹ नारी का यह पृथक अस्तित्व क्यों लुप्त हो रहा है ? ‘मंगलसूत्र’ में तिब्बी कहती है, “ मरदों ने स्त्रियों के लिए और कोई आश्रय छोड़ा ही नहीं। पातिव्रत उनके अन्दर इतना कूट-कूटकर भरा गया है कि उनका अपना व्यक्तित्व रहा ही नहीं। वह केवल पुरुष के आधार पर जी सकती है। उसका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व रहा ही नहीं।”²⁰ स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को सुधारने के लिए थोथे आदर्शों को तिलांजलि देना अनिवार्य है। प्रेमचन्द ने समाज के सामने जहाँ एक सन्तुलित दृष्टिकोण रखा है, वहाँ प्रतिक्रियावादियों से कहीं समझौता भी नहीं किया है। पुरुष की एक और दुर्बलता की ओर प्रेमचन्द ने संकेत किया है। वह दुर्बलता है उसकी स्त्री को समझने की कमी। मनोरमा कहती है, “पुरुष कितना ही विद्वान और अनुभवी हो, पर स्त्री को समझने में असमर्थ ही रहता है।”²¹ निःसन्देह यह नासमझी भी अनेक दुर्घटनाओं की जनक होती है।

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में दाम्पत्य जीवन के संघर्षों के मूल कारणों पर जगह-जगह प्रकाश डाला है। पर, वे उन मूल कारणों पर समाज का ध्यान आकृष्ट करके ही संतोष नहीं कर लेते, प्रत्युत सुखी दाम्पत्य जीवन का मार्ग भी बताते हैं। स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्धों के लिए प्रेमचन्द उनमें चरित्रगत और स्वभावगत कुछ बातें चाहते हैं, जो एकपक्षीय नहीं हैं। ‘कायकल्प’ में रोहिणी कहती है, “सीता बनाने के लिए राम जैसा पुरुष चाहिए।”²² अतः प्रेमचन्द ने केवल एक पक्ष की ही वकालत नहीं की है। वे स्त्री में सेवाभाव, प्रेम, श्रद्धा आदि सद्गुणों का होना सफल दाम्पत्य जीवन के लिए आवश्यक समझते थे। ‘वरदान’ में चन्द्रा और राधाचरण के सुखी दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द लिखते हैं, “चन्द्रा में चाहे और गुण न हों परन्तु पति की सेवा वह तन-मन से करती थी। ..इन्हीं कारणों से राधाचरण को स्त्री का वशीभूत बना दिया था। प्रेम रूप, गुण आदि सब त्रुटियों का पूरक है।”²³ ‘गोदान’ में मेहता का यह कथन भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करता है, “सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवाव्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्भव है। सेवा ही वह सीमेंट है, जो

दम्पति को जीवनपर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है, वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।”²⁴ ‘कर्मभूमि’ में सुखदा में वास्तविक प्रेम और समर्पण का अभाव है। प्रेमचन्द सुखदा के इस अभाव को स्पष्ट करने के लिए सकीना को सामने लाते हैं; जो दाम्पत्य जीवन के आदर्शों की वाहिका है। सकीना को देखकर सुखदा आत्मालोचन करती है, “ऐसी ही स्त्रियाँ पुरुषों के हृदय पर राज्य करती हैं। मेरे हृदय में कभी इतनी श्रद्धा नहीं हुई। मैंने उनसे हँसकर बोलने, हास-परिहास करने और अपने रूप और यौवन के प्रदर्शन में ही अपने कर्तव्य का अन्त समझ लिया, न कभी प्रेम किया, न प्रेम पाया।”²⁵ सुखदा और सकीना का अन्तर बताते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, “सुखदा अपनी प्रतिभा और गरिमा से उस पर शासन करती थी। वह शासन उसे प्रिय था। सुखदा में अधिकार का गर्व था। सकीना में समर्पण की दीनता थी। सुखदा अपने को पति से बुद्धिमान और कुशल समझती थी। सकीना समझती थी, मैं इनके आगे क्या हूँ?”²⁶

प्रेमचन्द के दाम्पत्य जीवन के विचारों में पवित्रता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। पुराने दकियानूसी विचारों का जहाँ वे विरोध करते हैं वहाँ उच्छृंखलता का समर्थन भी नहीं करते। उनके विचारों में भारत की प्राचीन गरिमा के अनुरूप सांस्कृतिक गहराई है। ‘प्रतिज्ञा’ में दाम्पत्य जीवन का सुख-मूल बताते हुए वे कमलाप्रसाद और सुमित्रा के जीवन पर टिप्पणी करते हैं, “धर्म का ज्ञान, जो दाम्पत्य जीवन का सुख-मूल है, दोनों में किसी को न था।”²⁷ प्रेमचन्द पत्नी को सच्चे मन्त्री, सच्चे सहायक और सच्चे मित्र के रूप में देखना चाहते हैं। यदि दोनों में विचार और आदर्शों की एकता हो तो दाम्पत्य जीवन दोनों के विकास में उपयोगी सिद्ध होगा। ‘कायाकल्प’ में यशोदानन्द कहता है, “यदि स्त्री और पुरुष के विचार और आदर्श एक से हों, तो स्त्री पुरुष के कामों में बाधक होने के बदले सहायक हो सकती है।”²⁸

एक ओर प्रेमचन्द स्त्री को सुधारने का संकेत देते हैं तो दूसरी ओर विपरीत दशा में समझौता न करने के लिए भी उसे तैयार करते हैं। वे उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का समर्थन करते हैं। तथा उसके स्वाभिमान की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरुष वर्ग के अत्याचार के विरोध में प्रेमचन्द ‘मंगलसूत्र’ में पुष्पा जैसी स्त्रियों का सर्जन करते हैं; जो अपनी दुर्बलताओं का त्याग कर पुरुष को चुनौती देती है, “जानते हैं (पुष्पा के पति) कि इसे चाहे जितना सताओ, कही जा नहीं सकती...एक बार वह

(पुष्पा) विलास का मोह त्याग दे और त्याग करना सीखे ले, फिर कौन रोब जमा सकेगा, फिर वह क्यों किसी से दबेगी।”²⁹

प्रेमचन्द की दृष्टि सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से लेकर पारिवारिक समस्याओं तक समान रूप से गयी है। पारिवारिक क्षेत्र की महत्ता को उन्होंने कम करके नहीं देखा है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास भारतीय जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर भली-भाँति प्रकाश डालते हैं और सामयिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं।

संदर्भ-संकेत

- 1 'प्रेमाश्रम', पृ. 28
- 2 'रंगभूमि' (भाग - 1), पृ. 123
- 3 'प्रेमाश्रम', पृ. 327
- 4 'निर्मला', पृ. 39
- 5 'प्रतिज्ञा', पृ. 31
- 6 'रंगभूमि' (भाग - 1), पृ. 67
- 7 'प्रतिज्ञा', पृ. 55
- 8 'प्रतिज्ञा', पृ. 69
- 9 'निर्मला', पृ. 10
- 10 'प्रतिज्ञा', पृ. 91
- 11 'प्रतिज्ञा', पृ. 93
- 12 'प्रतिज्ञा', पृ. 93
- 13 'मंगलसूत्र', पृ. 10
- 14 'मंगलसूत्र', पृ. 12
- 15 'मंगलसूत्र', पृ. 14
- 16 'कायाकल्प', पृ. 375-376
- 17 'सेवासदन', पृ. 262
- 18 'रंगभूमि' (भाग - 1), पृ. 139
- 19 'रंगभूमि' (भाग - 1), पृ. 291-293
- 20 'मंगलसूत्र', पृ. 98
- 21 'कायाकल्प', पृ. 338
- 22 'कायाकल्प', पृ. 377
- 23 'वरदान', पृ. 29
- 24 'गोदान', पृ. 221
- 25 'कर्मभूमि', पृ. 204
- 26 'कर्मभूमि', पृ. 112
- 27 'प्रतिज्ञा', पृ. 48
- 28 'कायाकल्प', पृ. 15
- 29 'मंगलसूत्र', पृ. 27

भारतीय नारी (ग) विधवा-समस्या

आज भी हिन्दू समाज में विधवा-समस्या अपने भयंकर रूप में उपस्थित है। यों तो वर्तमान हिन्दू समाज में समग्र नारी-जीवन पुरुष वर्ग के तिरस्कार, दमन तथा उपेक्षा-भावना का शिकार है, लेकिन सबसे अधिक अत्याचार और शोषण की प्रतिमूर्ति एकमात्र विधवा ही है। विधवा का यह दयनीय जीवन विशेषकर मध्यवर्गीय परिवारों में बड़ा ही करुण है। किसी भी देश की उन्नति के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है कि उसमें बसने वाली समस्त व्यस्क जनसंख्या को प्रत्येक स्त्री और पुरुष को एक से सामाजिक अधिकार प्राप्त हों तथा स्त्री और पुरुष के शारीरिक तथा मानसिक विकास की आवश्यकताएँ सहज में पूर्ण हो सकें। इसका अभिप्राय नैतिक आचारों की अवहेलना नहीं है। समाज-व्यवस्था जब दूषित होती है तब समाज-विरोधी शक्तियाँ तथाकथित नैतिकता की आवाज़ लगाकर समाज के गतिशील, चेतन एवं विकासशील तत्त्वों में रुकावट का काम करती अवश्य हैं, पर वे उन्हें पराभूत नहीं कर सकतीं। प्रत्येक प्रगतिशील लेखक का यह विश्वास समाज की इसी दुर्दमनीय शक्ति से पुष्ट होता है और वह विकासोन्मुख तत्त्वों को समझने में तथा उन्हें सहायता देने में कोई कमी नहीं उठा सकता। प्रेमचन्द को समाज के ऐसे तत्त्वों की बड़ी सूक्ष्म पहचान थी।

विधवा को समाज का उपेक्षित, पद-दलित तथा तिरस्कृत अंग समझने वाले पोंगा-पंथियों को एवं विधवा को अपनी कामुकता तथा वासना का सहज-सुलभ पात्र समझने वाले दरिन्दों को प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में नंगा करके बताया है। उनकी घृणित से घृणित कार्रवाइयों तथा टीका-टिप्पणियों को यथार्थ रूप में

उपस्थित किया है। उन पर किसी आदर्श का आवरण नहीं है। विधवा-जीवन की विवशताएँ, उन पर होने वाले अत्याचार तथा उनके लिए सम्मानपूर्ण वातावरण बनाने के उपाय सभी बातों का वर्णन प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। विधवा के प्रति उनके हृदय में बड़ा दर्द था, जो जगह-जगह ज्वालामय शब्दों के रूप में अंकित हो गया है।

विधवा-जीवन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने अपने 'प्रतिज्ञा' नामक उपन्यास में विस्तार से लिखा है। वस्तुतः 'प्रतिज्ञा' की मुख्य समस्या विधवा-समस्या ही है। इसके अतिरिक्त 'वरदान', 'निर्मला', 'कर्मभूमि' में भी जगह-जगह वैधव्य के सम्बन्ध में चर्चा है। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा, 'वरदान' की बृजरानी, 'कर्मभूमि' की रेणुका, 'निर्मला' की कल्याणी व रुक्मणी सभी अभिशापित जीवन का बोझा ढो रही हैं। इन विधवाओं के माध्यम से प्रेमचन्द विधवा-समस्या का उद्घाटन करते हैं और जैसा कि उनका स्वभाव था, वे समस्या के उद्घाटन से सन्तुष्ट नहीं होते थे; वरन् उसका कोई-न-कोई हल भी प्रस्तुत करते थे। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या प्रमुख है, 'वरदान' व 'निर्मला' (1927) में गौण और 'कर्मभूमि' (1932) में आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न विधवा होने के कारण नगण्य ही है। आगे चलकर प्रेमचन्द बड़े प्रश्नों की ओर उन्मुख हो जाते हैं। जिनको हल कर लेने पर छोटी-छोटी समस्याएँ सुगमता से निबटाई जा सकती हैं; वे वर्तमान पूँजीवादी समाज-व्यवस्था पर ही सीधा प्रहार करते हैं। जब तक पुरुष की नारी पर प्रभुता बनी रहेगी वह उसे अपने गर्हित स्वार्थ के लिए कभी भी मुक्त नहीं होने देगा। आवश्यकता सामाजिक व्यवस्था के समूल परिवर्तन की है। शताब्दियों से चले आए हुए कुसंस्कारों को जब तक जड़ से उखाड़कर फेंक नहीं दिया जाता तब तक सुधारवादी ढंग से समस्याएँ सुलझ नहीं सकतीं। जैसे-जैसे प्रेमचन्द के विचारों में तीव्रता आती गयी, साधारण समस्याएँ चाहे वे कितनी ही भयावह क्यों न हों, प्रमुख न रहकर उनको जन्म देने वाली मूल सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ ही आगे आती गयीं। यही कारण है कि 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ने विधवा-समस्या जिस कटुता तथा प्रमुखता के साथ सामने रखी थी, वह आगे चलकर गौण हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि विधवा-समस्या का प्रमुख कारण आर्थिक विषमता है और यह आर्थिक विषमता वर्तमान समाज-व्यवस्था पर आश्रित है। जब तक भारतीय जीवन के सामाजिक संगठन में आधारभूत परिवर्तन नहीं होते, ये समस्याएँ उचित ढंग से सुलझ नहीं सकतीं।

‘वरदान’ में जब बिरजन का सुहाग लुट जाता है, तब एक तरह से उसका जीवन ही मिट्टी में मिल जाता है। जैसे कि हिन्दू स्त्री का कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। पति ही उसके अस्तित्व का सूचक है। विधवा का जीवन हिन्दू समाज में पशुओं से भी गया-बीता है। हिन्दू स्त्री के जीवन की प्रत्येक गतिविधि पति के चारों ओर ही केन्द्रित रहती है। उसकी मृत्यु के बाद वह अपमानित और पराजित जीवन के धुँधलके में या तो रामभजन करे या आत्महत्या।

कमलाचरण की अकाल मृत्यु पर बृजरानी की दुःख-दशा का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं- “सौभाग्यवती स्त्री के लिए उसका पति संसार की सबसे प्यारी वस्तु होती है। वह उसी के लिए जीती है और उसी के लिए मरती है। उसका हँसना बोलना उसी को प्रसन्न करने के लिए और उसका बनाव-शृंगार उसी को लुभाने के लिए होता है। उसका सोहाग उसका जीवन है, और सोहाग का उठ जाना उसके जीवन का अन्त है।”¹

‘प्रतिज्ञा’ में पूर्णा की कहानी विधवा-जीवन का हृदय विदारक चित्र उपस्थित करती है। ठीक पति की मृत्यु के पश्चात् पूर्णा किस तरह से हिन्दू समाज के धर्म-ध्वजियों, पोंगा-पंथियों तथा विधवाओं की अस्मत् से खेलने वालों की शिकार बनती है, यह सब इतने यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया गया है कि विधवा-जीवन की सारी दयनीयता, सारी विवशता एवं सारी दुर्बलता को सामने ला देता है। पूर्णा का जीवन एक दर्पण है जिसमें हिन्दू विधवा का यथार्थ स्वरूप देखा जा सकता है।

कमलाप्रसाद, पूर्णा के पति पं. बसन्तकुमार का मित्र है। बसन्तकुमार की मृत्यु के बाद वह अपने दकियानूस पिता बदरीप्रसाद से राय लेकर पूर्णा की सहायता करने जाता है। पूर्णा के माँ-बाप पहले ही मर चुके थे। मामा ने किस प्रकार विवाह किया था। ससुराल में भी कोई सगा न था। ऐसी स्थिति में पड़ोस धर्म के नाते बदरीप्रसाद उसके पालन-पोषण का कुछ प्रबन्ध करना चाहते हैं और उसे अपने घर में ही रखने का प्रस्ताव रखते हैं। यह प्रस्ताव कमलाप्रसाद को अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उसमें आर्थिक हानि थी। फिर भी पिता के भय के कारण वह पूर्णा के घर पहुँचता है ; लेकिन यही सोचकर कि किसी भाँति पूर्णा को यहाँ से टाल दूँ, मैके चले जाने लिए प्रेरित करूँ। प्रेमचन्द लिखते हैं- “उसे इसकी ज़रा भी चिन्ता न थी कि इस अबला का भविष्य क्या होगा, उसका निर्वाह कैसे होगा, उसकी रक्षा कौन करेगा। उसका उसे लेशमात्र भी ध्यान न था।”² और जब वह पूर्णा को देखता है, उसकी कृतज्ञता और विनय से भरी हुई सजल आँखों को

देखता है, उसकी सरल निष्कलंक, दीनमूर्ति को देखता है, तो अपनी कुटिलता पर क्षणिक लज्जित होता है। लेकिन उसकी यह लज्जा पूर्णा के सौन्दर्य और यौवन को देखकर छूमन्तर हो जाती है और अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिए वह बड़ी-बड़ी बातें करके सीधी और मूक पूर्णा को अपने घर ले जाने के लिए राजी कर लेता है। समाज में दूसरों की दुर्बलताओं और विवशताओं से लाभ उठाने वाले विधवाओं को पहले अपना लक्ष्य बनाते हैं। सीधी स्त्रियाँ उनकी प्रशंसात्मक छलभरी बातों से आसानी से फँस जाती है। पूर्णा भी कमलाप्रसाद के जाल में धीरे-धीरे में फँसने लगती है। प्रेमचन्द लिखते हैं, “आश्रयविहीन अबला के लिए इस समय तिनके का सहारा ही बहुत था, तो वह नौका की कैसे अवहेलना करती; पर वह क्या जानती थी कि यह उसे उबारने वाली नौका नहीं वरन् विचित्र जलजन्तु है, जो उसकी आत्मा को निगल जायगा।”³ और आगे चलकर यही होता है। पूर्णा और कमलाप्रसाद की पत्नी सुमित्रा के बीच साड़ी के प्रश्न पर सन्देह का वातावरण बन जाता है। कुवासनाओं में लिपटा कमलाप्रसाद सुमित्रा का अपमान करता है। और दिन-रात पूर्णा को फँसाने के कुचक्र रचता रहता है। सुमित्रा पूर्णा को एक स्थान पर सचेत भी करती है, जब पूर्णा कमलाप्रसाद के बारे में कहती है :

“बहन, तुम कैसी बातें करती हो ? एक तो ब्राह्मणी, दूसरी विधवा, फिर नाते से बहन, मुझे यह क्या कुदृष्ट से देखेंगे ? फिर उनका कभी ऐसा स्वभाव नहीं रहा।”

सुमित्रा पान लगाती हुई बोली, “स्वभाव की न कहो पूर्णा, स्वभाव किसी के माथे पर नहीं लिखा होता। जिन्हें तुम बड़ा संयमी समझती हो, वह छिपे रुस्तम होते हैं। उनका तीर मैदान में नहीं, घर में चलता है।”⁴

पूर्णा सोचती है, वैधव्य क्या कलंक का दूसरा नाम है ? प्रेमचन्द विधवा की दयनीयता के सम्बन्ध में लिखते हैं, “विधवा पर दोषारोपण करना कितना आसान है। जनता को उसके विषय में नीची-से-नीची धारणा करते देर नहीं लगती। मानों कुवासना ही वैधव्य की स्वभाविक वृत्ति है। मानों विधवा हो जाना, मन की सारी दुर्वासनाओं, सारी दुर्बलताओं का उमड़ आना है।”⁵

पराधीन पूर्णा धीरे-धीरे कमलाप्रसाद के चंगुल में आने लगती है और एक रात उसकी कामुकता का शिकार होते-होते बचती है। पूर्णा के ये शब्द विधवा के अभिशप्त जीवन की विभीषिका को कितना स्पष्ट कर देते हैं, “अब जाने दो बाबू जी, क्यों मेरा जीवन भ्रष्ट करना चाहते हो, तुम मर्द हो, तुम्हारे लिए सब कुछ माफ़

है, मैं औरत हूँ, मैं कहाँ जाऊंगी ? डूबे मरने के सिवा मेरे लिए कोई उपाय न रह जायगा। मैं तो आज मर भी जाऊँ तो किसी की कोई हानि न होगी, वरन् पृथ्वी का कुछ बोझ ही हलका होगा।”⁶ पूर्णा का जीवन एक समस्या बन जाता है। वह उस घर से निकल जाने का निश्चय करती है, “संसार में लाखों विधवाएँ पड़ी हैं, क्या सभी के रक्षक बैठे हैं ? किसी भाँति उनके दिन भी कटते ही हैं। मेरे भी उसी भाँति कट जायेंगे। और फिर कहीं आश्रय नहीं है, तो गंगा तो कहीं नहीं गई है।”⁷ वह विधवा-आश्रम जाने का निश्चय करती है; लेकिन झमेला बढ़ने के भय से रुक जाती है। वह सोचती है, “तरह-तरह के सन्देह लोगों के मन में पैदा होंगे। अभी कम-से-कम लोगों को मुझ पर दया आती है, फिर तो कोई बात भी न पूछेगा। विधवा को कुलटा बनते कितनी देर लगती है?”⁸ निदान वह वहीं, उसी वातावरण में ही रहती है। कमलाप्रसाद जब छल-बल से पूर्णा का सतीत्व हरण नहीं कर पाता तब उसे धोखे से एकान्त बँगले में ले आता है और वहाँ बलात्कार करने को उद्यत होता है। पूर्णा कमलाप्रसाद को घायल कर देती है। और बँगले से बाहर सड़क पर निकल आती है। प्रेमचन्द विधवा के करुण जीवन का यहाँ चरमोत्कर्ष ला देते हैं। वे कहते हैं, “अब उसके लिए कहाँ आश्रय था ? एक ओर जेल की दुस्सह यंत्रणाएँ थीं, दूसरी ओर रोटियों के लाले, आँसुओं की धार और घोर प्राण पीड़ा। ऐसे प्राणी के लिए मृत्यु के सिवा और कहाँ ठिकाना है।”⁹ पूर्णा के जीवन की निराशा अपने अन्तिम छोर पर पहुँच जाती है। वह सोचती है, अपने पति के बाद ही उसने क्यों न प्राणों का त्याग किया ? क्यों न उसी शव के साथ सती हो गई ? इस जीवन से तो सती हो जाना कहीं अच्छा था।”¹⁰

यह सब ‘प्रतिज्ञा’ की कथा और ‘पूर्णा’ की कहानी है। यह केवल ‘पूर्णा’ की ही जीवन-कहानी नहीं है, वरन् हजार-हजार हिन्दू नारियों की कहानी है। युवा विधवा हिन्दू समाज में एक बड़ी समस्या है। प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे, अतः उन्होंने इस सामाजिक समस्या को भी पूरी उग्रता और भीषणता से उपस्थित किया है। कमलाप्रसाद से भी अधिक घृणित मनोवृत्ति वाले मनुष्यों का समाज में अभाव नहीं है। विधवाओं को ऐसा समाज व्यभिचार तथा वेश्यावृत्ति का पात्र समझता है। सम्भ्रान्त परिवारों में आर्थिक विवशता में विधवाएँ अपमानित जीवन का बोझ ढोती हैं। ‘निर्मला’ में रुक्मणी का जीवन क्या है ? रुक्मणी मुंशी तोताराम की बहन है। वह उन्हीं के यहाँ रहती है। पारिवारिक जीवन में कभी-कभी कलह पैदा हो ही जाती है। ऐसे अवसरों पर व्यक्ति के मनोभाव अपने

यथार्थ नग्न स्वरूप में देखने को मिलते हैं। मुंशी तोताराम अपनी बहन के सम्बन्ध में जो भाव रखते हैं वे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं- “मैंने तो सोचा था कि विधवा है, अनाथ है, पाव भर आटा खायगी, पड़ी रहेगी। जब और नौकर-चाकर खा रहे हैं तो यह अपनी बहन ही है। लड़कों की देखभाल के लिए एक औरत की ज़रूरत भी थी, रख लिया, लेकिन इसके यह माने नहीं है कि वह तुम्हारे ऊपर शासन करे।”¹¹ सहोदर विधवा बहन को दासी के रूप में देखना विधवा का कितना बड़ा मज़ाक है। जब घर के घर में भाई के द्वारा विधवा बहन तिरस्कृत हो सकती है तो फिर नाना कुसंस्कारों से ग्रस्त समाज में उसके लिए क्या स्थान हो सकता है ?

विधवा-समस्या ने समाज ने में अन्य समस्याओं को भी जन्म दिया है। अनेक सामाजिक कुरीतियाँ जो हिन्दू समाज में फैली हुई हैं, एक सीमा तक, विधवा-समस्या हल हो जाने पर दूर हो सकती हैं। विधवा-समस्या वेश्या-समस्या को परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से बल पहुँचाती है। आर्थिक दृष्टि से तंग विधवा के यदि दो-तीन युवा लड़कियाँ हों तब तो यह समस्या और भी भयावह हो जाती है। ऐसी स्थिति में अनमेल विवाह का प्रचलन बढ़ जाता है। अथवा अनेक लड़कियाँ आजन्म अविवाहित रह जाती हैं। अथवा कुछ दुर्बल लड़कियाँ समाज की कुवासना की शिकार हो जाती हैं। प्रायः ऐसे समाचार दैनिक पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं। ‘निर्मला’ में कल्याणी ऐसी ही विधवा है, जिसकी दो लड़कियाँ हैं निर्मला और कृष्णा। पति की मृत्यु के समय निर्मला पन्द्रह वर्ष की और कृष्णा दस वर्ष की थी। कल्याणी, जो विधवा हो जाती है, उसकी समस्या यहाँ पर गौण है, लेकिन उससे उत्पन्न जटिल समस्या उसकी पुत्रियों के विवाह की है। प्रेमचन्द लिखते हैं, “दरिद्र विधवा के लिए इससे बड़ी क्या विपत्ति हो सकती है कि जवान बेटे सिर पर सवार हो ? लड़के नंगे पाँव पढ़ने जा सकते हैं, चौका-बर्तन भी अपने हाथ से किया जा सकता है, रूखा-सूखा खाकर निर्वाह किया सकता है, झोंपड़े में दिन काटे जा सकते हैं, लेकिन युवती कन्या घर में नहीं बिठाई जा सकती।”¹² और अन्त में निर्मला का विवाह एक दोहाजू से होता है। यह विवाह निर्मला की आशाओं-अभिलाषाओं को, जीवन की सारी हँसी-खुशी को मिट्टी में मिला देता है। इस तरह प्रेमचन्द ने विधवा-समस्या के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

अब प्रश्न यह आता है कि इस समस्या का हल क्या है ? प्रेमचन्द ने समस्या की गम्भीरता को ही हमारे समाने नहीं रखा है वरन् उसके हल के सम्बन्ध

में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। वस्तुतः देखा जाए तो विधवा-समस्या के हल न होने का मुख्य कारण आर्थिक है। विधवा की सबसे बड़ी समस्या यौन-सम्बन्धी नहीं है जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं। विधवा-विवाह यौन-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त नहीं, वरन आर्थिक निर्भरता के निमित्त है, क्योंकि हमारे समाज की बनावट ही कुछ ऐसी है कि यहाँ स्त्रियाँ नौकरी नहीं करतीं। यह प्रवृत्ति पढ़ी-लिखी लड़कियों तक में है। फिर बिना पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ किस प्रकार असाधारण कार्य करने को प्रस्तुत हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में विधवा-विवाह विधवा का उद्धार कर देता है। यदि स्त्रियों में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार हो जाए और वे नौकरी कर सकें तो विधवा-जीवन की सारी दयनीयता स्वतः मिट सकती है। स्त्रियों में आज यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे पैदा हो रही है, किन्तु प्रेमचन्द के समय यह स्थिति न थी। आजकल विधवा-विवाह भी एक साधारण-सी बात समझी जाती है, लेकिन प्रेमचन्द के समय विधवा से विवाह करना बड़ा भारी क्रांतिकारी कार्य समझा जाता था। विधवा-समस्या को हल करने के लिए प्रेमचन्द ने दो उपाय बताए हैं :

(1) विधवा-विवाह, और (2) वनिता-आश्रम की स्थापना।

विधवा-विवाह हिन्दू विधवा नारी की समस्या का एक कारगर हल है। आज के हिन्दू समाज को देखते हुए इसे सामयिक कदम कहा जा सकता है। आज की हिन्दू स्त्रियों बहुत कम साक्षर हैं ; दूसरे, सामाजिक और नैतिक बन्धनों में वे इतनी अधिक जकड़ दी गई हैं कि अधिकांश पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी अपनी कोई स्वतन्त्र आर्थिक व्यवस्था नहीं कर सकतीं। जैसा कि लिखा जा चुका है, विधवा की समस्या यौन-तृप्ति की समस्या नहीं हैं, उसका आधार आर्थिक है और यही आधार हिन्दू विधवा के पास नहीं के बराबर है। ऐसी स्थिति में यदि देश के युवक विधवा-विवाह की पद्धति को अपनाते हैं तो सामाजिक स्थिति को देखते हुए समस्या के हल की दिशा में उनका यह एक महत्वपूर्ण कदम होगा। माना कि विधवा-विवाह हिन्दू नारी की पराधीनता का उपचार नहीं है, पर प्रेमचन्द के समय के हिन्दू समाज के लिये यही क्रांतिकारी कार्य था।

प्रेमचन्द ने विधवा-विवाह के सम्बन्ध में 'प्रतिज्ञा' में विस्तार से अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'प्रतिज्ञा' का प्रारम्भ ही इस प्रश्न को लेकर होता है। काशी के आर्य-मन्दिर में पंडित अमरनाथ का व्याख्यान हो रहा है। पंडित अमरनाथ उपस्थित जनता के उस भाग से जिसे पत्नी-वियोग हो चुका है, पूछते हैं, "आप लोगों में कितने महाशय हैं, जो वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ

अपने कर्तव्य का पालने करने का साहस रखते हैं ? कृपया वे हाथ उठाये रहें। अरे, यह क्या ? एक भी हाथ नज़र नहीं आता! हमारा युवक समाज इतना कर्तव्यशून्य, इतना साहसहीन है।¹² यह समाज की स्थिति है। विधवा-विवाह करने की न समाज में इच्छा है और न साहस। प्रेमचन्द इस कर्तव्य पालन के लिए अमृतराय को समाने लाते हैं और विधवा-समस्या का वैयक्तिक हल प्रस्तुत करते हैं कि यदि जिसकी पहली स्त्री मर गयी हो, तो वह विधवा से विवाह करे। यह हल वैयक्तिक ही नहीं, नैतिकता से भी सम्बन्ध रखता है। समाज का यदि नैतिक स्तर उठाना है तब तो यह या इसके समान अनेक समस्याएँ अपने-आप हल हो जाती हैं। प्रस्तुत विषय पर अमृतराय और प्रो. दाननाथ में जो बहस होती है; वह इस प्रकार है “यह अच्छा सिद्धान्त है कि जिसकी पहली स्त्री मर गई, वह विधवा से विवाह करे।

अमृतराय न्याय तो यही कहता है।

दाननाथ बस, तुम्हारे न्याय-पथ पर चलने ही से तो सारे संसार का उद्धार हो जायगा। तुम अकेले कुछ नहीं कर सकते। हाँ नक़्कू बन सकते हो।

अमृतराय ने दाननाथ को सगर्व नेत्रों से देखकर कहा आदमी अकेला भी बहुत कुछ कर सकता है। अकेले आदमियों ने ही आदि से विचारों की क्रांति पैदा की है। अकेले आदमियों के कृत्यों से सारा इतिहास भरा पड़ा है। कुछ नहीं कर सकता यह मैं न मानूंगा।”¹³

निःसन्देह व्यक्तिगत रूप से विधवा-विवाह विधवा-समस्या को सुलझाने में सामयिक और आंशिक सहायता कर सकता है। पर, वह भी एक दुर्लभ कार्य है, कम-से-कम प्रेमचन्द के समय में तो था ही। विधवा-विवाह के विरोधियों का अच्छा खासा दल विद्यमान था जो इसे पाप ठहराता था और धर्म की दुहाई देकर इसका बुरे शब्दों में खुला विरोध करता था। ‘प्रतिज्ञा’ में ऐसे समाज का प्रतीक प्रेमा का पति बदरीप्रसाद है। लाला बदरीप्रसाद विधवा-विवाह का विरोध करते हुए कहते हैं, “मैं समझता हूँ, इससे हमारा समाज नष्ट हो जाएगा।”¹⁴ आगे चलकर जब उन्हें मालूम पड़ता है कि अमृतराय ने विधवा-विवाह करने की प्रतिज्ञा की है तब तो वे समझते हैं, “अमृतराय ने तो आज डोंगा ही डुबो दिया।”¹⁵ बदरीप्रसाद का पुत्र कमलाप्रसाद भी अमृतराय की इस प्रतिज्ञा पर व्यंग्य करता है, “मैं तो समझता था, इसमें कुछ समझ होगी, मगर निरा पोंगा निकला...तो कोई विधवा भी ठीक हो गई कि नहीं, कहाँ है मिसराइन, कह दो, अब तुम्हारी चाँदी है, कल ही

सन्देशा भेज दे। कोई और न जाय तो मैं जाने को तैयार हूँ। बड़ा मज़ा रहेगा। कहाँ है मिसरानी, अब उनके भाग्य चमके। रहेगी बिरादरी ही की विधवा न ? कि बिरादरी की भी कैद नहीं रही ?”¹⁶ ये वे सारी रुकावटें हैं जो विधवा-समस्या के हल के सामने आती हैं। प्रेमचन्द ने उन सबका अच्छा चित्रण किया है; लेकिन हज़ार रुकावटों के होते हुए भी प्रेमचन्द समाज को आगे बढ़ाते हैं। प्रेमा और अमृतराय जैसे सत्पत्रों को गढ़ते हैं। प्रेमा अपनी माँ देवकी से कहती है, “ऐसे (अमृतराय) सुशिक्षित पुरुष अगर यह काम न करेंगे तो कौन करेगा ? जब तक ऐसे लोग साहस से काम न लेंगे, हमारी अभागिनी बहनों की रक्षा कौन करेगा ?”¹⁷ स्वयं प्रेमचन्द ने जो विधवा-विवाह (?) किया वह इस हल पर उनकी आस्था का प्रमाण है।

‘प्रतिज्ञा’ में पूर्णा हिन्दू विधवा की प्रतीक है। लाला बदरीप्रसाद उसे अपने घर में रखने को सच्चे हृदय से प्रस्ताव रखते हैं, “मैं सोच रहा हूँ, पूर्णा को अपने ही घर में रखूँ तो क्या हरज है ? अकेली औरत कैसे रहेगी ?”¹⁸ और आगे चलकर पूर्णा उनके घर में आ भी जाती है। पर स्वयं प्रेमचन्द यह अच्छी तरह बता देते हैं कि विधवा की रक्षा का यही कोई हल नहीं है। पूर्णा का आगामी जीवन जो रूप लेता है वह लाला बदरीप्रसाद की इस दया को बेकार कर देता है।

विधवा-समस्या के हल का दूसरा उपाय प्रेमचन्द ‘वनिता-आश्रम’ की स्थापना द्वारा बताते हैं। यह उपाय वैयक्तिक तो नहीं है, पर आदर्शवादी रूप अवश्य लिए हुए है। प्रेमचन्द के आलोचकों ने उनके इस आदर्शवाद की खूब खिल्ली उड़ाई है। पर वे यह भूल जाते हैं कि प्रेमचंद के समय के समाज में इससे बड़ा यथार्थवादी, व्यावहारिक कदम और क्या हो सकता था? पराधीन जाति अपनी सामाजिक समस्याओं को इसी प्रकार सुलझा सकती थी। यही उसमें चेतना उत्पन्न करने तथा क्रांतिकारी भावनाओं को भरने का माध्यम था। आज के युग में प्रेमचन्द के ये हल अव्यावहारिक अथवा साधारण भले ही लगें, पर इसमें संदेह नहीं कि उस समय का लेखक इसके आगे कुछ सोच भी न सकता था। ‘वनिता-आश्रम’ की स्थापना भी कोई सहज वस्तु न थी। ‘प्रतिज्ञा’ में प्रेमचन्द ने इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। अमृतराय एक ‘वनिता-आश्रम’ खोलने जा रहे हैं। कमलाप्रसाद उस पर टिप्पणी करता है, “कमाने का नया ढंग निकाला है।” बदरीप्रसाद ने ज़रा माथा सिकोड़कर पूछा, “कमाने का ढंग कैसा, मैं नहीं समझा ?” कमलाप्रसाद - “वही जो और लीडर करते हैं। ‘वनिता-आश्रम’ में

विधवाओं का पालन-पोषण किया जायगा। उन्हें शिक्षा भी दी जायगी। चन्दे की रकमें आयेंगी और यार लोग मौज करेंगे। कौन जानता है, कहाँ से कितने रुपये आए ! महीने भर में एक झूठा-सच्चा हिसाब छपवा दिया।”¹⁹ दकियानूसी समाज का प्रतीक लाला बदरीप्रसाद ‘वनिता-आश्रम’ जैसी संस्थाओं पर और भी घृणित विचार रखता है, “आपको (अमृतराय) कन्हैया बनने की धुन है। दस-बीस जवान विधवाओं को इधर-उधर से एकत्र करके रासलीला रचायेंगे। चारदीवारी के अन्दर कौन देखता है, क्या हो रहा है।”²⁰

प्रेमचन्द यह भली-भाँति बता देते हैं कि कौन-सा समाज इस समस्या पर अपने क्या विचार रखता है, पर वे उस समाज का समर्थन नहीं करते। समाज की प्रगतिशील शक्तियों का साथ देते हैं। अमृतराय द्वारा ‘वनिता-आश्रम’ की स्थापना करके समाज को गति देते हैं, उसे सोचने-समझने के लिए संकेत करते हैं। बौद्धिक सहानुभूति मात्र प्रकट करके नहीं रह जाते। ‘वनिता-आश्रम’ की आवश्यकता वे प्रेमा के भाषण से व्यक्त करते हैं, “यह सभा आज इसलिए की गई है कि आपसे इस नगर में ऐसा स्थान बनाने के लिए सहायता माँगी जाय, जहाँ हमारी अनाथ, आश्रयहीन बहनें, अपनी मानमर्यादा की रक्षा करते हुए शान्ति से रह सकें। कौन ऐसा मुहल्ला है, जहाँ ऐसी दस-पाँच बहनें नहीं हैं। उनके ऊपर जो बीतती है, वह क्या आप अपनी आँखों से नहीं देखते? कम-से-कम अनुमान तो कर ही सकते हैं। वे जिधर आँखें उठाती हैं, उधर ही उन्हें पिशाच खड़े दिखाई देते हैं, जो उनकी दीनावस्था को अपनी कुवासनाओं को पूरा करने का साधन बना लेते हैं। हमारी लाखों बहनें इस भाँति केवल जीवन-निर्वाह करने के लिए पतित हो जाती हैं। क्या आपको उन पर दया नहीं आती ? मैं विश्वास से कहती हूँ कि अगर उन बहनों को रूखी रोटियाँ और मोटे कपड़ों का भी सहारा हो, तो वे अन्त समय तक अपने सतीत्व की रक्षा करती रहें। स्त्री हृद दर्जे दुराचारिणी होती है। अपने सतीत्व से अधिक उसे संसार की और किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज़ को इतना मूल्यवान समझती है।”²¹

इस प्रकार विधवा-समस्या पर प्रेमचन्द जैसे जागरूक लेखक ने जो कुछ लिखा है, वह हिन्दू समाज को एक चुनौती है। उनका सुधारवादी दृष्टिकोण उस समय का बड़े-से-बड़ा क्रांतिकारी कदम था, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

संदर्भ-संकेत

1 ‘वरदान’, पृ. 115

- 2 'प्रतिज्ञा', पृ. 25
- 3 'प्रतिज्ञा', पृ. 27
- 4 'प्रतिज्ञा', पृ. 56
- 5 'प्रतिज्ञा', पृ. 54
- 6 'प्रतिज्ञा', पृ. 25
- 7 'प्रतिज्ञा', पृ. 27
- 8 'प्रतिज्ञा', पृ. 56
- 9 'प्रतिज्ञा', पृ. 54
- 10 'प्रतिज्ञा', पृ. 63-64
- 11 'प्रतिज्ञा', पृ. 99
- 12 'प्रतिज्ञा', पृ. 4
- 13 'प्रतिज्ञा', पृ. 5-6
- 14 'प्रतिज्ञा', पृ. 10
- 15 'प्रतिज्ञा', पृ. 14
- 16 'प्रतिज्ञा', पृ. 14-15
- 17 'प्रतिज्ञा', पृ. 12
- 18 'प्रतिज्ञा', पृ. 22
- 19 'प्रतिज्ञा', पृ. 43
- 20 'प्रतिज्ञा', पृ. 70
- 21 'प्रतिज्ञा', पृ. 87-88

भारतीय नारी (घ) वेश्या-समस्या

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार थे, यह तथ्य उनके प्रारम्भिक उपन्यास से लेकर अन्तिम उपन्यास तक में भली-भाँति दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचन्द इस तत्व को लेकर ही औपन्यासिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। उन्होंने अपने पूर्व का उर्दू-हिन्दी का प्रायः सभी कथा-साहित्य पढ़ डाला था। पर, न तो अपनी पूर्व-परम्परा के अनुसरण करने और न कोई सुन्दर कथा लिखने की दृष्टि से उन्होंने लेखनी उठाई थी। उनकी प्रखर सामाजिक चेतना सोद्देश्य कृतियों के निर्माण की दिशा में उन्मुख थी। 'वरदान' में यत्र-तत्र वे उसका परिचय दे चुके थे और 'प्रतिज्ञा' उपन्यास तो एक सुनिश्चित समस्याविधवा-समस्याको लेकर ही हमारे सामने आया। प्रेमचन्द इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते गये और अपने प्रसिद्ध एवं अत्यधिक लोकप्रिय उपन्यास 'सेवासदन' में वे वेश्या-समस्या को लेकर आते हैं। जिस तरह 'प्रतिज्ञा' पर विधवा-समस्या छाई हुई है, उसी प्रकार 'सेवासदन' पर वेश्या-समस्या। प्रेमचन्द अपने इस उपन्यास में वेश्यावृत्ति पर इतने विस्तार से लिख गये हैं कि आगे फिर अन्य उपन्यासों में इस विषय को पुनः स्पर्श करने की उन्हें आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। वेश्या-समस्या के प्रत्येक पहलू पर अनेक दृष्टिकोणों से 'सेवासदन' में विचार किया गया है। वेश्या बनने के मूल कारणों से लेकर इस सामाजिक कुप्रथा को दूर करने के उपायों तक का वर्णन 'सेवासदन' में मिलता है। वैसे 'सेवासदन' में यह समस्या प्रेमचन्द के दृष्टिकोण से अपने में पूर्ण है; फिर भी, 'गोदान' में एक-आध जगह इस प्रश्न पर चर्चा की गई है। 'सेवासदन' में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। वहाँ वे सुधारवाद के चश्मे से सामाजिक विकृतियों का मूल्यांकन करते हैं, पर आगे चलकर उनके विचार पर्याप्त क्रांतिकारी

हो जाते हैं और वे समाज का मूल ढाँचा ही बदलने का आह्वान करते हैं। इस दृष्टि से 'सेवासदन' में व्यक्त विचारों के अतिरिक्त 'गोदान' में उक्त समस्या पर पाये जाने वाले विचार भी अपना महत्व रखते हैं। वरन् यों कहा जाय कि प्रेमचन्द वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं की एक प्रकार से स्वयं आलोचना करते हैं। लेकिन इस आलोचना अथवा इन क्रांतिकारी विचारों से उनके पूर्व दृष्टिकोण का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। यदि आगामी कृतियों में प्रेमचन्द उतने ही विस्तार और यथार्थवादी ढंग से उक्त समस्या को चित्रित करते तब निश्चय ही उनकी पूर्व मान्यताएँ महत्वहीन हो जातीं; पर, प्रेमचन्द के आगामी उपन्यासों में यह बात नहीं पाई जाती। अतः सर्वप्रथम 'सेवासदन' में व्यक्त वेश्या-समस्या पर उनके दृष्टिकोण की व्याख्या आवश्यक है। आज भी अनेक सुधारवादी संस्थाएँ उनकी व्यावहारिकता में विश्वास रखती हैं। यद्यपि 'सेवासदन' उक्त समस्या पर प्रेमचन्द के विचारों की सीमा नहीं है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'सेवासदन' में वेश्या-समस्या को इसलिए नहीं उठाया कि उससे उपन्यास सरस हो जायेगा और उसकी बिक्री अधिक होगी। यौन-पीड़ित पाठकों को 'सेवासदन' पढ़ने के बाद बड़ी निराशा होगी। प्रेमचन्द वेश्या-समस्या की जड़ में निहित नारी-मनोविज्ञान की बारीकियों में भी नहीं उलझे हैं। उनका दृष्टिकोण विशुद्ध सामाजिक है। वे बताते हैं कि आर्थिक-सामाजिक कारण मिलकर मनुष्य के मन को बनाते हैं। अतः उन्होंने किसी व्यक्ति विशेष को न लेकर विशिष्ट वर्ग को ही अपने सामने रखा है। प्रेमचन्द के पात्रों का निजी व्यक्तित्व नितान्त स्वतन्त्र नहीं होता। वे किसी वर्ग की समस्त दुर्बलताओं-सबलताओं को लेकर हमारे सामने आते हैं। 'सेवासदन' की 'सुमन' एक ऐसा ही पात्र है। प्रेमचन्द ने कहीं भी वेश्या-जीवन के घिनौने रूप के चित्रण में रुचि लेना तो दूर, उसका वर्णन तक नहीं किया है। उनका आदर्शवादी हृदय इन बातों को जान-बूझकर छोड़ देता है। यदि वेश्या-जीवन के इस पहलू पर पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख गये होते तो निश्चय ही 'सेवासदन' एक हल्का उपन्यास प्रमाणित होता। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास आदर्श उपन्यास हैं। हो सकता है कि उनका आदर्शवाद कहीं-कहीं अस्वाभाविकता की सीमा को छूने लगा हो; जैसे 'सेवासदन' में सुमन का कथन, "यद्यपि इस काजल की कोठरी में आकर पवित्र रहना कठिन है, पर मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि अपने सतीत्व की रक्षा करूंगी। गाऊंगी, नाचूंगी, पर अपने को भ्रष्ट न होने दूंगी।"¹ और प्रेमचन्द ने 'सुमन' को निश्चय

ही भ्रष्ट होने से बचा लिया है। औपन्यासिक कथा के आधार पर 'सुमन' के चरित्र पर कोई भी कलंक नहीं लगाया जा सकता। यह अस्वाभाविक होते हुए भी समस्यामूलक उपन्यासकार के लिये क्षम्य है; क्योंकि समस्यामूलक उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य समस्या के मूल कारणों और उसको सुलझाने के प्रयत्नों की ओर रहता है। यदि उसकी कृति उस समस्या को निबटाने के स्थान पर; उसे समाज में और फैलने का अवकाश दे, प्रोत्साहित करे, तो वह समस्यामूलक उपन्यासकार के पद का अधिकारी नहीं। 'सेवासदन' वेश्या-समस्या के मूल कारणों पर ही विस्तार से प्रकाश नहीं डालता वरन् उस समस्या के हल के भी अनेक व्यावहारिक सुझाव उपस्थित करता है, जो एक सीमा तक समाजोपयोगी कहे जा सकते हैं, यद्यपि उनसे प्रस्तुत समस्या का अन्तिम निदान सम्भव नहीं। स्वयं प्रेमचन्द ने इस मत को 'गोदान' में प्रकट किया है।

स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति क्यों अपनाती हैं ? प्रेमचन्द ने इस विषय पर निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख किया है

वकील पद्मसिंह शर्मा, सुमन के वेश्यावृत्ति अंगीकार करने पर, अपने मन में सोचते हैं :

“यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया न होता इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकलकर उसे और कोई ठिकाना न रहा और क्रोध और कुछ नैराश्य की अवस्था में वह यह भीषण अभिनय करने पर बाध्य हुई।”²

बैंक घर के बाबू और समाज-सुधारक विट्ठलदास से स्वयं सुमन वेश्यावृत्ति अपनाने के मूल कारण पर चर्चा करती है, “आप सोचते होंगे कि भोग-विलास की लालसा से कुमार्ग में आई हूँ, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।...मैं जानती हूँ कि मैंने अत्यन्त निकृष्ट कर्म किया है, लेकिन मैं विवश थी। इसके सिवाय मेरे लिए और कोई रास्ता न था।...इतना तो आप जानते ही हैं कि संसार में सबकी प्रकृति एक-सी नहीं होती। कोई अपना अपमान सह सकता है ? मैं एक ऊँचे कुल की लड़की हूँ, पिता की नादानी से मेरा विवाह एक दरिद्र मूर्ख मनुष्य से हुआ, लेकिन दरिद्र होने पर भी मुझसे अपना अपमान न सहा जाता था। जिसका निरादर होना चाहिए उसका आदर होते देखकर मेरे हृदय में कुवासनाएँ उठने लगती थीं।... सम्भव था कि कालान्तर में यह अग्नि आप ही शान्त हो जाती, पर पद्मसिंह के जलसे ने इस अग्नि को भड़का दिया। पद्मसिंह के घर से निकलकर मैं मोती बाई की शरण में गई। मगर उस दशा में भी मैं इस कुमार्ग से भागती रही। मैंने

चाहा कि कपड़े सीकर अपना निर्वाह करूँ, पर दुष्टों ने मुझे ऐसा तंग किया कि अन्त में मुझे कुएँ में कूदना पड़ा।...सुख न सही, पर यहाँ मेरा आदर तो है। मैं किसी की गुलाम तो नहीं हूँ।”³

यही बात आगे चलकर वह पद्मसिंह शर्मा से भी कहती है: “आप चाहे समझते हों कि आदर और सम्मान की भूख बड़े आदमियों ही को होती है, किन्तु दीन दशा वाले प्राणियों को इसकी भूख अधिक होती है, क्योंकि उनके पास इसके प्राप्त करने का कोई साधन नहीं होता। वे इसके लिए चोरी, छल-कपट सब कुछ कर बैठते हैं। आदर में वह संतोष है जो धन और भोग-विलास में भी नहीं है। मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला, लेकिन आपके होली वाले जलसे ने दिन जो उत्तर मिला, उसने भ्रम दूर कर दिया, मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा दिया। यदि मैं उस जलसे में न जाती तो आज मैं अपने झोंपड़े में सन्तुष्ट होती। आपको मैं बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी, इसलिए आपकी रसिकता का मुझ पर भी प्रभाव पड़ा। मोती बाई आपके सामने गर्व से बैठी हुई थी, आप उसके समाने आदर और भक्ति की मूर्ति बने हुए थे। आपके मित्र-वृन्द उसके इशारों पर कठपुतली की भाँति नाचते थे। एक सरलहृदया आदर की अभिलाषिणी स्त्री पर इस दृश्य का जो फल हो सकता था वही मुझ पर हुआ।”⁴

अपनी बहन शांता के विवाह से सम्बद्ध दुर्घटना पर सुमन अपने को दोषी ठहराती हुई पुनः अपनी इस अवस्था में मूल कारण पर प्रकाश डालती है

‘अगर विलास की इच्छा और निर्दय अपमान ने उसकी लज्जा-शक्ति को शिथिल न कर दिया होता तो वह कदापि घर से बाहर पाँव न निकालती। वह अपने पति के हाथों कड़ी-से-कड़ी यातना सहती और घर में पड़ी रहती। घर से निकलते समय उसे यह खयाल भी न था कि मुझे कभी दालमंडी में बैठना पड़ेगा। वह बिना कुछ सोचे-समझे घर से निकल खड़ी हुई। उस शोक और नैराश्य की अवस्था में वह भूल गई कि मेरे पिता हैं, बहन है।”⁵

इस प्रकार प्रेमचन्द ने वेश्यावृत्ति के दो कारण प्रधान रूप से बताये हैं। एक तो नारी के स्वाभिमान का कुचला जाना, जिसकी जड़ में वैवाहिक असंगतियाँ व दूषित दाम्पत्य है; और दूसरा विलासी-जीवन के प्रति आकर्षण, जिसकी नींव में मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता निहित है। ऊपरी तौर पर देखने से यह मालूम पड़ता है कि प्रेमचन्द ने वेश्यावृत्ति के आर्थिक पहलू को स्पर्श नहीं किया। कुछ

विचारकों के मत से वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक है। सही है; पर प्रेमचन्द के उपर्युक्त स्वाभिमान-रक्षा वाले कारण और आर्थिक आधार में कोई मौलिक भेद नहीं है। बिना अपने पैरों पर खड़े हुए नारी स्वाभिमान से जीवित रहीं रह सकती। आदर और स्वाभिमान के पीछे आर्थिक आधार अवश्यंभावी है। जो स्त्रियाँ समाज में अपनी आर्थिक समस्या हल नहीं कर सकतीं, उन्हें अन्त में यही मार्ग अपनाना पड़ जाता है; क्योंकि दूसरी स्थिति में उन्हें अपमानित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त समाज के पिछड़े होने के कारण आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र स्त्री भी जीवन को निश्चिन्त व अपने को सुदृढ़ नहीं बना सकती। इसे हम प्रेमचन्द-युग की सीमा भी कह सकते हैं ; क्योंकि आज समाज की ऐसी स्थिति नहीं है। आज नारी स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका के अनेक साधन खोज सकती है और स्वतन्त्र रूप से पूर्ण स्वाभिमान के साथ जीवनयापन कर सकती है। 'सेवासदन' में सुमन वेश्यावृत्ति अपनाने के पूर्व ऐसा ही करती है, पर समाज उसे इस प्रकार जीवन व्यतीत करते नहीं देख पाता। अतः वेश्यावृत्ति का आर्थिक कारण प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल नहीं रहा है।

इस स्थल पर वेश्यावृत्ति के उन सभी कारणों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है जो समय-समय पर अनेक विचारकों ने उपस्थित किये हैं। प्रेमचन्द के विभिन्न उपन्यासों में आई अन्य समस्याओं की तरह इस सन्दर्भ में भी हमें केवल यह देखना है कि वेश्या-समस्या के प्रति उनके क्या विचार थे तथा उन्होंने उसके हल की दिशा में कौन-कौन से सुझाव अपने उपन्यासों में हमें दिये हैं।

व्यक्तिगत रूप से वेश्याओं के प्रति प्रेमचन्द बड़े उदार हैं। उन्होंने कभी भी इस वर्ग की निन्दा नहीं की है; कहीं भी उनके प्रति घृणा के भाव व्यक्त नहीं किये हैं। समाज के उपेक्षित, बहिष्कृत और शोषित वर्ग के प्रति प्रेमचन्द के हृदय में अपार सहानुभूति है। वे किसी व्यक्ति विशेष के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न नहीं करते; वरन् दूषित प्रथा के विरुद्ध सशक्त ढंग से लिखते हैं। पाठक उस प्रथा विशेष से घृणा करने लगे, न कि किसी पात्र विशेष से। वेश्यावृत्ति के विरुद्ध प्रेमचन्द ने बड़ी कठोरता से लिखा है, लेकिन वेश्याओं को बुरा-भला नहीं कहा है। यही नहीं; उन्होंने औरों को भी स्पष्ट कहा है कि वे वेश्याओं को दोषी ठहराने के अधिकारी नहीं; क्योंकि वेश्यावृत्ति समाज के पापों का ही फल है। पद्मसिंह शर्मा उक्त विषय पर भाषण करते हुए कहते हैं, "हमने वेश्याओं को शहर के बाहर रखने का प्रस्ताव इसलिए नहीं किया है कि हमें उनसे घृणा है। हमें उनसे घृणा करने का

कोई अधिकार नहीं। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें! उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लायें, उनके जीवन को सुधारें और यह तभी हो सकता है, जब वे शहर से बाहर दुर्व्यसनों से दूर रहें। हमारे सामाजिक दुराचार अग्नि के समान हैं और ये अभागिन रमणियाँ तृण के समान। अगर अग्नि को शांत करना चाहते हो तो तृण को उससे दूर कर दीजिये, तब अग्नि आप ही शान्त हो जायगी।”⁶

सदन वेश्याओं की स्थिति पर विचार करता है, “हाँ ये स्त्रियाँ बहुत ही सुन्दर हैं, बहुत ही कोमल हैं, पर उन्होंने अपने इन स्वर्गीय गुणों का कैसा दुरुपयोग किया है। उन्होंने अपनी आत्मा को कितना गिरा दिया है। हाँ! केवल इन रेश्मी वस्त्रों के लिए, इन जगमगाते हुए आभूषणों के लिए उन्होंने अपनी आत्माओं का विक्रय कर डाला है। वे आँखें जिनसे प्रेम की ज्योति निकलनी चाहिए थी, कपट-कटाक्ष और कुचेष्टाओं से भरी हुई हैं। ...कितनी अधोगति है।”⁷ पद्मसिंह एक और स्थल पर कहते हैं, “आप अगर एक घण्टे दालमण्डी में चले जाएँ तो आपको मालूम हो जायगा कि जिसे आप ज्वालामुखी पर्वत समझ बैठे हैं वह केवल बुझी हुई आग का ढेर है। अच्छे और बुरे आदमी सब जगह होते हैं। वेश्याएँ भी इस नियम से बाहर नहीं हैं। आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि उनमें कितनी धार्मिक श्रद्धा, पाप-जीवन से कितनी घृणा, अपने जीवनोद्धार की कितनी अभिलाषा है।...उन्हें केवल एक सहारे की आवश्यकता है, जिसे पकड़कर वह बाहर निकल आवें।”⁸ और आगे चलकर प्रेमचन्द सुमन को विदुषी बनाकर दिखाते हैं, सुभद्रा सोचती है, “सुमन इतने नीचे गिरकर कैसी ऐसी विदुषी हो गई कि पत्रों में उसकी प्रशंसा छपती है।”⁹ इस प्रकार प्रेमचन्द वेश्याओं के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं करते वरन् उन्हें सुधार की दिशा में ले जाकर समाज में, वेश्या बनने से पूर्व से कहीं अधिक, प्रतिष्ठित रूप में दिखाते हैं। वे समाज से वेश्यावृत्ति को समाप्त कर देना चाहते हैं; जिस समाज में वेश्यावृत्ति को स्थान दिया जाता है वह सभ्य नहीं कहा जा सकता। वेश्यावृत्ति को मिटाने की प्रक्रिया में वेश्याओं को कष्ट पहुँच सकता है, पर उसके पीछे पुनीत उद्देश्य छिपा हुआ है। पद्मसिंह वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के निमित्त प्रस्तुत प्रस्ताव पर कहते हैं, “इस प्रस्ताव से हमारा

उद्देश्य वेश्याओं को कष्ट देना नहीं वरन् उन्हें सुमार्ग पर लाना है।”¹⁰

वेश्या-समस्या के हल और वेश्यावृत्ति समाप्त करने के उद्देश्य से ‘सेवासदन’ में प्रेमचन्द ने पर्याप्त सशक्त तर्कों के साथ अनेक उपाय सुझाये हैं। पन्द्रहवें परिच्छेद में वेश्याओं की बस्ती को नगर से बाहर बसाने पर जोर देते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, “जीवन में भिन्न-भिन्न वासनाओं का प्राबल्य रहता है। बचपन मिठाइयों का समय है, बुढ़ापा लोभ का, यौवन प्रेम और लालसाओं का समय है। इस अवस्था में मीना बाजार की सैर मन में विप्लव मचा देती है। जो सुदृढ़ हैं, लज्जाशील या भावशून्य हैं वह सँभल जाते हैं। शेष फिसलते हैं और गिर पड़ते हैं।

शराब की दुकानों को हम बस्ती से दूर रखने का प्रयत्न करने हैं, जुएखाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दुकानों को हम सुसज्जित कोठों पर चौक बाजार में ठाठ से सजाते हैं। यह पापोत्तेजना नहीं तो और क्या है ?

...इसलिए आवश्यकता है कि इन विषभरी नागिनों को आबादी से दूर, किसी पृथक् स्थान में रखा जाय। तब उन निन्द्य स्थानों की ओर सैर करने जाते हुए हमें संकोच होगा। यदि यह आबादी से दूर हों और वहाँ घूमने के लिए किसी बहाने की गुंजाइश न हो तो ऐसे बहुत कम बेहया आदमी होंगे जो इस मीना बाज़ार में क़दम रखने का साहस करें।”¹¹ तीसरे परिच्छेद में यही बात विट्ठलदास कहता है। प्रेमचन्द विट्ठलदास के मुख से भी अपना उद्देश्य स्पष्ट घोषित करते हैं, “मेरा पहला उद्देश्य है, वेश्याओं को सार्वजनिक स्थानों से हटाना और दूसरा, वेश्याओं की नाचने-गाने की रस्म को मिटाना।”¹² यहाँ वेश्याओं की बस्ती को नगर से हटाने के अतिरिक्त प्रेमचन्द वेश्याओं के नाच-गाने की रस्म को भी मिटाना चाहते हैं, जिससे वेश्या-समस्या के सुधार व हल में सहायता मिल सके। मात्र सूत्र-रूप में न लिखकर प्रेमचन्द अपने विचारों की व्याख्या भी करते हैं। पद्मसिंह शर्मा नाच-गाने की प्रथा को मिटाने के सम्बन्ध में अपनी शंका व्यक्त करते हैं, “लेकिन यहाँ मुझे एक शंका होती है। आखिर हम लोगों ने भी तो शहरों ही में इतना जीवन व्यतीत किया है, हम लोग इन दुर्वासनाओं में क्यों नहीं पड़े ? नाच भी शहर में आये दिन हुआ ही करते हैं, लेकिन उनका ऐसा भीषण परिणाम होते बहुत कम देखा गया। इससे यही सिद्ध होता है कि इस विषय में मनुष्य का स्वभाव ही प्रधान है। आप इस आन्दोलन से स्वभाव तो नहीं बदल सकते।”¹³ प्रेमचन्द ने यहाँ अपनी स्वयं आलोचना करके यह बताया है कि उपर्युक्त सुझाव प्रस्तुत समस्या का आंशिक हल है ; लेकिन ऐसा करने से कुछ तो हाथ लगेगा

ही, अतः वे पूर्ण हल के अभाव में आंशिक हल की उपेक्षा स्वीकार नहीं करते। विठ्ठलदास कहते हैं, “हम तो केवल उन दिशाओं का संशोधन करना चाहते हैं जो दुर्बल स्वभाव के अनुकूल हैं।”¹⁴

‘सेवासदन’ का अट्टाईसवाँ परिच्छेद तो पूरा प्रस्तुत समस्या से सम्बन्धित वाद-विवाद से भरा हुआ है। प्रेमचन्द ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि वास्तव में वे लोग कौन हैं जो वेश्याओं को नगर में बनाए रखना चाहते हैं। जब-जब समाज-सुधार का कोई आन्दोलन सामने आता है तब-तब वे ही लोग, हर सम्भव उपायों से, उसका विरोध करते हैं। यहाँ तक कि उसे साम्प्रदायिक रूप देने में संकोच नहीं करते। प्रेमचन्द लिखते हैं, “शहर की म्युनिसिपैलिटी में 18 सभासद् थे। उसमें 8 मुसलमान थे और 10 हिन्दू। सुशिक्षित मेम्बरों की संख्या अधिक थी, इसलिए शर्मा जी को विश्वास था कि म्युनिसिपैलिटी में वेश्याओं को नगर से बाहर निकाल देने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। सब सभासदों से मिल चुके थे और इस विषय में उनकी ओर से घोर विरोध होने का भय था। वे लोग बड़े व्यापारी, धनवान और प्रभावशाली मनुष्य थे।” तेल के कारखाने का मालिक मुंशी अबुल वफ़ा मुसलमानों के प्रतिनिधि हाजी हाशिम का समर्थन करता हुआ कहता भी है, “यह हमारी तादाद को घटाने की सरीह कोशिश है। तवायफें 90 फीसदी मुसलमान हैं ; जो रोज़े रखती हैं, इजाजदारी करती हैं, मौलूद और उर्स करती हैं। हमको उनकी जाती फैलों से कोई बहस नहीं है। नेक व बद की सज़ा व जजा देना खुदा का काम है। हमको तो सिर्फ़ उन की तादाद से गरज़ है।”¹⁵ लेकिन समाज का एक वर्ग ऐसा भी है जो इन समाज-विरोधी तत्त्वों का स्पष्ट विरोध करता है। पेंशनर डिप्टी कलेक्टर सैयद शफकत अली कहते हैं, “अगर इन तवायफों की दीनदारी के तुफैल में सारे इस्लाम को खुदा जन्नत अता करे तो मैं दोजख में जाना पसन्द करूंगा। अगर उनकी तादाद की बिना पर हमको इस मुल्क की बादशाही भी मिलती हो तो मैं कबूल न करूँ। मेरी राय तो यह है कि इन्हें मरकजी शहरों से नहीं, दुदूद शहर से खारिज कर देना चाहिए।”¹⁶ हकीम शोहरत खाँ कहते हैं, “जनाब, मेरा बस चले तो मैं इन्हें हिन्दुस्तान से निकाल दूँ, इनसे एक जजीरा अलग आबाद करूँ। मुझे इस बाज़ार के खरीदारों से अक्सर साबिका रहता है। अगर मेरे मजहबी अकायद में फ़र्क न आये तो मैं यह कहूँगा कि तवायफें हैज़े और ताउन का अवतार हैं। हैज़ा दो घण्टे में काम कर देता है, प्लेग दो दिन में, लेकिन यह जहन्नुमी हस्तियाँ रुला-रुलाकर और घुला-घुलाकर मारती हैं। मुंशी अबुल वफ़ा साहब उन्हें जन्नती

हूर समझते हों, लेकिन ये वे काली नागिन हैं जिनकी आँखों में ज़हर है। ये वे चश्में हैं जहाँ से जरायम के सोते निकलते हैं। कितनी ही नेक बीवियाँ उनकी बदौलत खून के आँसू रो रही हैं। कितने ही शरीफ़ज़ादे इनकी बदौलत खस्ता व ख्वार हो रहे हैं। यह हमारी बदकिस्मती है कि बेशतर तवायफें अपने को मुसलमान कहती हैं।”¹⁷ वकील शरीफ़ हसन के मत से, “इसमें तो कोई बुराई नहीं कि वह अपने को मुसलमान कहती हैं, बुराई यह है कि इस्लाम भी उन्हें राहे-रास्ते पर लाने की कोई कोशिश नहीं करता। हिन्दुओं की देखा-देखी इस्लाम ने भी उन्हें अपने दायरे से खारिज कर दिया है। जो औरत एक बार किसी वजह से गुमराह हो गई, उसकी तरफ़ से इस्लाम हमेशा के लिए आँखें बन्द कर लेता है।”¹⁸ और आगे चलकर प्रेमचन्द समस्या का 75 फीसदी हल प्रस्तुत करते हैं। शरीफ़ हसन कहते हैं, “और अगर उन लड़कियों की नाजायज तौर पर शादी हो सके तो, और इसके साथ ही उनकी परवरिश की सूरत भी निकल आये तो मेरे ख्याल में ज़्यादा नहीं तो 75 फीसदी तवायफें इसे खुशी से कबूल कर लें।”¹⁹ और इसी को लेकर म्युनिसिपल बोर्ड में पद्मसिंह अपना प्रस्ताव उपस्थित करते हैं जो तीन भागों में विभक्त है

“(1) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थान से हटाकर बस्ती से दूर रखा जाय,
 (2) उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थानों और पार्कों में जाने का निषेध किया जाय,

(3) वेश्याओं का नाच कराने के लिए एक भारी टैक्स लगाया जाय और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।”²⁰

इन प्रस्ताव में वेश्याओं के आर्थिक पक्ष पर कोई विचार नहीं किया गया है और इस प्रकार यह प्रस्ताव, 75 फीसदी से भी कम, प्रस्तुत समस्या के हल की दिशा में कारगर सिद्ध हो सकेगा। प्रेमचन्द ने आर्थिक पहलू पर दृष्टि तो रखी है पर उसका कोई व्यावहारिक रूप सामने नहीं ला सके हैं। जीवन-निर्वाह की दृष्टि से प्रेमचन्द वेश्या-समस्या का वैयक्तिक हल प्रस्तुत करते हैं जो महत्त्वहीन है। सुमन कहती है, “मैं सुख और आदर दोनों का ही छोड़ती हूँ, पर जीवन-निर्वाह का तो कुछ उपाय करना पड़ेगा ? ...कोई ऐसा हिन्दू जाति का प्रेमी है जो मेरे गुज़ारे के लिए 50) रुपये मासिक देने पर राज़ी हो ?”²¹ और आगे चलकर प्रेमचन्द इस आर्थिक सहायता की व्यवस्था करवा देते हैं। विठ्ठलदास सुमन से कहते हैं, “मुझसे तो कुछ नहीं हो सका लेकिन पद्मसिंह ने लाज रख ली। उन्होंने तुम्हारा प्रण पूरा

मासिक आजन्म देते रहेंगे।”²²

समाज में ऐसे पद्मसिंह कितने मिल सकते हैं ? स्पष्ट है, वेश्या-जीवन की आर्थिक समस्या के हल की दिशा में यह प्रस्ताव कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं सुझाता। इस प्रकार ‘सेवासदन’ 75 फ़ीसदी से भी काफी कम प्रस्तुत समस्या के हल को हमारे सामने लाता है। वास्तव में, आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र जीवन यापन की व्यवस्था प्रेमचन्द अपने समय के समाज में नहीं देख सके। यह एक ऐतिहासिक सीमा है, इससे प्रेमचन्द को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह तो उनकी यथार्थता को बल ही पहुँचाता है।

‘सेवासदन’ के बाद ‘गोदान’ में यह 75 फ़ीसदी से कम का हल समाप्त हो जाता है और प्रेमचन्द समाज का ढाँचा समूल बदलने की घोषण करते हैं। बत्तीसवें परिच्छेद में मिर्ज़ा साहब और मेहता साहब की बातचीत ध्यान देने योग्य है। मिर्ज़ा साहब की धारणा थी, “रूप के बाज़ार में वही स्त्रियाँ आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर में किसी कारण से सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता, या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती है, और अगर यह दोनों प्रश्न हल कर दिये जाएँ, तो बहुत कम औरतें इस भाँति पतित हों।”²³

मेहता का मत था, “मुख्यतः मन के संस्कार और भोग-लालसा ही औरतों को इस ओर खींचती है।” इसी बात पर दोनों बहस करते हैं, जिसका अन्त इन शब्दों से होता है

“जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं।”²⁵ कहाँ ‘गोदान’ का विषय और कहाँ वेश्या-समस्या। प्रेमचन्द को जहाँ भी अवसर मिला है उन्होंने विभिन्न समस्याओं पर अपने विचार स्वतन्त्रता से व्यक्त किए हैं। ऐसे अवसरों पर वे औपन्यासिक रचना-तन्त्र के शास्त्रीय नियमों के पालन की चिन्ता नहीं करते। ये सभी बातें उनको समस्यामूलक उपन्यासकार सिद्ध करती हैं।

संदर्भ-संकेत

- 1 ‘वरदान’, पृ. 92
- 2 ‘सेवासदन’, पृ. 87
- 3 ‘सेवासदन’, पृ. 91-92
- 4 ‘सेवासदन’, पृ. 117
- 5 ‘सेवासदन’, पृ. 255
- 6 ‘सेवासदन’, पृ. 215-216

- 7 'सेवासदन', पृ. 219-220
- 8 'सेवासदन', पृ. 311
- 9 'सेवासदन', पृ. 351
- 10 'सेवासदन', पृ. 269
- 11 'सेवासदन', पृ. 81 से 83
- 12 'सेवासदन', पृ. 127
- 13 'सेवासदन', पृ. 127
- 14 'सेवासदन', पृ. 128
- 15 'सेवासदन', पृ. 170-171
- 16 'सेवासदन', पृ. 172
- 17 'सेवासदन', पृ. 173
- 18 'सेवासदन', पृ. 173
- 19 'सेवासदन', पृ. 173
- 20 'सेवासदन', पृ. 174
- 21 'सेवासदन', पृ. 267-268
- 22 'सेवासदन', पृ. 93
- 23 'गोदान', पृ. 444-445

कहानीकार प्रेमचंद

प्रस्तुत कार्य-योजनान्तर्गत प्रेमचंद-विरचित उपलब्ध दो-सौ तिरासी कहानियों को सम्मिलित किया गया है। कहानी-कला की दृष्टि से इन कहानियों पर पर्याप्त शोध-कार्य हो चुका है। आलोचना-साहित्य भी प्रभूत है। शैली-विज्ञान के आधार पर भी, प्रेमचंद की कहानियों पर, इधर स्तरीय कार्य हुआ है। किन्तु प्रेमचंद-विरचित कहानियों के पात्रों के समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर शोध-छात्रों का ध्यान नहीं गया है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रेमचंद-विरचित कहानियों के पात्रों के सामाजिक-स्तर एवं उनकी मानसिकता पर विस्तार से विमर्श किया गया है। पात्रों की मानसिकता का विश्लेषण अन्ततोगत्वा रचनाकार की विचारणा भी उद्घाटित करता है। प्रस्तुत अध्ययन साहित्य की कोश-शैली पर आधारित है। अतः वर्ण-क्रम से प्रेमचंद-विरचित कहानियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है; जिसके अन्तर्गत उन कहानियों के समस्त पात्रों का विज्ञान-सम्मत निश्चित बिन्दुओं की भूमि पर व्यक्तित्व-विश्लेषण है। प्रेमचंद-विरचित कहानियों के पात्रों के सामाजिक-स्तर के आकलन के साथ-साथ उनकी मानसिकता को भी तर्क-संगत पद्धति पर उद्घाटित किया गया है। आज भी प्रेमचंद-साहित्य की प्रासंगिकता निर्विवाद है। प्रस्तुत अध्ययन से प्रेमचंद-युगीन उत्तर भारत के विराट फलक पर चित्रित मानव समुदाय के जो समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष उजागर हुए हैं, वे तत्संबंधी आगामी शोध को नयी दिशा दे सकेंगे तथा भावी अनुसंधानियों को वैचारिक उत्तेजना प्रदान कर सकेंगे ऐसा विश्वास है।

५

(1) अंधेर

ग्राम-कथा । गंगा-किनारे के साठे और पाठे नामक दो गाँव । ग्रामवासियों में प्रमुख किसान 'मज़बूत हाथोंवाले, मज़बूत जिगरवाले, मज़बूत इरादेवाले ।' अन्य धोबी, तम्बोली, बारी, कुम्हार, मालिन, कहार, बड़ई, नाइन, अहीर, क़साई, मोदी, तेली, कलवार, मेहतर, पंडित (मोटेराम) आदि ।

कहानी के प्रमुख पात्र हैं साठे गाँव का किसान गोपाल, उसकी पत्नी गौरा, दारोगा गौस ख़ाँ और गाँव का मुखिया ।

प्रस्तुत कहानी की मूल संवेदना उसके शीर्षक 'अंधेर' से सम्बद्ध है । यह अंधेर रिश्वतखोर दारोगा और धूर्त मुखिया का है । अंधेर का कुछ संबंध धार्मिक अंधविश्वासों से भी है । धर्म के प्रति ग्रामीणों की, विशेष रूप से ग्राम-स्त्रियों की मानसिकता इस कहानी में उजागर हुई है । प्रमुख है ग्रामीणों का आर्थिक शोषण पुलिस द्वारा । पूजा-कथा का अनौचित्य भी इसमें अवश्य दर्शाया गया है, किन्तु उस पर कोई सीधा प्रहार नहीं है ।

साठे और पाठे नामक गाँवों के रहनेवालों में प्रतिद्वन्द्विता और परस्पर ईर्ष्या के भाव हैं । नागपंचमी के दिन कुश्ती का आयोजन । परस्पर होड़ के प्रदर्शन का ऐतिहासिक अवसर । पाठे के बलदेव पर, साठे के गोपाल की विजय । पाठे वालों ने अँधेरे की आड़ में हार का बदला लिया । छिपकर गोपाल पर लाठी से वार किया । दारोगा की परेशानी-**'मौजे में ऐसी संगीन वारदात हुई और इस कमबख्त गोपाल ने रपट तक नहीं की ।'** अंत में, मुखिया की पहल से रिश्वत पाकर संतुष्ट हो जाता है । पति की जान बचने पर धर्मप्रवण गोपाल-पत्नी गौरा देवी-पूजा करती है, सत्यनारायण-कथा का आयोजन करती है । शोषक-वर्ग द्वारा ग्रामीणों की धार्मिक भावनाओं का दुरुपयोग ।

प्रस्तुत रचना आर्थिक, धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करती है । ग्रामीणों की मानसिकता को उजागर करती हुई, उनके अज्ञान को नष्ट करने में सहायक सिद्ध होती है । रिश्वतखोर पाजी दारोगा गौस ख़ाँ का व्यंग्य-चित्र अंकित करने में प्रेमचंद अद्वितीय हैं **'दारोगा जी निहायत कारगुज़ार अफ़सर थे गालियों में बात करते थे । सुबह चारपाई से उठते ही गालियों का वजीफा पढ़ते थे ।' 'दारोगा तक्वे व तहारत के बड़े पाबन्द थे । पाँचों वक्क़ की नमाज़ पढ़ते और तीसों रोज़े रखते, ईदों में धूमधाम से कुबानियाँ होतीं ।**

इससे अच्छा आचरण किसी आदमी में और क्या हो सकता है !' रिश्वत के पचीस रुपये की पोटली देखते ही 'दारोगा जी ने खुदा का शुक्र किया। दुआ सुनी गई'। दारोगा में मजहब का भ्रष्ट स्वरूप बताकर सामाजिक अंसगति को निरावरण करने में प्रेमचंद नही चूकते।

गोपाल जाति का अहीर है। खेती करता है। अक्खड़ है। पढ़ा-लिखा नहीं। गाने-बजाने का प्रेमी है। निडर है, लेकिन 'लाल पगड़ी' से भय खाता है, क्योंकि 'सिपाही की वह डरावनी तस्वीर जो बचपन में उसके दिल पर खींची गई थी, पत्थर की लकीर बन गई थी।' पर, इस बार वह बदला हुआ है। थानेदार की ज्यादती का विरोध करता है। रिश्वत में एक कौड़ी भी देने को तैयार नहीं। यद्यपि उसका यह विरोध-भाव मुखिया के समक्ष प्रकट हुआ है, दारोगा के सामने नहीं। धार्मिक अंधविश्वासों की भी वह धज्जियाँ उड़ाता है। 'मुखिया, नम्बरदार और पाटवारी ने मारे हमदर्दी के उससे कहा सत्यनारायण की महिमा थी कि तुम पर कोई आँच न आई।' तो उसका उत्तर था 'सत्यनारायण की महिमा नहीं, यह अंधेर है।'

गोपाल-पत्नी गौरा में, गाँव की पिछड़ी हुई नारी की मानसिकता है। पुलिस के अत्याचारों का यथार्थ उससे छिपा नहीं है। अतः वह भयभीता है। पति की जान बचाने के उद्देश्य से, बचाकर रखे गये अपने पचास रुपये मुखिया द्वारा थानेदार को रिश्वत देने के लिए सौंप देती है। गाँव की औरतें अत्यधिक अंधविश्वासी और धर्मभीरु होती हैं। गौरा भी कोई कम नहीं 'पितरों ने, दीवान हरदौल ने, नीम तले वाली देवी ने, तालाब के किनारे वाली सती ने गोपाल की रक्षा की।' देवीपूजा और सत्यनारायण-कथा का आयोजन करती है। धर्मध्वजी पंडित मोटेराम जी लाभान्वित होते हैं। गौरा में लोक-संस्कृति और परम्परागत रीतियों की झलक भी देखी जा सकती है।

गाँव का मुखिया, ग्रामीण व्यवस्थान्तर्गत एक पद / वर्ग का प्रतीक है। गौरा द्वारा प्रदत्त, दारोगा को रिश्वत में दिये जाने वाले पचास रुपयों में से पच्चीस रुपये वह दबा लेता है और इस प्रकार लूट का एक हिस्सेदार बनता है। कानिस्टिबिल, चौकीदार, नम्बरदार, पटवारी आदि अफसरशाही के त्रासक रूप का उद्घाटित करने के लिए हैं। भ्रष्ट दारोगा को रसद पहुँचाने वाले अहीर, क़साई, मोदी, तेली, कलवार, मेहतर, आदि इन्हीं कर्मचारियों के द्वारा क्षतिग्रस्त होते हैं। अफसर और गाँव का रिश्ता ही कुछ ऐसा है कि अफसरों के लिए सुख-सुविधाओं

की सामग्रियाँ जुटाने में गाँव के लोगों से बेगार ली जाती है। ऐश का सारा सामान मुफ्त बटोरा जाता है। इस प्रकार 'अंधेर' देहात की जिन्दगी से सम्बद्ध एक प्रभावशाली कहानी है।

(2) अग्नि-समाधि

'अग्नि-समाधि' शीर्षक कहानी निम्न-वर्ग से सम्बद्ध है। इसका परिवेश ग्राम है। 'अग्नि-समाधि' एक निर्धन, किन्तु आलसी और नशेबाज़ ग्रामीण (पयाग) की कहानी है। वस्तुतः इस कहानी की पृष्ठभूमि पारिवारिक है, यद्यपि उसका आधार आर्थिक है। पयाग समाज के उस तबके का है, जहाँ बहु-पत्नियाँ रखना सामान्य बात है। वह जाति का भर (एक अछूत हिन्दू जाति) है। निर्धन, आलसी और नशेबाज़ पति दो पत्नियाँ रखकर किस प्रकार जीवन-यापन करता है, यह 'अग्नि-समाधि' की कथा का मूलाधार है। एक घर में दो पत्नियों में मालकिन बने रहने की परस्पर जो स्पर्धा होती है एवं पति पर आधिपत्य जमाए रखने की उनमें परस्पर जो उत्कट भावना सक्रिय रहती है, उसे 'अग्नि-समाधि' में चित्रित किया गया है। पयाग और उसकी प्रथम पत्नी रुक्मिन का अंत चूँकि जल जाने के फलस्वरूप होता है अतः कहानी का शीर्षक 'अग्नि-समाधि' रखा गया है। पयाग का जल जाना यदि कर्तव्यवश है तो रुक्मिन का अग्नि में जीवन-त्याग अपने पति पयाग की रक्षा-भावना से प्रेरित है। सौत के कारण और उसके समक्ष पति द्वारा पिटने और अपमानित किये जाने के बावजूद रुक्मिन पयाग को आग में जल जाने से बचाने की चेष्टा में स्वयं जल मरती है। पातिव्रत-संस्कार रुक्मिन में प्रबल हैं, जिनके कारण न तो वह पति के प्रति विद्रोह करती है (यद्यपि स्वावलम्बी है। स्वयं कमाती है।) और न उसके प्रति अपने मन में किसी कटुता को स्थान देती है।

कहानी के प्रमुख पात्र तीन हैं पयाग, जो गाँव का चौकीदार है। उसकी प्रथम पत्नी रुक्मिन और कौसल्या (सिलिया) नामक दूसरी बहुरिया।

जाति का भर, गाँव का चौकीदार पयाग यद्यपि उद्यमशील मेहनती युवक था, किन्तु साधु-संतों के सत्संग से उसे गाँजे, चरस और भंग का चस्का लग गया। परिणाम स्वरूप जीविका चिन्तोत्पादक बन गयी। पूर्व में पयाग आरा चलाता था, हल जोतता था, पुर हाँकता था। किन्तु अब निरुद्यम है। चौकीदारी का उसका वेतन मात्र दो रुपए और कुछ आने है, जो उसकी जेब-खर्च की मद में ही उड़

जाता है।

पयाग का काम सप्ताह में एक दिन थाने जाना, वहाँ अफ़सरी के द्वार पर झाड़ू लगाना, अस्तबल साफ़ करना और लकड़ी चीरना था। यह काम वह **‘रक्त के घूँट पी-पीकर करता, क्योंकि अवज्ञा शारीरिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टि से महँगी पड़ती थी।’** साधु-संतों के बीच वह चिलम भरने का काम करता था। उसे **‘पुण्य-फल’** तत्काल मिलता था, **‘क्योंकि ‘चिलमों पर पहला हक़ उसी का होता था।’** पयाग में नशेबाज़ और आलस्य के उपासक की मानसिकता काम करती है।

पत्नी रुक्मिन से जब नशे के लिए पर्याप्त पैसे उसे नहीं मिल पाते तो वह एक दिन घर से निकल जाता है और दूसरे दिन ही, किसी घर से भागी हुई एक स्त्री (कोसल्या/सिलिया) को लेकर लौट आता है। **‘शासन के मूल सिद्धान्तों से वह परिचित है।’** भेद-नीति से, उसे दम लगाने को रुक्मिन से अब आधी मजूरी प्राप्त होने लगी। दोनों पत्नियाँ उस पर आधिपत्य जमाने के लिए सचेष्ट रहतीं।

पयाग मात्र पैसे का यार था। कौसल्या से अधिक पैसे मिले तो उसका तरफ़दार हो गया। उसे प्रसन्न व संतुष्ट रखने के लिए रुक्मिन को घास-प्रसंग पर, एक दिन बेतहाशा पीटता तक है। फ़सल पकने के दौरान पयाग डेढ़-दो महीने गाँव के किसानों के हार की देखभाल करता था। निरुद्यमी होते हुए भी पयाग में मनुष्यता और कर्तव्य-बोध शेष था। रुक्मिन को पीटने-मारने का खेद उसे होता है। और हार में स्थित अपनी जलती हुई मड़ैया को लाठी पर उठा कर भागने में उसका सुप्त साहस जाग्रत हो उठता है। हार के अनाज को जलने से बचाने में स्वयं जल जाता है। कर्तव्य के सम्मुख अपने प्राणों की परवा नहीं करता।

पयाग कोई आदर्श चरित्र नहीं है। मात्र उसकी निरीहता और विवशता हमारी संवेदना को स्पर्श करती है। नशे का चस्का उसे ले डूबता है। अप्रत्यक्ष रूप से ‘अग्नि-समाधि’ नशले पदार्थों के सेवन के विरोध की कहानी भी बन जाती है।

रुक्मिन पयाग की प्रथम पत्नी है। घर की मालकिन है। घर-मालकिन का पद उसके लिए गौरव व प्रतिष्ठा का विषय है। बड़ी मेहनती स्त्री है। लकड़ी बाज़ार में बेचती है। अपनी कमाई से पयाग का उदर ही नहीं भरती, गहने बनवाने का अपना शौक भी पूरा करती है। सौत कोसल्या के प्रति स्पर्धा-भाव उसे और अधिक काम करने के लिए प्रेरित करता है। चारा काटना और उपले पाथना शुरू

कर देती है। रुक्मिन पतिव्रता स्त्री है, किन्तु पयाग के आलसीपन को प्रोत्साहित नहीं करती। पयाग के रंग-ढंग देखकर वह अब उसके प्रति इतनी संवेदनशील नहीं रही। प्रगल्भता और वाचालता का विकास भी उसमें बढ़ता गया।

सौत को स्वीकार तो करती है, किन्तु प्रसन्न होकर नहीं, जो नितान्त स्वाभाविक है। सौत को देख, **‘रुक्मिन का कलेजा धक से हो गया। वह एक क्षण हत-बुद्धि-सी खड़ी रही। उसे इस भाँति धीरे-धीरे घर के अन्दर ले चली, जैसे कोई रोगी जीवन से निराश होकर विषपान कर रहा हो।’** सौत के प्रति वह मात्र इस बात से सजग है कि कहीं घर का आधिपत्य उसके हाथ से न निकल जाए।

लेकिन सौत एक दिन उसका मालकिन का घमंड तोड़ ही देती है। घास-प्रसंग पर सौत पयाग को उत्तेजित करती है। पयाग रुक्मिन को बेहद पीटता-मारता है। मार-पीट का बदला वह मात्र गालियों से देती है और ग्रामीण स्त्रियों की गालियों का सारा कोष पयाग पर खाली कर देती है। पराजित होकर चुप नहीं होती। यही नहीं स्वाभिमान-रक्षा-भावना से प्रेरित हो घर से निकल जाती है -**‘जैसे आँखों से आँसू की धार निकल जाती है।’** पति पयाग द्वारा पिटने और अपमानित होने के बावजूद अंत में वह पयाग के प्राणों की रक्षा करने में अपने जीवन की बलि दे देती है। उसे बचाने में अपूर्व साहस का परिचय देती है। इस प्रकार, सौत पर अपनी वरीयता अंकित कर जाती है। रुक्मिन ठेठ गाँव की स्त्री है। उसकी परवर्ती ज़िन्दगी की मानसिकता सौत-भावना से संचालित व निर्मित है।

कौसल्या (सिलिया) के पूर्व-जीवन की कोई जानकारी प्रस्तुत कहानी से नहीं मिलती। कौसल्या भी रुक्मिन के समान मेहनती है। उसमें भी मालकिन बनने की लालसा प्रबल है। मात्र घर के काम-काज कर वह रुक्मिन की लौंडी बनकर रहना नहीं चाहती। वह भी काम करके कमाना चाहती है, जिससे उसे भी मालकिन का दर्जा मिल सके। रुक्मिन के मना करने पर भी पिसनहारी का काम शुरू कर देती है। सन कातती है। लकड़ियाँ तोड़ती है। घास छीलती है। उसकी सुबुद्धि और कार्यशीलता देखकर सारा गाँव उससे ईर्ष्या करने लगता है। कौसल्या रुक्मिन से अधिक चतुर है। वह कौशल से पयाग पर अपना अधिकार जमाने में सफल होती है। तभी तो वह रुक्मिन की तनिक भी परवा नहीं करती। कौसल्या कोई रुक्मिन से भिन्न नहीं। उसका स्तर और मस्तिष्क रुक्मिन के अनुरूप ही है।

‘अग्नि-समाधि’ में दाम्पत्य ही प्रमुख है।

(3) अधिकार चिन्ता

अधिकार चिन्ता’ मानवेतर प्राणी से सम्बद्ध रचना है। इसका प्रतिपाद्य मात्र एक पशु (श्वान) है। टामी नामक यह श्वान किसी का प्रतीक भी नहीं है। टामी बहुत तगड़ा है। उसका डील-डौल भी बड़ा है। वह न पालतू कुत्ता है, न गली-कूचों वाला। वह न तो अपनी नस्ल के कुत्तों के बीच में रह पाता है, न बाजारी कुत्तों के मध्य। शांतिप्रिय होते हुए भी, शत्रुओं से घिरा हुआ है। बराबर वाले उसके मोटे-ताजे होने पर जलते थे, बाजारी दल इसलिए कि वह घरों की सब हड्डियाँ चाट डालता था। उसका जीवन संकटमय था। उसमें श्वनोचित वीरता का अभाव था। वह ऐसी जगह जाने की चाह रखता था जहाँ निर्द्वन्द्व विचर सके। मनमाना शिकार कर खाए और मीठी नींद सोए। एक दिन गलियों के कुत्तों से पराजित होकर, नदी में कूद कर भागा और उस पार पहुँचा। उस पार का प्रदेश उसकी इच्छानुकूल निकला। वहाँ वह तेज़ नखों वाले पशुओं से दूर रहता। माँस के टुकड़े, उनकी परस्पर लड़ाई के कारण उसे सहज ही उपलब्ध हो जाते, जिन्हें खाकर उसका शरीर तेजस्वी-सुसंगठित हो गया। उसमें चतुराई भी खूब आ गयी। जंगल के जन्तुओं को आपस में लड़ाने की राजनीति खेलने लगा। क्वार में उसे पुराने सहचरों से मिलने की उत्सुकता हुई। नदी पार की। किन्तु फिर वहाँ के कुत्तों ने उसकी पिटाई कर दी। भागा। इन कटु अनुभवों से उसके चित्त में भय स्थाई रूप से समा गया। उसे आक्रमणकारियों के दल के आने की आशंका सदा बनी रहती। पूर्व में भी उसे चिन्ता रहती थी कि उसकी शांति भंग करने कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। अधिकार-चिन्ता के रोग से ग्रस्त एक दिन वह काल्पनिक संकट से बचाव हेतु निराहार-निर्जल नदी के किनारे बेतहाशा चक्कर लगाता हुआ मर गया। वन के किसी भी जीव-जन्तु को कोई दुःख नहीं हुआ। उसकी लाश गिद्धों-कौओं का भोजन बनी। किसी ने उसकी चर्चा तक न की।

इस लघु कहानी का मात्र शीर्षक ‘अधिकार -चिन्ता’ विचार-बिन्दु प्रदान करता है। अधिकार-चिन्ता मनुष्यों में सर्वाधिक प्रबल होती है। किन्तु प्रस्तुत रचना में टामी की अधिकार-चिन्ता मनुष्य की अधिकार-चिन्ता की प्रतीक नहीं बन सकती। दोनों में कोई साम्य नहीं। टामी-गाथा को मनुष्य पर घटित करना दूर की कौड़ी लाना होगा। वस्तुतः प्रस्तुत कहानी एक अति साधारण रचना बन कर

रह गयी है। चूँकि प्रेमचंद के कहानी-साहित्य में उसे स्थान मिल गया है, मात्र इस कारण इस मानवेतर कहानी पर कुछ विचार आवश्यक था।

(4) अनाथ लड़की

‘अनाथ लड़की’ एक ऐसी बालिका की कहानी है, जिसका पिता एक साल हुआ गुज़र चुका है। किन्तु माँ जीवित है। पिता के स्नेह से वंचित, और आर्थिक दृष्टि से विपन्न माँ (रुक्मिणी) द्वारा पालित-पोषित लड़की रोहिणी पूना की ‘सरस्वती पाठशाला, की एक छात्रा है। बम्बई-निवासी सेठ पुरुषोत्तम दास सम्भवतः इस पाठशाला के संस्थापक-संचालक हैं। सेठ पुरुषोत्तम दास एक दिन पाठशाला का मुआयना करने आते हैं। उन्हें देखकर अबोध रोहिणी उनसे उनकी बेटी बनने का हठ करती है। यह आग्रह स्वाभाविक न होकर आरोपित अवश्य लगता है। सेठ पुरुषोत्तम दास को ही देखकर पितृ-स्नेह पाने की भावना रोहिणी में क्यों मुखरित हुई, इसका कोई मनोवैज्ञानिक समाधान कहानी में उपलब्ध नहीं होता। पूर्व-जन्म के किसी संस्कार-संबंध का भी प्रश्न नहीं लिया गया है। सेठ जी की स्नेहाभिव्यक्ति का स्वरूप सहज है, किन्तु लड़की के संवाद बालकोचित नहीं। रोहिणी सेठ जी के साथ जाने का जो आग्रह करती है, वह उसकी माँ के प्रति न्याय भी नहीं करता। प्रारम्भ कमजोर होते हुए भी, आगे कहानी का विकास कलात्मक हुआ है। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता पाठकों में एक विशेष कुतूहल भाव उत्पन्न कर देने में है। सेठ पुरुषोत्तम दास लड़की की माँ के प्रति किस तरह के संबंध स्थापित करेगा, वह देखना पाठकों को सर्वाधिक आन्दोलित करता है। एक बच्ची को बेटी के रूप में अपना लेना तो सात्त्विक-वृत्ति का परिचायक है, किन्तु उसकी निर्धन माँ के प्रति उसकी भावना का स्वरूप क्या होगा, पाठकों द्वारा यह जानने की उत्कट अधीरता प्रस्तुत कहानी की कलात्मक समृद्धि का द्योतक है। समाज में, जैसा प्रायः देखने में आता है, अधिकांश धनी-मानी व्यक्ति स्वार्थवश ही परोपकार करते हैं। उनके परोपकारी व्यवहार के पीछे कोई गंदी व कुत्सित मनोवृत्ति छिपी रहती है। वे अपने परोपकार का बदला अपनी अनुचित अपेक्षाओं की पूर्ति में चाहते हैं। लेकिन सेठ पुरुषोत्तम दास जब पाठकों की सम्भावनाओं को झुठला देते हैं, तब सम्पूर्ण कहानी विशुद्ध सात्त्विक आलोक से जगमगा उठती है। कहानी के अंतिम भाग में सेठ-सेठानी रोहिणी को पुत्रवधू के रूप में अपनाते दिखाए गये हैं। इस

प्रकार 'अनाथ लड़की' के सभी पात्र उदात्त हैं। उनमें न कोई दुर्बलता है, न कुंठा। सेठ-सेठानी आर्थिक दृष्टि से ही सम्पन्न नहीं, वे जीवन में हर प्रकार से संतुष्ट हैं। 'अनाथ लड़की' रोहिणी की माँ रुक्मिणी निर्धन किन्तु स्वावलंबी है। इसमें दो मत नहीं, सेठ पुरुषोत्तम दास ने बालिका रोहिणी को अपनी मुँहबोली बेटी भले ही सहज ही बना लिया हो, किन्तु उसके पुत्रवधू बनाने में रोहिणी का रूप-सौन्दर्य और उसके गुण प्रमुख हैं। विशुद्ध मानवीय संबंधों पर आधारित यह कहानी प्रेमचंद की मानसिकता को रेखांकित करती है, जहाँ न जात-पाँत का प्रश्न है, न परस्पर आर्थिक स्तर की समानता है।

कहानी में कुल पाँच पात्र हैं। सेठ पुरुषोत्तम दास, उनकी पत्नी सेठानी कौशल्या, अनाथ बालिका रोहिणी और उसकी माँ रुक्मिणी तथा सेठ पुरुषोत्तम दास का पुत्र नरोत्तम दास।

सेठ पुरुषोत्तम दास नामोचित गुण-सम्पन्न हैं। वे एक उत्तम पुरुष हैं। उनके **'स्वभाव में करुणा बहुत थी।'** जिसके कारण ही उन्होंने एक बेकस और यतीम बालिका को अपनी धर्म-बेटी बनाया। रोहिणी की माँ रुक्मिणी, अपने पति के माध्यम से सेठ जी की दया और उदारता का बखान सुन चुकी थी। वह अपने मन में उन्हें देवता समझा करती थी। सेठ पुरुषोत्तम दास चूँकि सेठ है, धनवान है, इसलिए उसका स्वभाव व आचरण घृणित होगा, ऐसा पूर्वाग्रह प्रेमचंद का नहीं। लेखक ने सेठ पुरुषोत्तम दास के जीवन के और-और पक्ष प्रस्तुत कहानी में चित्रित नहीं किये हैं। पाठक उनकी मानवीय करुणा की मात्र एक झलक भर देख पाते हैं। एक संतुष्ट व्यक्ति की मानसिकता सेठ पुरुषोत्तम दास में द्रष्टव्य है। सेठ पुरुषोत्तम दास की पत्नी सुघड़ है, उसका ज्येष्ठ पुत्र आज्ञाकारी व सुयोग्य है। आर्थिक दृष्टि से तो वह सम्पन्न है ही। सेठ पुरुषोत्तम दास कुछ अंशों में प्रेमचंद की किस्सागोई की उपज भी है। किन्तु इस कथन का आशय उनके यथार्थ को झुठलाना नहीं है।

कौशल्या सेठ पुरुषोत्तम दास की धर्मपत्नी है। उसका घर-परिवार एक सुखी घर-परिवार है। रोहिणी विषयक जानकर उसे अच्छा लगा। वह रोहिणी को बम्बई, अपने पुत्र के स्वागत वाले जलसे में विशेष रूप से आमंत्रित करती है। रोहिणी को देखकर उनकी **'आँखों से गर्व और प्रेम टपका पड़ता था।'** कौशल्या का जीवन भी संतुष्ट और शांतिमय है। रोहिणी के रूप, उसके स्वभाव और उसकी योग्यता पर रीझकर वह उसे पुत्रवधू बना लेती है। कहीं कोई उलझाव नहीं। न जात-पाँत,

न जन्म-पत्री मिलान, न दहेज़। सर्वत्र एक उच्च-स्तरीय भावना परिव्याप्त।

रोहिणी कहानी की नायिका है। कहानी के शीर्षक की अनाथ लड़की वह ही है। प्रारम्भ में उसमें एक बालिका का मनोविज्ञान देखा जा सकता है तो अंत में एक परिपक्व नव युवती का। सेठ पुरुषोत्तम दास द्वारा बेटी मान लिए जाने पर, उसका पिता का अभाव मिट जाता है। शैशवोचित गर्व और चांचल्य से भर जाती है। रोहिणी भी आदर्श पात्र है। नव युवती के रूप में उसमें सादगी है, लाज-संकोच है। विचारों में पवित्रता है। घमंड, बनावट व चंचलता से मुक्त अतीव सुन्दरी तो वह है ही। **‘हाव-भाव में आकर्षक गम्भीरता, बातों में गीत का-सा खिँचाव।’** गायन में उसकी रुचि है। ‘शास्त्री’ की परीक्षा भी उसने उत्तीर्ण की है। सभापति के आदेशानुसार नरोत्तम दास के गले में स्वागत-हार डालती है धड़कती छाती से। यही प्रसंग उसे नरोत्तम दास की जीवन-संगिनी बना देता है। जीवन में सब बड़े सुचारु रूप से घटित होता चलता है। कहीं कोई बाधा नहीं। न भौतिक, न दैविक।

रुक्मिणी रोहिणी की माँ है। विधवा है। पीला चेहरा। आँखों में बेकसी। चिन्तित। निर्धन। कपड़े सीकर गुज़र-बसर। सेठ पुरुषोत्तम दास उसकी ज़िन्दगी में सहारा बन कर आये। ‘बाई जी’ के प्रति उन्हें सदा सच्ची सहानुभूति रही। कहानी में रुक्मिणी का कार्य-क्षेत्र सीमित है। वह अपनी बेटी रोहिणी के साथ समान कक्षा में अध्ययन करती बताई गयी है। रोहिणी के सयानी होने पर उसके विवाह की फ़िक्र करती है। पर, उसकी चिन्ता का भार तो सेठ पुरुषोत्तम दास ने ले रखा है। इस प्रकार रुक्मिणी बड़ी सुगमता से अपने इस दायित्व से भी मुक्त हो जाती है। सम्पूर्ण कहानी में सब तरफ़ अमन-चैन है। अनुकूलता है। रुक्मिणी के स्वाभिमान को किसी ओर से कभी कोई चोट नहीं पहुँची। जिन लोगों से उसका साबका पड़ा वे अब्बल दर्जे के सभ्य निकले।

नरोत्तम दास भी अपने नाम के अनुरूप उत्तम नर हैं। **‘कई साल तक अमेरिका और जर्मन की युनिवर्सिटियों की खाक छानने के बाद इंजीनियरिंग-विभाग में कमाल हासिल करके वापस आये थे।..... अमरीका के अख़बार एक हिन्दोस्तानी नौजवान की इस शानदार कामयाबी पर चकित थे।’** उनके स्वागत में बम्बई में एक बड़ा जलसा होता है। किन्तु नरोत्तम दास सार्वजनिक सभा के समक्ष ढंग से धन्यवाद-ज्ञापन भी नहीं कर सके। **‘दोस्तों की मण्डली में उनकी वक्तुता के आवेग और प्रवाह की कोई सीमा न थी। लेकिन**

सार्वजनिक सभा के सामने खड़े होते ही शब्द और विचार दोनों ही उनसे बेवफ़ाई कर जाते थे।' रोहिणी के रूप-सौन्दर्य पर, प्रथम दृष्टि में ही, आसक्त हो जाते हैं। किन्तु प्रेम-प्रदर्शन में किसी असंयम का परिचय नहीं देते, यद्यपि रोहिणी के साथ बम्बई-पूना यात्रा के दौरान उनकी प्रेम की बातों का सिलसिला कभी टूटा नहीं। अंत में रोहिणी से उनका विधिवत् विवाह सम्पन्न होता है। इस प्रकार, 'अनाथ लड़की' में सब अच्छा-ही-अच्छा घटित होता है। सभी पात्र एक सपाट मानसिकता को वरण किये हुए हैं। संघर्ष का अभाव है; किन्तु कथारस की कमी नहीं।

(5) अनिष्ट शंका

'अनिष्ट शंका' दाम्पत्य जीवन की कहानी है। एक आदर्श भारतीय स्त्री अपने पति के प्रति एकनिष्ठ भाव से समर्पित रहती है। 'अनिष्ट शंका' का परिवार मात्र दो व्यक्तियों (पति-पत्नी) का परिवार है। आर्थिक दृष्टि से यह परिवार सम्पन्न दीखता है; क्योंकि घर में मुनीम है, लौंडियाँ हैं। मुनीम का होना इस बात का भी संकेत है कि घर समृद्ध व्यवसायी का है। कहानी में इस संबंध में कुछ स्पष्ट बताया नहीं गया है। धन-व्यवसाय से व्यक्ति को जो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है, वह प्रस्तुत कहानी के मुखिया पात्र कुँवर अमरनाथ को भी प्राप्त है। वह 'काशी सेवा समिति' का व्यवस्थापक है। वस्तुतः कहानी में कुँवर अमरनाथ को मात्र एक कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में ही चित्रित किया गया है। उनके जीवन के और-और पक्षों का कोई उल्लेख नहीं है। कहानी के प्रारम्भिक भाग के पति-पत्नी के संक्षिप्त वार्तालाप मात्र से उनकी सुखी-संतुष्ट दाम्पत्य जीवन की झलक मिलती है। कुँवर अमरनाथ तो बुंदेलखण्ड में भीषण दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों की सहायतार्थ, अपने साथ कई नवयुवकों को लेकर, निकल जाते हैं और वहाँ अपने मिशन में जुट जाते हैं। उन्हें न अपने निजी काम-धाम की चिन्ता रहती है, न अपनी पत्नी मनोरमा की। वैसे भी घर में सब व्यवस्थित था। कुँवर अमरनाथ तो फिर कहानी के अंत में ही दिखाई देते हैं। 'अनिष्ट शंका' नामक कहानी को आकार तो उनकी पत्नी मनोरमा देती है। वह विरह-वियोग से त्रस्त नहीं, अपने पति की अनिष्ट शंका से ग्रस्त है। सम्पूर्ण कहानी मनोरमा की मानसिक स्थिति से परिव्याप्त है। लगता है, पति के प्रति अनिष्ट शंका के मनोवैज्ञानिक रोग से वह ग्रस्त है। वह

कहती भी है, “मेरे हृदय की दशा विचित्र है। तुम्हें अपने सामने न देखकर मेरे मन में तरह-तरह की शंकाएँ होती हैं.... मुझे अनिष्ट का भय सदैव सताया करता है।” अतः पत्नी मनोरमा की मानसिकता ही इस कहानी को विकसित करती है, उसे अंतिम चरण तक पहुँचाती है। अनिष्ट-शंका से ग्रस्त मनोरमा की यह मानसिकता भयावह स्वप्नों से पुष्ट से पुष्टतर होती चलती है। वह एक-के-बाद बुरे स्वप्न देखती है। यह तो एक सामान्य बात है कि मनुष्य अपने आत्मीय जनों से विलग होने की स्थिति में उनके प्रति अत्यधिक लगाव होने के कारण उनके अमंगल की चिन्ता व कल्पना सर्वप्रथम कर उठता है। लेकिन इसका कोई मूर्त आधार होता है। कोई घटना होती है, कोई समाचार होता है। स्वप्न में भी अपने आत्मीय को विषम अथवा रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में देखकर हमें मानसिक संत्रास होता है। स्वप्न वास्तव में हमारे चेतन पक्ष का ही अवचेतन लोक है। सजग अवस्था में हम जिसका चिन्तन करते हैं, वही सुप्तावस्था में, स्वप्नों में संगत-असंगत रूपों में हमारे मानस-पटल पर अंकित होता है। स्वप्नों का अपना मनोविज्ञान है। उसके विश्लेषण की अपनी वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं। लेकिन लोक-मानस में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वप्नों के गूढ़ अर्थ सनातन से विद्यमान हैं। विशेष रूप से स्त्री-समाज में। कम शिक्षित व परम्परावादी स्त्री समाज में तो और भी अधिक। बिना भौतिक आधार के स्वप्न हमें झकझोर देते हैं। मनोरमा जैसी पतिप्राणा स्त्री का संदिग्ध स्वप्नों से विचलित हो जाना स्वाभाविक है। चूँकि पति की कुशल-क्षेम के कोई समाचार बहुत दिनों से उसे मिल नहीं पाते और वह एक-के-बाद-एक अमंगल-सूचक स्वप्न देखती जाती है, अतः उसका आशंकित मन और अधिक बेचैन हो उठता है। उसकी मनःस्थिति को ज्योतिषी, भले ही वह ज्योतिषी अज्ञानी व धूर्त हो, और बिगाड़ देता है। वह मनोरमा के स्वप्न को अमंगल-सूचक ही घोषित करता है। अमंगल का उद्घाटन करते हुए ज्योतिषी ने कहा **‘पति पर कोई महान् संकट आने वाला है, उनका घर नाश हो जाएगा, वह देश-विदेश मारे-मारे फिरेंगे।’** ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों पर लोग कितना अंधविश्वास रखते हैं, यह सर्वविदित है। इस प्रकार, मनोरमा की मानसिकता एक ही दिशा में सक्रिय हो उठती है। पति के अनिष्ट का जैसे उसे निश्चय-सा हो जाता है। वह अकस्मात् शाम की ट्रेन से कबरई (बुंदेलखंड) के लिए चल पड़ती है। कुँवर अमरनाथ को अपने पहुँचने की तार द्वारा पूर्व-सूचना देकर। ट्रेन में भी रास्ते भर बुरे-बुरे स्वप्न देखती है। इसी क्रम में सुषुप्तावस्था में

चलती गाड़ी का द्वार खोल बाहर आने की चेष्टा में गिर पड़ती है और प्राणों से हाथ धो बैठती है। प्रेमचंद ने इस कहानी में आकस्मिक तत्त्व का प्रश्रय लिया है। मनोरमा ट्रेन से बाहर जहाँ गिरती है, वह स्थान कबरई का स्टेशन है और वहाँ अमरनाथ पहले से ही मौजूद हैं, क्योंकि उन्हें मनोरमा का (पहला तार भले ही न मिला हो) कबरई आने का तार मिल चुका था। कुँवर अमरनाथ का दुर्भाग्य क्योंकि उनका पीछा कर रहा है, सम्भवतः इसी कारण मनोरमा डाक गाड़ी से चल पड़ती है, जो कबरई स्टेशन पर रुकती ही नहीं। पर, स्वप्न में नदी में फिसलते हुए अमरनाथ को पकड़ने के लिए फैलाए हाथ की शारीरिक भँगिमा लिए, गाड़ी का द्वार खोल कर वह कबरई स्टेशन पर ही गिरती है। यह आकस्मिक संयोग अविश्वसनीय है। पर, मनोरमा की स्वाभाविक मौत को संयोग के नाम पर अस्वाभाविक बनाकर झुठलाया नहीं गया है। यद्यपि कहानी का स्रष्टा ऐसा करने के लिए स्वतंत्र था। अनेक लोग चलती ट्रेन से गिर पड़ते हैं और बच रहते हैं। अंग-भंग भले ही हो जाएँ। कबरई स्टेशन पर तो सम्भवतः ट्रेन की गति धीमी भी रही होगी ! पर, उस स्थिति में कुँवर अमरनाथ का अनिष्ट कैसे होता ! स्वप्न झूठे हो जाते ! ज्योतिषी की भविष्यवाणी झूठी हो जाती ! मृत्यु भले ही मनोरमा की हुई हो, पर उसका दुष्परिणाम तो अमरनाथ को ही भोगना पड़ा। भग्न-हृदय तो वे ही हुए। स्वप्न और 'ज्योतिषी जी' की विवेचना चरितार्थ करने वाली प्रस्तुत कहानी क्या स्वप्नों और ज्योतिषियों पर हमारे अंधविश्वासों को पुष्ट करती है ? नहीं। क्योंकि पाठकों के सम्मुख छद्म ज्योतिषी का पर्दाफाश प्रेमचंद पूर्व में ही कर चुके होते हैं। दूसरे, मनोरमा की मृत्यु स्वप्न का सत्य नहीं है। अप्रत्यक्ष रूप से कुँवर अमरनाथ का अनिष्ट अवश्य होता है, पर स्वयं कुँवर अमरनाथ नामधारी व्यक्ति का नहीं। उसका घर बरबाद हो जाता है। वह अपनी प्रेमपात्री निष्ठावान पत्नी को सदा के लिए खो देता है। जीवन से हताश हो जाता है। अपनी सम्पत्ति 'काशी सेवा समिति' को सौंप कर नंगे पैर, विरक्त दशा में देश-विदेश घूमने निकल जाता है। ज्योतिषी की भविष्यवाणी में भी घर-नाश और देश-विदेश मारे-मारे फिरने की बात स्पष्ट है। ज्योतिषी की धूर्तता बताने के बाद भी, उसकी वाणी और भावी घटना में साम्य-संयोग दर्शाने में प्रेमचंद की कौन-सी मानसिकता काम कर रही है ? क्या वे आकस्मिक तत्त्व की ओर संकेत करना चाहते थे अथवा क्या वे अपने किस्सागोई का चमत्कार दिखाना चाहते थे ? 'अनिष्ट शंका' की यह कमजोरी या असंगति अपनी जगह है। पात्रों की सामाजिक श्रेणी और उनकी

मानसिकता इससे प्रभावित नहीं होती।

कहानी में कुल दो पात्र हैं कुँवर अमरनाथ और उनकी पत्नी मनोरमा।

कुँवर अमरनाथ बुंदेलखंड जाने के पूर्व मनोरमा को वचन दे गये थे कि प्रतिदिन पत्र लिखेंगे, किन्तु डाकघर की दूरी के कारण प्रतिदिन डाकपेटी में पत्र डालना उनके लिए दुःसाध्य रहा। मनोरमा का प्रथम तार भी उनके द्वारा अनुत्तरित रहा (हो सकता है, उन्हें मिला ही न हो!)। यदि अमरनाथ का मनोरमा से पत्र-सम्पर्क बना रहता तो अमंगल-सूचक स्वप्न प्रभाव-शून्य हो जाते। सेवा-कार्य के उत्साह में यदि अमरनाथ ने अपनी पत्नी की उपेक्षा की होती तो उनकी श्रेष्ठता सिद्ध हाती, किन्तु यहाँ कारण भिन्न है। वस्तुतः कहानी में कुँवर अमरनाथ की भूमिका बहुत सीमित है। कहानी का अधिकांश भाग मनोरमा के क्रिया-कलापों से सम्बद्ध है। मनोरमा में धैर्य है, साहस है। लेखक के निष्कर्षानुसार वह प्रेमवेदी पर अपना बलिदान कर देती है। 'अनिष्ट शंका' में भी बहुत-कुछ लेखक की इच्छानुसार वर्णित घटनाओं का जमघट है।

(6) अनुभव

'अनुभव' कहानी देश के स्वाधीनता संग्राम से सम्बद्ध है। इसमें तत्कालीन नौकरशाही और ब्रिटिश भारत के खुफिया-विभाग की सक्रियता प्रदर्शित है। उस ज़माने में, देश-भक्ति विदेशी सत्ता की दृष्टि में कितना बड़ा अपराध थी; इसका बोध 'अनुभव' के पात्रों के सोचने के ढंग से अथवा उन पर बरपी दमनपूर्ण कार्रवाइयों से होता है। लेकिन प्रेमचंद ने 'अनुभव' में ऐसे पात्रों की भी सृष्टि की है, जो शक्तिशाली विदेशी सत्ता को चुनौती देते हैं और हँस-हँस कर कष्ट सहन करते हैं। तनिक भी भयभीत नहीं होते। 'अनुभव' अनेक अनुभवों की कहानी है। ये अनुभव व्यक्तिगत स्तर पर हैं, पारिवारिक स्तर पर हैं, सामाजिक स्तर पर हैं और राजनीतिक स्तर पर हैं। अभिन्न आत्मीय रिश्तों के बीच हैं, मैत्री की भूमिका पर हैं, और हैं शासकीय तंत्र तथा स्वाभिमानी भारतीय जनता के प्रतिनिधियों के मध्य। प्रेमचंद-युग में 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' देश के स्वाधीनता संग्राम का, महात्मा गांधी के नेतृत्व में, संचालन कर रही थी। 'अनुभव' के देश- भक्त पात्र इसी संस्था के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता और नौकरशाही का मुक़ाबिला करते दिखाए गये हैं। 'अनुभव' भारत की राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक कहानी है।

‘अनुभव’ में प्रमुख पात्र तीन हैं। एक देश-भक्त की पत्नी कहानी का उत्तम-पुरुष पात्री (मैं), उस देशभक्त का एक घनिष्ठ मित्र बाबू ज्ञानचंद और उनकी पत्नी मिसेज़ ज्ञानचंद।

कहानी की प्रवक्ता उत्तम-पुरुष पात्री के, कांग्रेसी देशभक्त पति को तत्कालीन तथाकथित न्यायालय से एक वर्ष के कठिन कारावास की सज़ा सुनाई जाती है। उनका अपराध केवल यह था कि उन्होंने जेठ की तपती दोपहरी में राष्ट्र के कई सेवकों का शर्वत-पान से सत्कार किया था। कहानी की प्रवक्ता-पात्री को अपने स्वाभिमानी प्राणनाथ पर प्रियतम पर गर्व है। वह उनकी **‘शान्त, अविचलित, तेज और स्वाभिमान से प्रदीप्त मूर्ति’** की उपासिका है। उसके पति ने देश के लिए जो त्याग किया, वह उसके लिए प्रेरणा का मूलाधार है। जवाब में, वह पाँच रुपये की मिठाई मँगवाती है। और स्वयंसेवकों को बुलाकर खिलाती है तथा स्वयं पहली बार कांग्रेस के जलसे में शरीक होकर मंच पर बोलती है और सत्याग्रह की प्रतिज्ञा करती है। उसकी आत्मा अपार शक्ति से ओतप्रोत हो उठती है। वह बिलकूल शंकारहित और निडर बन जाती है। वह अब कठोर-से-कठोर आघात सहने को तैयार है। निराधार और निराश्रय होकर पति के पद-चिन्हों पर चल निकलती है। उसके पिता जंगल के महकमे में अच्छे पद पर थे। इसी साल उन्हें ग्रेड मिलने वाला था। उनका अपनी बेटी को उत्तर था- **‘वह मुझे बुलाएंगे तो सम्भव है, ग्रेड से वंचित होना पड़े।’** उसके ससुर पेंशनर थे। उनका उत्तर था-**‘आशा थी, तुम लोग बुढ़ापे में मेरा पालन करोगे। तुमसे उस आशा पर पानी फेर दिया। क्या अब चाहती हो, मैं भिक्षा माँगूँ। मैं सरकार से पेंशन पाता हूँ। तुम्हें आश्रय देकर मैं अपनी पेंशन से हाथ नहीं धो सकता।’** पिता और ससुर दोनों की बातों में जो सचाई है, वह तत्कालीन सरकार के दमन-चक्र को प्रकट करती है। लेकिन पिता और ससुर दोनों अपने पारिवारिक दायित्व से च्युत नज़र आते हैं। पारिवारिक स्तर पर यह अनुभव कटु है। पिता और ससुर दोनों वृद्ध हैं। फिर भी वे देश के लिए कष्ट सहने अथवा अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार नहीं। बेटी अथवा बहू के प्रति यह उदासीनता भाव उस देशभक्त की पत्नी के लिए अद्भुत अनुभव है। वह इस तटस्थता को निर्दयता की संज्ञा देती है। विषम स्थिति यहीं समाप्त नहीं होती। वह विषमतर होती जाती है। नारीत्व रक्षा की चिन्ता पर उसका ध्यान जाता है। खुफ़िया-पुलिस के दो आदमी उसकी निगरानी में लगे हुए हैं। आत्म-रक्षा के लिए वह घर का एक बड़ा चाकू अपने

सिरहाने रख लेती है। ऐसे नाजुक मौके पर उसके पति के मित्र ज्ञानचंद और उनकी पत्नी उसकी सहायता को आते हैं। वे उसे स-सामान अपने घर ले जाते हैं। यद्यपि खुफिया-पुलिस के वे दो आदमी आठ दिन बाद वहाँ भी अपना कार्य करने पहुँच जाते हैं। ज्ञानचंद के निवास पर वह ससम्मान व शंकारहित रह सकी।

‘अनुभव’ का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र श्रीमती ज्ञानचंद हैं। उनके पति ज्ञानचंद एक स्कूल में मास्टर हैं। बड़े ही उदार, विद्वान, निष्कपट। पर, वे सदा अपनी पत्नी के प्रभाव में दिखाए गये हैं। इससे उनका व्यक्तित्व प्रायः हास्यस्पद बन गया है। एक दिन उनकी ‘जान-आफ़त’ में आ जाती है। मशविरा वे अपनी पत्नी से ही किया करते हैं। उनकी शिकायत हाकिम ज़िला से हो चुकी है। मित्र की पत्नी को घर से निकाल देने का उन्हें हुक्म मिला है। वे स्वयं कोई जवाब नहीं सोच पाते; क्योंकि पत्नी के निर्देशानुसार ही चलते रहे हैं। और इस बार भी पत्नी के निर्देशानुसार इस्तीफ़ा दे आते हैं। किन्तु उन्हें नौकरी से नहीं निकाला जाता। प्रिन्सिपल के जिन प्रश्नों के वे उत्तर देते हैं, वह-सब उन्हें फिर हास्यस्पद स्थिति तक पहुँचा देता है। यथा **‘आप पोलिटिकल जलसों में तो नहीं जाते ? (कभी भूलकर भी नहीं !), कांग्रेस के मेम्बर तो नहीं है ? (मेम्बर का दोस्त तक नहीं ।), कांग्रेस-फंड में चंदा तो नहीं देते? (कानी कौड़ी भी कभी नहीं देता ।)’** वैसे तीनों प्रश्नों का उत्तर एक शब्द ‘नहीं’ में था, किन्तु ज्ञान बाबू की यह विवशता थी, क्योंकि उन्हें उनकी पत्नी ने पहले से कुछ बता नहीं रखा था! ज्ञानचंद पेशे से मास्टर ज़रूर है, पर एक मास्टर की मानसिकता उसमें खोजना व्यर्थ है। उनकी उदारता और निष्कपटता का उनके पेशे से कोई संबंध नहीं। एक स्कूल मास्टर को आज भी कोई सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी है। स्कूल मास्टर एक निरीह प्राणी होता है। सरकार को उससे डरने की ज़रूरत क्या ! इस्तीफ़ा लौटा दिया जाता है। प्रिन्सिपल चंद प्रश्न पूछ कर अपना समाधान कर लेता है।

श्रीमती ज्ञानचंद **‘दोहरे बदन की प्रतिभाशाली महिला थी। चेहरे पर ऐसा रोब था, मानों कोई रानी हों सिर से पाँव तक गहनों से लदी हुई। मुख सुन्दर न होने पर भी आकर्षक था।गर्व की सजीव प्रतिमा थीं, पर बाहर जितनी कठोर, भीतर उतनी ही दयालु।’** श्रीमती ज्ञानचंद ही देशभक्त की उस पत्नी को आश्रय देती हैं। जीवन में वे प्रथम बार ही उससे मिली हैं। चूँकि बाबू ज्ञानचंद और उस स्त्री के पति परस्पर मित्र थे, इस कारण वे एक दूसरे से

पूर्व-परिचित अवश्य थीं।

देशभक्त की पत्नी (कहानी की प्रवक्ता) को बाबू ज्ञानचंद के सौजन्य का अनुभव भली-भाँति है। श्रीमती ज्ञानचंद उसे स-समान अपने घर ले जाती है। उनका औपचारिक वार्तालाप और व्यवहार इसका प्रमाण है। देशभक्त की पत्नी की, उनके संबंध में धारणा इन शब्दों में अभिव्यक्त हुई है, **“मैंने ऐसी सहृदय, उदार, मीठी बातें करने वाली स्त्री नहीं देखी। मैं उनकी छोटी बहन होती तो भी शायद इससे अच्छी तरह न रखतीं। चिन्ता और क्रोध को तो जैसे उन्होंने जीत लिया हो। सदैव उनके मुख पर मधुर विनोद खेला करता था। कोई लड़का-बाला न था, पर मैंने उन्हें कभी दुखी नहीं देखा।”** खुफियों की गतिविधियों के प्रति उसे कोई चिन्ता नहीं। उन्हें वह हिंकारत से ‘कुत्ते’ कहती है। कठिन परिस्थितियों में भी विनोद करती है। पति के कहने पर **‘प्रिन्सिपल से मेरी लड़ाई हो गयी’** बनावटी गम्भीरता से उसका कथन था **‘सच, तुमने उसे खूब पीटा न?’** एक बार, जब देशभक्त की पत्नी को प्रश्रय दे देती है तब उस पर अटूट विश्वास रखती है। उसे अपनी बहन समझती है। उससे कोई पर्दा नहीं रखती। उसका निश्चय है **‘रहेंगे तो साथ रहेंगे। मरेंगे तो साथ मरेंगे’** इतना आत्मविश्वास और औदार्य विरल है। उसका ओजस्वी और निडर रूप तब प्रकट होता है जब वह अपने पति ज्ञानचंद से साफ-साफ कहती है **‘तुम उस प्रिन्सिपल से जाकर कह दो मैं उसे (देशभक्त की पत्नी को) किसी तरह नहीं छोड़ सकता और न माने तो इस्तीफ़ा दे दो।’** आवेश में अपने पति को भी जली-कटी सुना देती है **‘इस मर्दुए को मैं क्या कहूँ ! आधी उम्र बीत गयी और बात करना न आया।’** श्रीमती ज्ञानचंद देशभक्त की पत्नी के प्रति जो अपार आदर-भाव प्रदर्शित करती है उसका रहस्य वह स्वयं प्रकट करती है **“अच्छा, बता तेरे प्रियतम क्यों जेल गये ? इसीलिए तो कि स्वयंसेवकों का सत्कार किया था। स्वयंसेवक कौन हैं? यह हमारी सेना के वीर हैं, जो हमारी लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। स्वयंसेवकों के भी तो बाल-बच्चे होंगे, माँ-बाप होंगे, वह भी तो कोई कारोबार करते होंगे, पर देश की लड़ाई के लिए, उन्होंने सब-कुछ त्याग दिया है। ऐसे वीरों का सत्कार करने के लिए, जो आदमी जेल में डाल दिया जाए, उसकी स्त्री के दर्शनों से भी आत्मा पवित्र होती है। मैं तुझ पर एहसान नहीं कर रही हूँ, तू मूझ पर एहसान कर रही है।”** इस स्थल पर श्रीमती ज्ञानचंद बहुत ऊँची उठ जाती है। उसे देशभक्त की

पत्नी जो 'देवी' शब्द से सम्बोधित करती रही है, वह ऊँचाई वह यहाँ छू लेती है। देशभक्त की पत्नी के समान श्रीमती ज्ञानचंद मात्र गृहिणी है। लेकिन दोनों स्त्रियाँ देश के राजनीतिक वातावरण का ज्ञान रखती हैं। देशभक्त की पत्नी तो घर की दीवारों लॉघ कर अपने पति के पद-चिन्हों का अनुसरण करती भी बताई गयी है, किन्तु श्रीमती ज्ञानचंद की देश-प्रेम भावना घर की सीमाओं में ही बड़े ही कारगर और सार्थक रूप में प्रभावशील हुई है। प्रेमचंद ने 'अनुभव' में वस्तुतः इन दो नारियों की मानसिकता को ही उजागर किया है। लगता है, इन दो स्त्रियों के माध्यम से वे देश के तत्कालीन नारी-वर्ग की संघर्षशीलता और उसके जुझारूपन को अंकित करना चाहते हैं। सामाजिक स्तर पर ये दोनों स्त्रियाँ जन-सामान्य की श्रेणी में आती हैं। निम्न मध्य-वर्गीय। साहित्य की सोद्देश्य रचना का उदाहरण है यह प्रेमचंद-विरचित कहानी 'अनुभव'।

(7) अपनी करनी

'अपनी करनी' का परिवेश यद्यपि दाम्पत्य है, किन्तु प्रमुख रूप से इस कहानी में एक ऐसे पात्र की मानसिकता परिव्याप्त है, जो निठल्ला है और महाराजा साहब से प्राप्त मात्र वसीके पर जीवन-यापन करता है। चूँकि उसे कोई काम नहीं है, इसलिए उसे फुरसत-ही-फुरसत है। शाम का वृक्त तो उसके मनोरंजन का खास वक्त है ही। एक दिन आनन्द-वाटिका में माली की जवान कुँआरी बेटी को देखकर उसकी नीयत बिगड़ जाती है। वैसे स्वभाव से वह दुश्चरित्र था नहीं। बड़ी चतुराई से वह माली की बेटी को अपने अनुकूल कर लेता है। उसका यह कृत्य- **'मुहब्बत से नहीं, सिर्फ ज़रा देर दिल खुश करने के लिए, सिर्फ उसके भरे-पूरे शरीर और भोलेपन पर रीझ कर।'** स्त्री-पुरुष के परस्पर स्थाई व सनातन वासना-संबंध भी इस कहानी में उभरे हैं। यौन-आकर्षण और यौन-परितृप्ति को नैतिक सीमाओं में बाँधे रखने के प्रयास सभ्य मानव समुदाय चिरकाल से करता चला आ रहा है, किन्तु मनुष्य की प्रकृति आज तक बदली नहीं है और सम्भवतः बदलेगी भी नहीं। नैतिक और क़ानूनी अंकुश के फलस्वरूप सामाजिक मर्यादा ज़रूर बनी हुई है, किन्तु जैसे ही मनुष्य को अवसर मिला है, उसका मौलिक लैंगिक पशु-भाव जाग्रत हो उठता है। व्यभिचार इसी का नाम है। एकपक्षीय होने पर यही बलात्कार है। इस आचरण या दुराचरण का

संबंध व्यक्ति के सामाजिक स्तर से नहीं है। मनुष्य में सु और कु दोनों प्रकार की वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। स्त्री-पुरुष के यौन संबंधों के विषय में देश-काल के अनुसार नैतिक मानदंड बनते-बदलते रहे हैं। किसी एक देश या जाति के लिए, किसी काल में, जो 'कु' रहा, वह ज़रूरी नहीं अन्य देशों और जातियों के लिए भी (या उसी देश या जाति के लिए किसी अन्य काल में) वह 'कु' माना गया हो। अतः प्रस्तुत कहानी जिस देश व काल से संबंध रखती है, मात्र उसकी नैतिक मान्यताएँ ही कहानी के पात्रों के मानस को गढ़ेंगी। 'अपनी करनी' के सभी पात्रों की मानसिकता इस संदर्भ में समान है। यौन-तृष्णा की तृप्ति का अनैतिक रूप मात्र सामाजिक पृष्ठभूमि पर इस कहानी में द्रष्टव्य है। मनुष्य-मन के मनोवैज्ञानिक चिन्तन-अध्ययन से उसे जोड़ने का यहाँ कोई औचित्य नहीं।

'अपनी करनी' में कुल पाँच पात्र हैं। कहानी का प्रवक्ता उत्तम-पुरुष पात्र कुँअर श्यामसिंह, उसकी पत्नी इन्दुमती, महाराजा साहब, दुर्जन नाम का माली और उसकी बेटी फूलमती।

कुँअर श्यामसिंह महाराजा साहब के पुराने वसीकादार हैं। उनके बुजुर्गों ने महाराजा साहब के खानदान की जान लगाकर सेवाएँ की थीं और उन्हीं की खातिर यह वसीका उन्हें दिया गया था। इसका उद्देश्य था कि कुँअर श्यामसिंह अपने खानदान की परिवरिश करें, अपने लड़कों को इस योग्य बनाएँ कि वे राज्य की कुछ खिदमत कर सकें, उन्हें शारीरिक और नैतिक शिक्षा दें ताकि उनकी जात से रियासत की भलाई हो। कुँअर श्यामसिंह ऊँचे खानदान के थे। बहुत पढ़े-लिखे। फ़ारसी, और संस्कृत और अंग्रेजी के ज्ञाता। भाग्यशाली। प्रतिष्ठित। समृद्ध। रूपवान, सती-साध्वी प्रतिप्राणा पत्नी (इंदुमती)। दो बच्चे। किन्तु माली की लड़की (फूलमती) के प्रति आशनाई ने उन्हें कहीं का न रक्खा। अवैध संबंधों की बात महाराजा साहब को पता चल गयी अपमानित होना पड़ा। बदनामी और शर्मिन्दगी झेलनी पड़ी। वास्तव में फूलमती से न उन्हें मुहब्बत थी और न फूलमती को उनसे कोई आत्मीयता। दोनों के संबंध मात्र वासना-तृप्ति के निमित्त थे। फूलमती के पीछे कुँअर साहब ने अपनी पत्नी के साथ दगा की। जलाया, रुलाया, तड़पाया। झूठा प्रेम-प्रदर्शन किया। बाद में उदासीन हो गये। उपेक्षा की। फूलमती की सेवा में मशगूल हो गये। उसे गहनों-कपड़ों के उपहार ला-ला कर दिये। 'अपनी करनी' कहनी का यह प्रमुख पात्र कुँअर श्याम सिंह अपनी ज़िन्दगी का कच्चा चिट्ठा स्वयं खोलता है। उसे अपनी करनी का पश्चाताप होता है। पश्चाताप की ज्वाला

में दग्ध व्यक्ति की मानसिकता कुँअर श्यामसिंह की बातों और क्रियाओं में द्रष्टव्य है। इस प्रकार, कुँअर श्यामसिंह के दो रूप हैं। एक-माली की लड़की से अवैध संबंधों के दौरान का और दूसरा-चोरी पकड़ी जाने के बाद का। दोनों रूप स्वयं उसके द्वारा ही वर्णित हैं। आत्म-ग्लानि से उसकी नैतिक संवेदना जाग उठती है। तटस्थ भाव से वह अपनी मक्कारी और हरामकारी का बयान करता है। महाराजा साहब उसकी बेहूदा ऐशपरस्ती से नाराज़ होकर उसका नाम वसीकादारों की फ़ेहरिस्त से ख़ारिज कर रियासत के मालियों की फ़ेहरिस्त में दर्ज़ कर देते हैं। उसकी जगह उसकी पत्नी इंदुमती का नाम वसीकादारों की फ़ेहरिस्त में दर्ज़ कर दिया जाता है। इस बदनामी और अपमान से कुँअर श्यामसिंह का हृदय-परिवर्तन होता है। उन्हें पछतावा होता है। अपनी पत्नी का आश्रित बनकर रहना नहीं चाहता। अतः शहर से भाग जाता है। बम्बई की एक मिल में नौकरी करने लगता है। गुप्त रूप से एक बार अपने घर गया भी, किन्तु अपना कालिख लगा मुँह दिखाने का साहस न जुटा सका। अपनी हरकतों पर शर्मिन्दगी महसूस करता रहा। कुँअर श्यामसिंह के माध्यम से एक ऐसे पात्र की मानसिकता उजागर हुई है, जिसकी **‘नैतिक संवेदना अभी भोंथी नहीं हुई है।’** इसीलिए वह अपनी ज़िन्दगी के शेष दिन गिरी-पड़ी हालत में काटने को उद्यत होता है। लौट कर पत्नी-बच्चों के बीच नहीं जाता।

‘अपनी करनी’ का परिवेश चूँकि दाम्पत्य है, अतः दूसरा प्रमुख पात्र इंदुमती को मानना होगा। इन्दुमती के रूप-रंग, स्वभाव और चरित्र का बखान स्वयं उसके पति कुँअर श्यामसिंह विस्तार से करते हैं। सती, साध्वी, पतिप्राणा, पवित्र स्त्री, सुंदरता के साँचे में ढली आदि विशेषण उन्हीं के दिये हुए हैं। कुँअर श्यामसिंह के अनुसार इंदुमती ने **‘मेरे हुक्म और अपनी इच्छा में कभी कोई भेद नहीं किया।’** कभी शिकायत नहीं की। गुस्सा नहीं किया। वह क्षमा की देवी थी। उसकी रग-रग में शराफ़त भरी थी। तिरिया-चरित्तर का अभाव था। पति-जुल्मों को झेलती रही। आत्म-बलिदानी थी। भोली थी, पर ऐसी नादान नहीं कि पति की हरकतों को समझती न हो। पति की बेवफ़ाई और लापरवाही का बयान उसने बूढ़ी औरत कुटनी के समक्ष किया ही। लेकिन खामोश रह कर घर चलाती रही, बच्चों का पालन-पोषण करती रही। इसके लिए उसे अपने जेवर तक बेचने पड़े। पति के भाग जाने के बाद अपने प्रबन्ध-कौशल से घर की हालत बखूबी सँभाली। पति के प्रति बफ़ादार रही। पति को खोज पाने के लिए अखबारों में इश्तहार तक

छपवाए। इंदुमती के रूप में, प्रेमचंद ने वही परम्परागत भारतीय नारी की मानसिकता को मूर्त किया है, जिसके लिए पति ही ईश्वर है। घर की चारदीवारी के बाहर कभी नहीं झाँकती। घर ही उसकी सम्पूर्ण दुनिया है। पति के भटकाव में उसका कोई कसूर नहीं है। पति के प्रति उसका एकांत निष्ठा-भाव ही उसे विजयी बनाता है। कुँअर श्यामसिंह के हृदय में वह देवी के आसन पर प्रतिष्ठित है।

अन्य पात्र गौण पात्र हैं। फूलमती दुर्जन नामक महाराजा साहब के बाग़ के माली की जवान कुँआरी बेटी है। दुर्जन का वेतन मात्र पाँच रुपये मासिक है। गरीब होने के कारण वह अपनी बेटी के शौक़ कैसे पूरे कर सकता था ! इधर, वैभवशाली कुँअर श्यामसिंह उस पर डोरे डालने में सफल हो जाते हैं। दुर्जन महाराजा साहब के समक्ष अपना दर्द प्रकट करता है **‘छोकरी ने नाक कटा दी।’** किन्तु फूलमती पथ-भ्रष्ट हो ही जाती है। श्यामसिंह के बम्बई भाग जाने के बाद वह दूसरे रईस से रूप का सौदा कर लेती है। फूलमती का सामाजिक स्तर निम्न-वर्गीय है। लेकिन यौन-पवित्रता का सामाजिक स्तर से यहाँ कोई संबंध नहीं। अकेला माली अपनी बेटी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाता कारण पारिवारिक-आर्थिक-सामाजिक जो भी रहे हों। महाराजा साहब अनुभवी और चतुर हैं। अमीरजादी बनी फूलमती को देखकर उनका शक़ सही निकलता है। कुँअर श्यामसिंह को सज़ा देने में भी उनका कौशल गज़ब का है। प्रेमचंद की ज़िन्दादिली उनकी अधिकांश रचनाओं के अनेक पात्रों में इसी प्रकार मुखर हुई है। महाराजा साहब का निर्णय अन्ततोगत्वा प्रेमचंद का ही निर्णय है।

(8) अभिलाषा

‘अभिलाषा’ का संबंध पति-पत्नी के पारस्परिक स्थाई आकर्षण और मधुर रिश्तों से है। कहानी का प्रारम्भ एक निम्न-वर्गीय दम्पति (पान बेचने वाले) के किसी झगड़े से होता है। पुरुष अपनी स्त्री को मार रहा है। यह प्रसंग असम्बद्ध अधिक व भूमिका के निमित्त कम प्रतीत होता है। कहानी की नायिका, इस घटना से निष्कर्ष निकालती है- **‘अबला स्त्री के प्रति पुरुष का यह अत्याचार ! एक दिन इस स्त्री पर उसने प्राण दिए होंगे। उसका मुँह जोहता रहा होगा। ..**
...पुरुष सब कुछ है, स्त्री कुछ नहीं। पुरुष जब चाहे उसे निकाल बाहर कर

सकता है।' यद्यपि यहाँ पान वाले की स्त्री ने विद्रोह किया है। उसने अपने पति से कहा **‘बस, मारोगे तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुझसे कोई संबंध नहीं। मैं भीख माँगूगी, पर तेरे घर नहीं आऊँगी।’** और बिना कुछ कहे-सुने वह घर छोड़ कर चली भी गयी। पान बेचने वाले ये दोनों स्त्री-पुरुष अपने सामाजिक स्तर के अनुरूप आचरण करते हैं। कथा-नायिका और उसके पति का सामाजिक स्तर भिन्न है। किन्तु पति-पत्नी के स्तर पर दोनों समान हैं। विवाह के बाद, कुछ दिनों तक, पति का पत्नी के प्रति जो आकर्षण, लगाव और उत्कट प्रेम-भाव रहता है, वह आगे चलकर ठंडा पड़ जाता है। निम्न-स्तरीय वर्ग में यह ठंडापन पान वाले के स्तर तक पहुँच सकता है, अन्यत्र भी उदासीन भाव तो परिव्याप्त हो ही जाता है। लेकिन यह सचाई का एक पक्ष है। कहीं-कहीं, विवाहोपरान्त पति-पत्नी में आत्मीय रिश्ते प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होते देखे गये हैं। भारतीय परिवारों में तो पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों की पृष्ठभूमि इस सुदृढ़ मानसिकता पर ही निर्मित है कि उनका यह दाम्पत्य संबंध सनातन है, जन्म-जन्मान्तरों का है। किन्तु ‘अभिलाषा’ कहानी के मूल तत्त्व को भी नकारा नहीं जा सकता। प्रेमचंद कथा-नायिका के पारिवारिक जीवन का विश्लेषण करते हुए, जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह कितना मनोवैज्ञानिक है, कितना वास्तविक है यह देखना है। ‘अभिलाषा’ में पत्नी की मानसिकता ही सक्रिय है। उसी का चिन्तन और मानसिक ऊहापोह कहानी को आकार देता है।

मात्र प्रवक्ता उत्तम-पुरुष पात्र का जो स्त्री है, पत्नी रूप ‘अभिलाषा’ में उपलब्ध है। अंत में, पति का प्रवेश भी हुआ है, पर कुछ ही क्षणों को-मात्र कुछ औपचारिक संवादों के लिए। अतः ‘अभिलाषा’ एकपात्री कहानी है।

कहानी की प्रवक्ता उत्तम-पुरुष पात्री का नाम कामिनी है। ‘अभिलाषा’ उसी की जीवन-अभिलाषा की कहानी है। इस जीवन-अभिलाषा की पूर्ति का रहस्य कथा-नायिका को विदित हुआ ज़रूर है। उसे दाम्पत्य जीवन के सुख की कुंजी मिली ज़रूर है। किन्तु वह सब मानव-जीवन के एक सनातन सत्य की ओर इंगित है मात्र वैचारिक या भावना के स्तर पर। वह भोगी हुई सचाई नहीं है। महादेवी वर्मा की काव्य-पंक्तियाँ उसे जीवन-सुख के रहस्य से परिचित भर कराती हैं। उन पंक्तियों का भावार्थ है कि वियोग-विरह दाम्पत्य जीवन का रस है, आनन्द है। कामिनी का विवाह हुए पाँच वर्ष बीत चुके हैं। इस अवधि में उसे कभी विरह का अनुभव नहीं हुआ। उसने इस आशय का देवी से वरदान भी माँगा था। किन्तु

विरह के अभाव में उसे लगा जैसे उसके हृदय की प्रेम-अभिलाषा प्रसुप्त हो गयी है। अपने पति में भी वह इसी कारण आकर्षण, रुचि और प्रेम की कमी महसूस करती है। पति के व्यवहार और प्रेम में अब वह तीव्रता, सनसनी और गुदगुदी नहीं रही, जो वैवाहिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में थी। वह सोचती है **‘में ही और हो गयी हूँ या पतिदेव ही कुछ और हो गये।’** अन्यथा वह पति से संतुष्ट है। पर, उसके जीवन में पूर्व जीवन का-सा उल्लास नहीं रहा। पूर्व में, पति द्वारा उपहार में दिए गये एक अल्पमोली साधारण मुरझाए गुलदस्ते में उसे आज भी जिस प्रेम की अनुभूति होती है, वह इधर के दिए गये बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों के उपहारों से नहीं होती। अतीत के स्मृति-चिन्ह उसके लिए आज भी उतने ही मादक हैं। उनके स्पर्श से उसकी नस-नस में बिजली दौड़ पड़ती है। वे आज भी उसे रोमांचित कर जाते हैं। उस ज़माने के लिखे पत्र तक में, उसकी दृष्टि में, जीवन-रस भरा हुआ है। उसमें जो निष्कपट मानपूर्ण आग्रह है, प्रेमपूर्ण-साधिकार पूर्ण जो धमकी है, वह पत्र पति से उसके संबंधों को विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है। आज भी, उसके पति पाँच-दस रोज़ को ही जब बाहर जाते हैं, तब उसे प्रतिदिन पत्र भेजते हैं। पर, उन पत्रों में वह सजीव भाव, सहज शब्द, अभिन्नता, रस, उन्माद, क्रोध, और झुंझलाहट परिलक्षित नहीं होती। इस रहस्य को वह जानना चाहती है। किन्तु वह अज्ञात, अव्यक्त, अलक्षित बना रहता है। यही रहस्य तब उजागर होता है, जब वह वियोग पीड़ा की कसक से सिक्त महादेवी वर्मा की काव्य-पंक्तियाँ सुन, भाव-तल्लीनता में वियोग-द्रश्य की कल्पना करती है। वह जान पाती है **‘जो कभी रो नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता। रुदन और प्रेम दोनों एक ही स्रोत से निकलते हैं।’** यही अनुभूति, उसके पति को भी, वे काव्य-पंक्तियाँ सुनकर होती है। भावना के इस लोक में पहुँच कर कामिनी की अभिलाषा पूर्ण होती है। उसे **‘आज फिर पतिदेव का हृदय धड़कता हुआ सुनाई दिया, आज उनके स्पर्श में फिर स्फूर्ति का ज्ञान हुआ।’** भावना के स्तर पर इसी अतुल सुख की चाह उसे थी। पति जो अपनी स्थूल अभिलाषाओं की पूर्णताओं से संतुष्ट था, भावना-लोक की एक अचीन्ही अभिलाषा की संतुष्टि से रोमांचित हो उठा।

‘अभिलाषा’ की कथा-नायिका कामिनी का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रेमचंद ने प्रस्तुत ज़रूर किया है, किन्तु इस लघु-विस्तारी रचना में उसे वांछित अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी है। ‘अभिलाषा’ के दोनों पात्रों (पति-पत्नी) के व्यक्तित्व के अन्य

पहलू पाठकों को विदित नहीं हो पाते। मात्र इतना बोध होता है कि वे समृद्ध हैं, भौतिक सुख-सुविधाएँ उन्हें सुलभ हैं। निश्चिन्त हैं। पति की अपेक्षा पत्नी के पास पर्याप्त अवकाश है। अतः उसका ध्यान जीवन के गूढ़ रहस्यों की ओर जाता है।

(9) अमावस्या की रात्रि

‘अमावस्या की रात्रि’ शीर्षक कहानी के दो पक्ष हैं। एक पं. देवदत्त का जो पूर्वजों की अथवा पैतृक प्रतिष्ठा पर जीवित है। जीवन-निर्वाह के लिए कोई काम नहीं करता। खास पढ़ा-लिखा नहीं। घटिया काम कर नहीं सकता। परिवार की प्रतिष्ठा के प्रश्न के कारण। ‘साल में दो तीन बार अपने पुराने व्यावहारियों के घर बिना बुलाए पाहुनों की भाँति जाते और जो कुछ विदाई तथा मार्ग-व्यय पाते उसी पर गुज़ारा करते।’ कहानी का दूसरा पक्ष वैद्य लाला शंकरदास से सम्बद्ध है। कभी लगता है, वैद्य-वर्ग की धन-लोलुपता को प्रदर्शित करना ही, इस कहानी का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार, सामाजिक स्तर पर, एक ओर एक ऐसा वैद्य है, जो अपने पेशे को व्यवसाय-व्यापार मानता है, तो दूसरी ओर एक ऐसा व्यक्ति है जो एक प्रकार से कंगाल है। दरिद्रता का दुःख झेल रहा है। एक महीने से अस्वस्थ पत्नी (गिरिजा) की दवा-दरपन तक को उसके पास पैसे नहीं।

प्रस्तुत कहानी के अन्य दो पात्र गौण हैं। गिरिजा (पं. देवदत्त की पत्नी) और राजनगर का जागीरदार एक नवयुवक। पं. देवदत्त और वैद्य लाला शंकरदास की मानसिकता ही ‘अमावस्या की रात्रि’ का कथानक बनती है। इन दोनों पात्रों की ज़िन्दगी से कुछ सबक भी मिलता है।

स्थान श्रीनगर नामक कस्बा है और काल दीपावली की संध्या। पं. देवदत्त के पिता लेन-देन का व्यवसाय करते थे। सन् 1957 के बलवे में उनका परिवार मिट्टी में मिल गया। विरासत में पं. देवदत्त को मात्र एक उजाड़, टूटा-फूटा विशाल मकान मिला और मिला पुरानी चिड़ी-पत्रियों का ढेर तथा हंडियों का पुलिंदा। यह बाप-दादों की कमाई का शेषांश लगभग सत्तर लाख रुपयों का ठहरता था। एक दीपावली की रात, जब इस धन के लौट आने की उम्मीद निराशा में बदल गयी तो पं. देवदत्त ने इन्हें दिए से जलाना क्रमशः शुरू किया। उसी क्षण उनकी तक्दीर पलटी। हाथी पर एक नवयुवक ठाकुर उनके घर आया। यह राजनगर का

जागीरदार था। उसके पितामह ने पं. देवदत्त के पितामह से पच्चीस सहस्र रुपये कर्ज लिए थे। ठाकुर गया जाकर पूर्वजों का श्राद्ध करने निकला था। अतः पूर्वजों का ऋण चुका देना उसके लिए अनिवार्य था। सौभाग्य से पं. देवदत्त को वह पुर्जा मिल गया। ब्याज सहित पिचहत्तर हजार रुपये ठाकुर पं. देवदत्त को सौंप गया। इतनी धनराशि अचानक पाकर पं. देवदत्त का उन्मत्त हो जाना स्वाभाविक था। किन्तु इस घटना के कुछ क्षण पूर्व ही उसकी पत्नी गिरिजा के प्राण-पखेरू उड़ चुके होते हैं। पत्नी की लाश और पिचहत्तर हजार रुपये दोनों एक साथ पं. देवदत्त को हस्तगत होते हैं। गरीबी के कारण वह अपनी पत्नी का समुचित उपचार न करवा सका। उस रात वैद्य लाला शंकरदास के यहाँ जाते हैं और पूरे पिचहत्तर-हजार रुपये उसके आगे पटक देते हैं गिरिजा की आँखें बस एक बार खोल देने के लिए। उन्हें गिरिजा की आवश्यकता है, रुपयों की नहीं। पं. देवदत्त की ज़िन्दगी का इतना भाग 'अमावस्या की रात' में चित्रित है। अमावस्या की वह रात उनका सौभाग्य भी लाती है और दुर्भाग्य भी। पं. देवदत्त की मानसिकता मात्र एक गरीब की मानसिकता नहीं है। उसकी पृष्ठभूमि में संस्कार हैं। परिवारिक प्रतिष्ठा का थोथा दम्भ है। इसी कारण आजीविका हेतु वह कोई तथाकथित घटिया काम नहीं करता (और शायद, अपने खण्डहर मकान को भी नहीं बेचता)। उसने स्वयं को 'कपूत' कहा है। जो व्यक्ति बाप-दादों की कमाई पर ज़िन्दा रहना चाहता है और स्वयं कोई काम करना नहीं चाहता; वह समाज का निकृष्टतम प्राणी माना जाता है।

लेकिन पाठकों की सहानुभूति पं. देवदत्त के प्रति बनी रहती है। उसकी सामाजिक और मानसिक स्थिति का विश्लेषण वह प्रथम नहीं कर पाता। गिरिजा की मृत्यु का करुण प्रसंग पाठकों के आक्रोश को वैद्य लाला शंकरदास के प्रति मोड़ देता है।

वैद्य लाला शंकरदास 'प्राण संजीवनी औषधालय' चलाते हैं। जहाँ दवाइयाँ कम बनती हैं, दवाइयों के विज्ञापन अधिक छपते हैं लोगों को ठगने के लिए। लाला जी ने औषधालय में निजी छापखाना डाल रखा है। वैद्य जी का हृदय ठोस है, उसमें कहीं भी कोई कोमल भाग नहीं। बिना फीस कहीं जाते नहीं। रात में फीस दुगनी लेते हैं। उनका मत है- **'यदि कोई निर्धन है तो हो। यदि कोई मरता हो तो मरे। उसे क्या अधिकार है कि वह बीमार पड़े और मुफ्त में दवा कराए ? भारतवर्ष यह दशा अधिकतर मुफ्त दवा कराने से हुई है।'**

इसने मनुष्यों को असावधान और बलहीन बना दिया है।’ पं. देवदत्त की आरजुओं-मित्रों से उन्हें ‘पहले कुछ तरस आया, किन्तु वह जुगुनू की चमक थी जो शीघ्र स्वार्थ के विशाल अंधकार में विलीन हो गई।’ रुपये उन्हें मनुष्य की जान से प्यारे हैं। ‘अमावस्या की रात्रि’ के इस पात्र का अंत में हृदय-परिवर्तन दिखलाया गया है। वैद्य जी में मनुष्यता जागती-सी प्रतीत होती है। गिरिजा की मृत्यु और पं. देवदत्त के उन्माद से उन्हें अपराध-बोध होता है। वे देवदत्त के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हैं। उन्हें अत्यंत शोक होता है। पुनः ऐसी भूल न करने का प्रण लेते हैं। इसी स्थल पर कहानी समाप्त हो जाती है। कहानी की मूल संवेदना वैद्य जी के आचरण से सम्बद्ध है। गिरिजा की मृत्यु के प्रति बहुत-कुछ अंशों में वे ही उत्तरदायी हैं। वस्तुतः वैद्य लाला शंकरदास अपने वर्ग के प्रतीक हैं। उनकी मानसिकता विशिष्ट नहीं। वैद्य या डाक्टर मात्र की है। अधिकांश वैद्यों-हकीमों-डाक्टरों का सोच कुछ इसी प्रकार का पाया जाता है। धन कमाना उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। धन-लोलुपता उनकी मानवी संवेदना को भोथरा बना देती है। मृत्यु उनके लिए एक सामान्य घटना होती है।

प्रस्तुत कहानी में राजनगर के नवयुवक ज़मींदार में जो धार्मिक भावना दिखाई गयी है, उसके प्रति भी प्रेमचंद का एक निश्चित दृष्टिकोण है। गया-श्राद्ध के प्रति वे हमारी अंध-आस्था को पुष्ट नहीं करते, प्रत्युत व्यक्ति-आत्मा की शुद्धता पर जोर देते हैं। धर्म विषयक उनके विचार इसलिए रेखांकित-योग्य हैं **‘धर्म ही वह शक्ति है जो अन्तःकरण में ओजस्वी विचारों को पैदा करती है। हाँ, इस विचार को कार्य में लाने के लिए एक पवित्र और बलवान आत्मा की आवश्यकता है। नहीं तो वे विचार क्रूरता और पापमय हो जाते हैं।’** ‘अमावस्या की रात्रि’ में प्रेमचंद मनुष्य की सद्वृत्तियों को जगाने में सजग हैं।

(10) अमृत

‘मुहब्बत रूह की खुराक है। यह वह अमृत की बूँद है जो मरे हुए भावों को जिन्दा कर देती है।’ ‘अमृत’ शीर्षक कहानी का कथा-नायक एक शायर (अख़्तर) है। उर्दू-शायरी ज़्यादातर प्रेमपरक है। शायद, अख़्तर भी मुहब्बत को ‘आत्मिक वरदान’ मानते हैं। **‘यह जिन्दगी की सबसे पाक, सबसे ऊँची, सबसे मुबारक बरकत है।’** ‘अमृत’ कहानी शायरों और शायरी-पसंद अदीबों की कहानी है। कहानी का एक पात्र अख़्तर यदि शायर है तो दूसरा पात्र मिस आयशा

आरिफ़ शायरी की (विशेष रूप से अख़्तर की शायरी की) आलोचक। इस प्रकार दोनों पात्रों का सामाजिक स्तर ही समान नहीं है, प्रत्युत दोनों पात्रों की मानसिकता का स्वरूप भी लगभग समान है। दोनों शायरी की दुनिया में जीने वाले प्राणी हैं। मनुष्य की मूल जीवन-प्रेरणाएँ तीन हैं यश, काम, और धन। मोक्ष की इच्छा वर्तमान बौद्धिक और वैज्ञानिक युग में इतनी अर्थवान नहीं रही। काम और धन की एषणाओं की तुलना में यश की इच्छा को श्रेष्ठतर माना गया है। यश की चाह मानव-जीवन की उच्चतर-महत्तर चाह है। साहित्यकारों-कलाकारों एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत बुद्धिजीवियों की मूल जीवन-प्रेरणा यश ही रहती है। कभी-कभी यश के साथ धन स्वतः प्राप्त हो जाता है। लेकिन मानव-जीवन में काम की प्रेरणा भी कोई कम बलवती नहीं। मनोविश्लेषण शास्त्रियों ने जिनमें फ्रायड प्रमुख हैं, मात्र काम को जीवन की मूल संचालिका शक्ति माना है। जहाँ तक शायरों का संबंध है, वे स्वभाव से ही रसिक होते हैं। नारी का रूप-सौन्दर्य उनकी काव्य-प्रेरणा का प्रमुख उत्स होता है। उर्दू शायरी में तो इश्क की प्रधानता है ही। उर्दू शायरी का अधिकांश जो लोकप्रिय है, वह यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप ही है। अन्यथा भी शृंगार (संयोग और वियोग) संसार भर की काव्य-चेतना पर हावी है।

प्रस्तुत कहानी के कथा-नायक अख़्तर, शायरी की मूल प्रेरणा यश है। यश के बाद उसकी चेतना काम के प्रति समर्पित है। यश के साथ धन की प्राप्ति तो उसे सहज ही जो जाती है। यश और काम संतुष्टि के लिए अख़्तर, शायरी के माध्यम से, जो कुछ चाहता व करता है, वह उसके चिन्तन व कार्य-कलापों में निहित है। शायरी के माध्यम से वह यश, धन और प्रेमिका-तीनों को पाता है।

प्रेमचंद-विरचित अधिकांश रचनाओं में उनकी जिन्दादिली किसी-न-किसी रूप में समाहित देखी जाती है। 'अमृत' में भी शायद अख़्तर दैनिक पत्रों में अपने मरने की ख़बर देकर, मृत्यु-पूर्व ही, अपनी मृत्यु के सार्वजनिक शोक का माहौल देखना चाहते हैं ! अपनी ख्याति का आनन्द लेना चाहते हैं। सचमुच, वे यह नाटक कर गुज़रते हैं। अख़्तर के शायराना मिज़ाज, ने तो उनकी मानसिकता को गढ़ा ही है, रचनाकार प्रेमचंद भी अपनी मानसिकता के साथ उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। उनके प्रवेश से कहानी का सारा फलक एक अद्वितीय आभा से मंडित हो जाता है। प्रेमचंद का शायर अख़्तर जो क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ करता है, वह अन्य कहानीकार का शायर पात्र कदापि नहीं कर सकता था।

प्रस्तुत कहानी शायर अख़्तर की ज़बानी बयान की गयी है। अख़्तर

उत्तम-पुरुष पात्र के रूप में कच्चा चिट्ठा खोलते चलते हैं। उठती जवानी में ही उन्हें शायरी से शौक हो गया था। उनके कलाम का ढंग निराला था। इस कारण वे उर्दू शायरी में अपना एक विशिष्ट स्थान और स्वतंत्र व्यक्तित्व बना सके। उनकी मसनवी 'दुनियाए हुस्न' के प्रकाशन से उन्हें शोहरत मिली, दौलत मिली। लगभग दो वर्ष बाद उनकी इच्छा हुई कि और बेहतर शायरी करने के लिए एकान्तवास किया जाये। शायद यह, इच्छा; प्रदर्शन और ख्याति से ऊब कर नहीं, और अधिक यश भोगने की लालसा से। चुनांचे अख़्तर नैनीताल पहाड़ पर निकल गये। वहाँ 'नैरंग' रचना की शुरुआत की। किन्तु रचना कर नहीं सके। शायर को यह महसूस हुआ कि कहने को कुछ शेष ही नहीं रहा। जैसे वह चुक गया हो। अतः रचना-अक्षमता की निराशा ने उसे घेर लिया। इसी मनः स्थिति में उसने दैनिक पत्रों में मरने की झूठी ख़बर छपवा दी। शायर साहब अख़्तर की मृत्यु (अवास्तव) के बाद उनकी प्रशंसा में जो कुछ प्रकाशित हुआ, उससे वे संतुष्ट नहीं हुए। उन्हें उनकी समग्र कविता पर निगाह डालने वाला कोई आलोचक नहीं दिखाई दिया। और, इस मोड़ पर, अचानक, वे एक ऐसी आलोचक-लेखिका को पा सके जो उनके कलाम की विशेषज्ञ निकली। अजमेर की पब्लिक लाइब्रेरी में मिस आयशा आरिफ़ की पुस्तक/पत्रिका 'कलामे अख़्तर' उन्हें पढ़ने को मिली। वे इस आलोचना से अत्याधिक प्रभावित हुए। मिस आयशा उन्हें सुरुचि की देवी लगीं। उनकी आलोचना की विशेषता स्वयं अख़्तर की दृष्टि में इस प्रकार थी

'शायर के कलाम को दोषों की दृष्टि से नहीं, उनकी खूबियों की दृष्टि से देखना चाहिए। उसने क्या नहीं किया, यह ठीक कसौटी नहीं। उसने क्या किया, यह ठीक कसौटी है।' स्पष्ट है, इसी कारण अख़्तर को 'कलामे अख़्तर' अच्छा लगा। यहाँ भी उसकी शायर की आंतरिक लालसा झलक रही है।

वह अपने वैशिष्ट्य उद्घाटन से अपने को संतुष्ट अनुभव करता है। लेकिन, इस प्रसंग का एक दूसरा पहलू भी है, जो शायर की काम-चेतना से जुड़ा है। यह आकस्मिक है, 'कलामे अख़्तर' की लेखिका औरत है, और वह भी मिस ! अख़्तर पूर्व में ही बता चुके होते हैं कि वे सौन्दर्य के प्रति तटस्थ नहीं रह पाते। औरत के प्रति उनका दृष्टिकोण भोग का है। किसी आन्तरिक प्रेरणावश वे (उनका प्रेत !) आयशा के बँगले पर जा पहुँचते हैं। वहाँ कक्ष की दीवार पर स्वयं की तस्वीर लटकी देखते हैं। आयशा को देखकर उस पर आसक्त ही नहीं होते; वह उनकी शायरी की प्रेरणा-स्रोत बन जाती है। ज़ज्वात की कश-म-कश में उस पर एक

नज़्म लिखी; जिसे वे अपनी सबसे शानदार दौलत मानते हैं। आयशा को पाकर उनके दिल में मीठे भावों का सोता खुल गया। वे 'नैरंग' पूर्ण कर सके। 'नैरंग' उनकी मुबारक ज़िन्दगी की यादगार बना और आयशा से संबंधों की परिणति विवाह में हुई। यों अख़्तर की शायरी और ज़िन्दगी एकरूप बन सकीं। 'अमृत' एक रोमानी शायर के व्यक्तिगत जीवन की कहानी है। उसका काव्य-फलक नारी के रूप-सौन्दर्य तक ही विस्तृत है। विराट् सामाजिक-राजनीतिक संसार से उसे कोई वास्ता नहीं। जन-साधारण के सुख-दुख से उसे कोई सरोकार नहीं।

मिस आयशा आरिफ़ कहानी में स्वयं विशेष सक्रिय नज़र नहीं आतीं। वे व्यक्ति-शायर अख़्तर के प्रति आकर्षित ज़रूर बताई गयी हैं। उसकी शायरी से तो वे पहले से ही प्रभावित हैं। लगता है, उनकी रचना खुदा ने नहीं किसी शायर ने की है। अख़्तर उनके प्रथम-दर्शन का बयान इन लफ़्ज़ों में करता है। **'साँवला रंग था, चेहरा एक गम्भीर घुलावट से चमक रहा था। बड़ी-बड़ी नरगिसी आँखों से सदाचार की, संस्कृति की रोशनी झलकती थी। क़द मँझोले से कुछ कम। अंग-प्रत्यंग छरहरे, सुथरे, ऐसी हलकी-फुलकी कि जैसे प्रकृति ने उसे भौतिक संसार के लिए नहीं, किसी काल्पनिक संसार के लिए सिरजा है। कोई चित्रकार कला की उससे अच्छी तस्वीर नहीं खींच सकता था।'** मिस आयशा आरिफ़ में सब कुछ मौजूद है बुद्धि और सही आलोचना दृष्टि ही नहीं, रूप-सौन्दर्य ही नहीं, सदाचार-संस्कृति भी। आयशा के रूप में प्रेमचंद एक शायर की ज़िन्दगी में बहार लाते हैं। उनका कहानी-लोक विधाता के भौतिक-लोक से कोई कम समृद्ध और आश्चर्यजनक नहीं।

(11) अलगयोझा

'अलगयोझा' ग्रामीण जीवन की पारिवारिक कहानी है। इसके पात्र खेतिहर हैं। तथाकथित ऊँची जाति (ब्राह्मण, ठाकुर) के नहीं हैं। उनकी मानसिकता जाति-प्रभावित मानसिकता है। वे अपने समाज की मर्यादाओं-व्यवस्थाओं के अनुरूप सोचते हैं और कार्य-कलाप करते हैं। ग्रामीण जीवन की कहानी होने के कारण पात्रों का सामाजिक स्तर भी तदनुकूल है। निर्धनता है। आजीविका श्रम पर निर्भर है। प्राचीन परम्पराओं के प्रति लगाव है। 'अलगयोझा' जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, सम्मिलित कुटुम्ब के टूटने की दास्तान है। शिक्षित नगरीय परिवारों

में ही नहीं, पिछड़े ग्रामीण परिवारों में भी अलग्योझा की समस्या है। नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के साथ निबाह नहीं कर पाती। प्रायः मूल कारण आर्थिक होता है। इसके अलावा पारिवारिक वर्चस्व, अधिकार-भावना, स्वतंत्रता आदि भी अनेक कारण होते हैं। अलग्योझे की जड़ में अधिकतर नवागत बहू होती है। सास-बहू के परस्पर समायोजन के अभाव में पारिवारिक क्लेश जन्म लेते हैं, पारस्परिक संबंधों में कटुता बढ़ती है और उनकी परिणति अलग्योझे में होती है। माना कि इसके प्रति पुत्र भी थोड़ा या अधिक उत्तरदायी होता है। सौतेली माँ के कारण तो सम्मिलित कुटुम्ब और भी जल्दी टूटते हैं। 'अलग्योझा' में रघू यद्यपि सौतेली माँ के प्रति आदर-भाव रखता है और अलग्योझा मात्र उसकी पत्नी मुलिया के कारण होता है; तथापि सौतेलेपन की मूल भावना मुलिया की मानसिकता को तीखा करने में सहायक होती ही है और वह अलग्योझे के लिए इस क़दर अड़ती है।

'अलग्योझा' के परिवार का संबंध दो पीढ़ियों से है। भोला महतो की पहली पत्नी का पुत्र रघू है। पन्ना उसकी दूसरी पत्नी है। पन्ना के तीन बेटे (केदार, खुन्नू, लछमन) और एक बेटी (झुनिया) हैं। रघू का विवाह मुलिया से हाता है। इस विवाह के बाद ही पारिवारिक शांति भंग होना शुरू होती है। कहानी में मुलिया के केवल दो बेटों का उल्लेख मात्र है। भोला महतो जब दूसरा विवाह करता है, तब रघू दस वर्ष का बताया गया है। दूसरे विवाह के आठ वर्ष बाद भोला की मृत्यु हो जाती है। इन आठ वर्षों में उसके चार संतानें हुईं। प्रस्तुत कहानी में भोला महतो का परिचय मात्र है। उसकी कोई भूमिका नहीं है। कहानी के प्रमुख पात्र रघू की मानसिकता के उद्घाटन के संदर्भ में, भोला महतो के दूसरे विवाह-पश्चात्, रघू के प्रति व्यवहार का बोध अवश्य महत्त्व रखता है। दूसरी पत्नी पन्ना को लाने के बाद भोला की आँखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे अब रघू में सब बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ नज़र आतीं। पन्ना की बातों को वह प्राचीन मर्यादानुसार आँखें बंद करके मान लेता था। रघू की शिकायतों की ज़रा भी परवाह न करता। रघू जिस पारिवारिक परिवेश में पलता-बढ़ता है, वहाँ न उसे माँ का स्नेह उपलब्ध है, न पिता का। किन्तु रघू जन्मजात ही मानवीय सद्गुणों से युक्त है। उसका स्वभाव और व्यवहार समुन्नत मानवता का परिचायक है। रघू, बेटे और पति के रूप में जो भूमिका निभाता है वह आदर्श है, उसकी चारित्रिक उज्वलता का प्रमाण है। पिता, भोला महतो से उपेक्षित और सौतेली माँ पन्ना से त्रस्त अठारह वर्षीय रघू, पिता की मृत्यु के बाद आपने सौतेले भाइयों और बहन के प्रति अभूतपूर्व स्नेह का

परिचय देता है। अपनी मोहर (गले आ आभूषण) पच्चीस रुपये में बेचकर, घर के लिए पाँच रुपये में गाय खरीद लाता है। सौतेली माँ पन्ना का अविश्वासी मन उसके प्रेम और सौजन्य से एक दिन अभिभूत हो कर रहता है। जहाँ उसकी धारणा थी **‘शायद, दुनिया को दिखाता है कि मैं अपने भाइयों को कितना चाहता हूँ और मन में छुरी रखी हुई है। घात मिले तो जान ही ले ले। काला साँप है, काला साँप।’** वहीं, पाँच-वर्ष के अन्दर-अन्दर उसकी मेहनत और ईमानदारी देखकर उसका हृदय पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है। चौदह वर्षीय पुत्र केदार से वह कहती है **‘रघू तुम्हारा भाई नहीं, तुम्हारा बाप है।’** रघू के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हुई कहती है- **‘तुमने मेरे बाल-बच्चों के लिए जो कुछ किया वह भूल नहीं सकती।’** **‘तुम्हारा जस मरते दम तक गाऊंगी, अगर मेरी खाल तुम्हारे जूते बनाने के काम आए तो खुशी से दे दूँ। चाहे तुमसे अलग हो जाऊँ, पर जिस घड़ी पुकारोगे, कुत्ते की तरह दौड़ी आऊँगी।’** पन्ना के आग्रह पर ही रघू पत्नी मुलिया को नैहर से लाता है। मुलिया में स्वार्थ-भावना अधिक है। वह अलग्योझा-पसंद है। फूट का रोग उसके घर में प्रविष्ट हो जाता है और न चाहते हुए भी, एक दिन अलग्योझा हो जाता है। यह उसके परिवार में एक बड़ी घटना घटती है, जो धीरे-धीरे उसे तोड़ देती है। रघू का यह कथन असत्य नहीं निकला **‘जिस दिन इस घर में दो चूल्हें जलेंगे, उस दिन मेरे कलेजे के दो टुकड़े हो जाएंगे।’** रघू के चरित्र में प्रेमचंद ने मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता का परिचय दिया है। रघू की मानसिकता का उद्घाटन बड़े कलात्मक ढंग से हुआ है। उसकी मनःस्थिति को प्रेमचंद अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं **‘एक अज्ञात शंका उसके मन पर छाई हुई थी, जैसे भोला उसकी ओर तिरस्कार की आँखों से देखा रहा है।’** रघू को अपराध-भावना से ग्रस्त चित्रित किया गया है **‘वह गाँव में निकलता, तो इस तरह मुँह चुराए, सिर झुकाए, मानो गो-हत्या की हो।’** पाँच वर्षों के भीतर ही, दो लड़कों का बाप रघू दुर्बल और अशक्त हो जाता है। ऋणी बन जाता है। कमर झुक जाती है। बाल खिचड़ी हो जाते हैं। जवानी में बूढ़ा हो जाता है और खाँसी और धीमे ज्वर का शिकार हो कर शीघ्र मर जाता है।

पन्ना ने बहू मुलिया से निबाह करने की भरसक चेष्टा की। अनेक बार अपूर्व सहनशीलता का परिचय दिया। किन्तु मुलिया को अलग्योझे के दुराग्रह से विमुख न कर सकी। पन्ना की मानसिकता के भी अनेक पहलू हैं। विवाह के आठ

वर्ष बाद ही वह विधवा हो जाती है। वह रूपवती थी, गर्ववती थी, जवान थी। किसी की दबैल बन कर रहना नहीं चाहती थी। बड़ी सुगमता से दूसरा घर कर सकती थी। किन्तु उसने हर बार परिस्थितियों से समझौता किया। अलगगोझे के प्रसंग में, उसको रघू के प्रति स्नेह ने जकड़ लिया। प्रेमचंद इस ग्रामीण नारी की समझ को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। पन्ना रघू का मनोवैज्ञानिक उपचार करती है। वह जानबूझ कर ऐसा आचरण करना चाहती है कि मानों वह भी अलगगोझे के पक्ष में है। वह सोचती है **‘उसे रघू से लड़ाई करनी पड़ेगी, उसे जली-कटी सुनानी पड़ेगी, उसे यह दिखाना पड़ेगा कि मैं उससे अलग होना चाहती हूँ, नहीं तो वह इसी चिन्ता में घुल-घुल कर प्राण दे देगा।’** स्वयं को उसकी नज़रों से जानबूझ कर गिरने का यह कदम ग्रामीण नारी के लिए कोई गूढ़ नहीं। रघू के प्रति हित-चिन्ता का यह प्रकटीकरण मनोवैज्ञानिक गहराई रखते हुए भी सहज-सामान्य है, क्योंकि पन्ना एक स्वस्थ हृदय की कर्मठ स्त्री है। उसके मन में कोई उलझाव नहीं, कुंठा नहीं।

मुलिया की मानसिकता बहू और पत्नी के रिश्तों से जुड़ी है। सौतेली सास एवं देवरों व ननद के प्रति अपने रिश्तों का निर्वाह उसने कभी किया ही नहीं। वह सदा स्वार्थ-सजग रही। अधिकार-भावना उसमें प्रबल है। घर की मालकिन बनने की चाह उसे, रघू को छोड़, घर के अन्य सदस्यों के प्रति कठोर बना देती है। उपभोग की लालसा भी उसमें कम नहीं। इस प्रकार अलगगोझे के पीछे एक तो आर्थिक कारण है; दूसरा घर में स्व-महत्त्व-स्थापन की भावना। पारिवारिक कलह की शुरुआत मुलिया ही करती है। अप्रिय बोलती है। घर-गृहस्थी के कार्यों में सहयोग नहीं करती। घर के सदस्य ही उसे पराए लगते हैं। उसे शिकायत है **‘हमारी कमाई इसलिए नहीं है क दूसरे खायँ और मूँछों को ताव दें।’** माना कि वह दुनियादार है, उसकी दृष्टि यथार्थ को ताड़ना जानती है। जब वह कहती है **‘भाड़ लीप कर हाथ काला ही रहेगा।’** अथवा पति को अपने पक्ष में करने के लिए उसकी भावनाओं को उकसाती है **‘उन्हें (पन्ना को) अपने बच्चे प्यारे होंगे, मुझे तो तुम्हारा आसरा है। मैं अपनी आँखों से यह नहीं देख सकती कि सारा घर तो चैन करे, ज़रा-ज़रा-से बच्चे तो दूध पीएँ और जिनके बलबूते पर गृहस्थी बनी हुई है, वह मट्ठे को तरसे। कोई उसका पूछने वाला न हो। ज़रा अपना मुँह तो देखो, कैसी सूरत निकल आई है। औरों के तो चार बरस में अपने पट्ठे तैयार हो जाएंगे। तुम तो दस साल**

में खाट पर पड़ जाओगे।' तो जाहिर होता है कि मुलिया दुनिया के चलन से परिचित है। उसमें स्वार्थपरता की मात्रा अधिक हो सकती है। वह अदूरदर्शी भी कही जा सकती है। किन्तु उसके चातुर्य को नकारा नहीं जा सकता। त्रिया-चरित्र की दृष्टि से भी वह कोई कम चालाक नहीं। उपयुक्त स्थिति पर उपयुक्त सम्भाषण कर पति को अपने वश में करने के जतन करती है। **'हमारा ही लहू पिए, जो खाने न उठे।'** जैसी क़सम रघू के ग्रामीण मानस पर सीधी चोट करती है। रघू की मृत्यु के बाद उसका जीवन अंधकारमय हो जाता है, किन्तु उसे अलग होने का पछतावा नहीं होता। वह संतुष्ट है, क्योंकि **'किसी की लौड़ी तो नहीं हूँ'** उसका ऐसा समझना उसकी मौलिक प्रवृत्ति के अनुरूप है। उसका हृदय-परिवर्तन देवर की दयालुता और शुभेच्छु भाव से होता है। अपनी स्वार्थपरता पर वह लज्जित होती है। अलगयोझे को धिक्कारती है। एक सुन्दर-आकर्षक, किन्तु चतुर-कठोर स्त्री को एक युवक अपनी आत्मीयता से मोम की तरह पिघला देता है। केदार, दो बच्चों वाली अपनी भाभी की दृष्टि में सुन्दर, कमाऊ, सुशील वर बन जाता है। प्रस्तुत कहानी, इस चरण पर, भाभी-देवर के रिश्ते को प्रकाशित करती है। विधवा, किन्तु युवती भाभी को देवर की दृष्टि मेहरिया समझने लगे तो इसे उन जातियों की संस्कार-भावना के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। इसमें उनके लिए अनुचित, अनैतिक, अशोभन कुछ नहीं। अन्यथा भी, यह सब सामान्य है; प्रचलित है। 'अलगयोझा' का केदार भले ही सौतेला देवर हो; किन्तु है तो देवर। रघू और केदार एक पिता की संतान हैं। केदार का मन परखने के बाद स्वयं पत्नी इस रिश्ते की पहल करती है। 'अलगयोझा' के पात्र जिस समाज से संबंध रखते हैं, वहाँ जैसे भी यह व्यवस्था अजूबी नहीं।

'अलगयोझा' कहानी का गाँव इतना पिछड़ा नहीं दीखता। उसमें मदरसा है। केदार पढ़ना छोड़ कर, खेती का काम करता है। किन्तु उसका सबसे छोटा भाई लछमन मदरसे जाता है। केदार की मानसिकता भी ठेठ गाँव की मानसिकता है। उसमें ग्रामीण युवक का भोलापन झलकता है। औरतों के प्रति उसका दृष्टिकोण है / 'डंडे से बात करने का। डाँटते रहने का।' उसके अनुभव में समाज का अनुभव बोलता है बोलता है- **'मेहरिया घर में आई और आदमी का मिजाज बदला। फिर जो कुछ है, वह मेहरिया है। माँ बाप, भाई-बन्धु सब पराए हैं।'** 'अलगयोझा' के पात्रों की मानसिकता उनके सामाजिक स्तर के अनुरूप तो है ही, उनके विचारों में कमोवेश सार्वजनीनता भी है।

(12) आँसुओं की होली

'आँसुओं की होली' का संबंध होली-पर्व से और मनोवेदना के आँसुओं से है। कहानी के दो खण्ड बहुत स्पष्ट हैं। प्रथम खण्ड होली के पारिवारिक हास्य-विनोद का है तो दूसरा खण्ड उन आँसुओं का जिन्हें होली के साथ जोड़ा गया है। होली हर्षोल्लास का पर्व है। किन्तु प्रस्तुत कहानी में होली के साथ उसका विलोम है। जो शीर्षक को एक जिज्ञासा और एक नया अर्थ प्रदान करता है। कहानी का प्रारम्भिक भाग पढ़ते समय, उसके उत्तरार्द्ध का तनिक भी बोध पाठक को नहीं होता। साफ़ लगता है, कहानी को सायास मोड़ा गया है। अंतिम भाग आरोपित-सा लगता ही नहीं है; वास्तव में है। विशुद्ध हास्य-विनोद की कहानी को आदर्श का जो चोगा पहनाया गया है, वह न तो किसी विवशता के औचित्य को सिद्ध करता है और न किसी उद्देश्यगत पूर्ति के निमित्त ही प्रतीत होता है। कहानी के पूर्वार्द्ध में लेखक प्रेमचंद की मानसिकता खूब परिलक्षित है। उनकी हास्य-विनोद-प्रियता और उनकी जिन्दादिली को होली जैसा पर्व सर्वाधिक अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान कर सकता था और करता भी है। प्रस्तुत कहानी का पूर्वार्द्ध इसका प्रमाण है। किन्तु कहानी का उत्तरार्द्ध जीवन के एक गंभीर पक्ष से सम्बद्ध है। समाज-सेवा की उच्च भावना उसमें निहित है। मनहरनाथ नामक एक पात्र की सेवा-वृत्ति और उसके बलिदान की कहानी हमारे इंसानी फर्ज को उजागर करती है। होली हुल्लड़ का पर्व है, किन्तु हुल्लड़ के नशे में उस रोज़ घटने वाली गंभीर घटनाओं को अनदेखा भी हम नहीं कर सकते। होली पारिवारिक व मित्र-मंडली के बीच का उल्लास-पर्व है, किन्तु हमारे इर्द-गिर्द फैले विस्तृत समाज की तात्कालिक परेशानियाँ और समस्याएँ भी अहम होती हैं, जिनकी अपने राग-रंग में डूबे रह कर हम उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारा सामाजिक दायित्व प्रमुख है, एक सीमित वृत्त की हँसी-खुशी गौण।

कहानी का प्रमुख पात्र पं. श्रीविलास (सिलबिल) है। अन्य पात्रों में उसकी पत्नी चम्पा और उसके दो 'सिकन्दर' (साले) हैं।

श्रीविलास एक ऐसा व्यक्ति है, जिसे होली खेलना एकदम नापसंद है। यही नहीं उसे अन्य उत्सवों-पर्वों से भी चिढ़ है। होली तो उसके लिए भीषण परीक्षा का दिन होता है। काले कपड़े पहन कर, घर में छिप कर होली का दिन गुज़ारता है। हमारे चारों ओर श्रीविलास जैसे अनेक लोग रहते हैं। श्रीविलास ही कोई अजूबा

नहीं है। प्रत्येक के साथ इसके कारण अलग-अलग हो सकते हैं। होली खेलने के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण बन जाता है उसके प्रति हमारे जीवन की कोई-न-कोई घटना उत्तरदायी होती है। बहुत कम लोग मनहूस तबीयत के होते हैं। ऐसे भी असामान्य लोग कम ही होते हैं, जिनकी ज़िन्दगी में उखड़ाव सदा बना रहता है। जीवन की रंगीनी उन्हें आकर्षित नहीं करती। जिनका जीवन बोझिल होता है। जो मन-मस्तिष्क से स्वस्थ नहीं होते। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोग ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें होली खेलने के लिए मनवांछित पात्र ही न मिलता हो अथवा ऐसे लोग उससे होली खेलने आते हों, जिनसे उसे एलर्जी है। प्रस्तुत कहानी का पात्र श्रीविलास होली-प्रसंग की किसी गंभीर अथवा करुण घटना से आक्रांत है, ऐसा कोई संकेत कहानी के पूर्वार्द्ध में उपलब्ध नहीं होता। वरन् इसके विपरीत उसकी अवतारणा ही हास्य-विनोद के निमित्त प्रतीत होती है। उसका रूप-स्वरूप और स्वभाव वर्णन इसका प्रमाण है। मित्रों ने उसका नाम श्रीविलास से बिगाड़ कर 'सिलबिल' रख छोड़ा है, क्योंकि **'सिलबिल सचमुच ही सिलबिल थे। दफ़्तर जा रहे हैं, मगर पाजामे का इजारबंद नीचे लटक रहा है। सिर पर फ़ेल्ड-कैप है, लम्बी- सी चुटिया पीछे झाँक रही है।'** 'शास्त्रों के अनुसार पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद उन्होंने विवाह किया था। ब्रह्मचर्य के परिपक्व होने में जो थोड़ी बहुत कसर रही, वह तीन वर्ष के गाने की मुद्दत ने पूरी कर दी।' प्रस्तुत कहानी में सिलबिल की होली मित्रों या पड़ोसियों के बीच नहीं है, मात्र उनके परिवार के मध्य है। दुर्भाग्य से, इस वर्ष होली पर उनके दोनों साले आये हुए हैं। इन 'सिकन्दरों' से बचने का उपाय उन्हें यही सूझा कि बीमारी का बहाना बना कर ऊपर वाली छोटी कोठरी में दुबके रहना। पत्नी चम्पा ने उन्हें बचाया भी, किन्तु दोनों सालों ने सन्दूक में रखे उनके कपड़ों को निकाल-निकाल कर उनसे ही होली खेल मारी। होली के दिन स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन बना, किन्तु श्रीविलास को खिचड़ी खानी पड़ी (अन्यथा बीमारी के झूठ का पर्दाफ़ाश हो जाता।) सबसे मनोरंजक प्रसंग वह है, जब चम्पा चुपके से सुस्वादु सुगन्धित तरबतर चीज़ें उन्हें खाने को देती है। श्रीविलास क़सम खाकर चम्पा को मुँह-माँगा इनाम देना चाहते हैं। और चम्पा माँगती है- **'मुझे अपने साथ होली खेलने दो।'** चम्पा ने पंडित जी को सिर से पाँव तक नहला दिया। मुट्ठी भर गुलाल सारे मुँह पर पोत दिया। इसी स्थल पर, कहानी मोड़ लेती है। श्रीविलास की एक नितान्त गूढ़ मनःस्थिति की जानकारी पाठकों को ही नहीं, स्वयं चम्पा को

भी होती है। यहाँ से कहानी का उत्तरार्द्ध शुरू होता है।

कहानी में से पं. श्रीविलास के मित्र मनहरनाथ की एक और कहानी फूटती है। श्रीविलास के चेहरे पर मनोवेदना का गहरा रंग उभर आता है। इस कहानी का संबंध होली के दिन एक अनाथ बुढ़िया को कंधा देने से है। मनहरनाथ उसका एक कर्तव्यनिष्ठ, सेवाव्रती, सत्यवादी और साहसी मित्र था। उसकी अकाल मृत्यु का सदमा श्रीविलास को है। मनहरनाथ की स्मृति के साथ होली के दिन का वह तिरस्कार भाव श्रीविलास की मानसिकता का अंग बन चुका है, जब उसने भंग के नशे में चूर, होली के दिन, अर्थी को कंधा देना स्वीकार नहीं किया था। कर्तव्य-विमुख होकर मात्र अपने राग-रंग में मस्त रह कर पर्व मनाना मनुष्यता नहीं। **‘अपने भाइयों से प्रेम और सहानुभूति करना ही त्योहारों का खास मतलब है।’** मित्र मनहरनाथ की मृत्यु से प्रभावित होकर श्रीविलास ने होली ही क्या, सभी त्योहार मनाना छोड़ दिये। त्योहारों में कोई दिलचस्पी न लेना, जैसे कि उसका स्वभाव ही बन गया। और आज चम्पा ने होली खेल कर उसे उस कर्तव्य की याद दिला दी, जो वह अपनी कायरता के कारण भुला बैठा था। मनहरनाथ की याद ताज़ा हो गयी। उसका चित्र आज उसके सामने है। श्रीविलास उस चित्र पर गुलाल छिड़कता है और उसे प्रणाम करता है तथा मानव-सेवा का व्रत पुनः लेता है। चम्पा द्वारा होली खेलने के पूर्व उसे मनहरनाथ-प्रसंग जैसे स्मरण ही नहीं था। यही कारण है, कहानी का यह उत्तरार्द्ध भाग जोड़ा हुआ-सा प्रतीत होता है। अन्यथा यह कहानी मात्र हास्य-विनोद की एक रोचक झलकी बनकर रह जाती। उस सूरत में इसका शीर्षक अवश्य भिन्न होता। पं. श्रीनिवास के सामाजिक स्तर का बोध मात्र दो बातों से होता है। प्रथम तो सालों द्वारा कपड़े रंग दिये जाने के बाद श्रीविलास का यह सोचना-**‘दफ़तर जाने को कुछ न बचा’** और दूसरे, होली-पर्व पर मुहल्ले के ‘कई अन्य सज्जनों’ का भोज में शामिल होना। स्पष्ट है, श्रीविलास कहीं सर्विस करते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से विपन्न नहीं हैं। परिवेश ग्रामीण नहीं है। किसी शहर का मुहल्ला है। श्रीविलास पंडित ज़रूर हैं, किन्तु उनमें कोई पंडिताई नहीं है।

चम्पा मात्र एक गृहिणी के रूप में घर के काम-काज में व्यस्त बताई गयी है। उसके सम्भाषण और कार्य-कलापों से पं. श्रीविलास का वही प्रमुख रूप उभारा गया है, जो हास्य-विनोद का आलम्बन है।

दोनों सालों की भूमिकाएँ नगण्य हैं। उनके नाम तक नहीं बताए गये हैं।

अपने रिश्ते के अनुरूप, होली के अवसर पर, वे कुछ 'उपद्रव' ज़रूर करते हैं; किन्तु उनके लक्ष्य जीजा जी बनते-बनते रह गये।

कहना न होगा, 'आँसुओं की होली' में रस कम, रसाभास अधिक है। हास्य-विनोद की पृष्ठभूमि पर, करुण रस का अंश प्रदर्शित कर, कहानी को किसी सार्थक अंत की ओर नहीं मोड़ा गया है। पं. श्रीविलास का सिलबिल रूप ही अधिक उभरा है, दिवंगत मित्र की याद से सिक्त आँसुओं भीगा करुण पक्ष नहीं।

(13) आखिरी तोहफ़ा

'आखिरी तोहफ़ा' का प्रारम्भ स्वातंत्र्य-संग्राम के राष्ट्रीय माहौल से होता है। विदेशी विलायती कपड़ों के बहिष्कार का कांग्रेस द्वारा संचालित जन-आन्दोलन। स्वयंसेवकों द्वारा विलायती कपड़ा बेचने वालों की दूकानों पर धरना व पिकेटिंग। वस्तुतः इस कहानी में, प्रमुख रूप से, एक अविवाहित पुरुष और एक अविवाहित स्त्री के वासनापूर्ण संबंधों का विवरण है। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य का औचित्य केवल इतना है कि वह पुरुष एक महिला स्वयंसेविका की गंभीरता, सहानुभूति, पवित्रता और निस्वार्थ उमंग से प्रभावित होता है और अंत में परिवर्तित होता है।

पुरुष का नाम अमरनाथ है, स्त्री का मालती। अन्य पात्रों में कहानी की एक प्रमुख स्वयंसेविका है। एक पंडित जी हैं, जो औरतों को हीले बनाने में माहिर हैं, किन्तु उनकी भूमिका नगण्य है। अतः वे पात्र की कोटि में नहीं आते।

अमरनाथ कोई काम-धाम नहीं करते। पढे-लिखे हैं। रईस हैं। स्थाई आमदनी पाँच-सौ रुपये से अधिक नहीं। अविवाहित मालती उनकी तथाकथित प्रेमिका है। उसे एक बार जीवन-सहचरी बनाने का प्रस्ताव रखा; किन्तु मालती ने टाल दिया। वैसे स्वयं भी पैरों में जंजीर डालने के इच्छुक नहीं। स्वच्छंद रोमांस में रुचि है। प्रेमिका मालती होली के उपहार में विलायती रेशमी साड़ी की फ़रमाइश करती है। राष्ट्रीय भावनाओं से आन्दोलित नगर में, जहाँ रेशमी साड़ी की होली जलाई जा रही हो, दूकान-दूकान स्वयंसेवक-स्वयंसेविकाएँ धरना दे रही हों, पिकेटिंग कर रही हों, चारों ओर तमाशाइयों की भीड़ लगी हो विलायती रेशमी साड़ी खरीद कर लाना बड़ा मुश्किल काम था। अमरनाथ में इतना नैतिक साहस नहीं था कि सीधे दूकान पर जाते और विलायती रेशमी साड़ी खरीद लाते। दूकान के पिछवाड़े से, चोरी-छिपे, एक ऊँचे दामों की साड़ी खरीद तो लाते हैं; किन्तु

बाहर निकलते ही, एक स्वयंसेविका देवी द्वारा घेर लिए जाते हैं और साड़ी उसके हाथ में पहुँच जाती है। बिन-ब्याहे अमरनाथ देवी जी को बताते हैं कि वे यह साड़ी पत्नी की फरमाइश पर ले जा रहे हैं। देवी जी उनकी पत्नी से ही भेंट करने और उन्हें समझाने-बुझाने का प्रस्ताव रखती है, जिसे विवश हो अमरनाथ को मानना पड़ता है। अगले दिन ब-मुश्किल वे पत्नी का नाटक करने के लिए मालती को अपने घर ले जा पाते हैं। देवी जी को भी साड़ी व अन्य स्वयंसेविका (सुमित्रा) सहित वहाँ वे बुला कर लाते हैं। मालती स्वयंसेविका देवी जी से शिष्ट ढंग से पेश नहीं आती। अमरनाथ को लगा, मुँह में कालिख लग गयी बदतमीजी और बदज़बानी पर उन्होंने मालती को धिक्कारा। मालती की जूतियाँ सीधी करने वाला अमरनाथ, स्वयंसेविका के व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित होता है और जब मालती साड़ी नहीं लौटाती तो तयोरियाँ बदल कर कहता है -‘अच्छी बात है, ले जाओ मगर समझ लो कि यह मेरा आखिरी तोहफ़ा है।’ अमरनाथ का जीवन-परिवर्तन प्रस्तुत कहानी का महत्वपूर्ण पक्ष है। स्वयंसेविका की सादगी, देशभक्ति और निष्ठा से वह इतना प्रभावित होता है कि अपनी प्रेमिका तक की परवाह नहीं करता। उसे अपने इंद्रियपरायण जीवन पर शर्म महसूस होती है। अमरनाथ की जीवन-दिशा बदलवाने में प्रेमचंद स्वयंसेविका को जो तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना की प्रतिनिधि है आगे लाते हैं। लेखक का वैचारिक केन्द्र-बिन्दु यही है। प्रेमचंद ने अमरनाथ-मालती के रोमांस-वर्णन में कोई रुचि नहीं ली है। एक प्रतिबद्ध लेखक के रूप में वे अपने राष्ट्रीय दायित्व को प्रस्तुत कहानी में बखूबी निभाते हैं।

‘अखिरी तोहफ़ा’ में युग का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है। मालती भी अविवाहित है। विलासिनी है। घमंडी है। शहर में उसकी धूम है। जादूभरी चितवन, मीठी अदाएँ, शोखियाँ, नखरे। आज़ाद, बेक़ैद और बेबन्द रहना चाहती है। पिँजड़े में वह खुश नहीं रह सकती। विवाह-संस्था में उसका विश्वास नहीं। अमरनाथ को वह जमकर उल्लू बनाती है। प्रेम का तो बहाना मात्र था। उसने अमरनाथ के कभी अधिक दाम नहीं लागाये। मालती में राष्ट्रीय भावना का लेश भी नहीं। उसे विलायती कपड़ों से मोह है। स्वयंसेविका का त्याग उसकी समझ से परे है। उस पर वह बेहूदा लांछन लगाती है। राष्ट्रीय आन्दोलन को हुड़दंगापन कहती है। वार्तालाप करते समय अपनी धूर्तता का परिचय देती है। स्वभाव से ईर्ष्यालु है। अपनी प्रेमी अमरनाथ के प्रति वफ़ादार नहीं। उसे प्रेम है तो मात्र उसके तोहफ़ों से। इसी

लालच से वह अमरनाथ पर अपनी पकड़ मज़बूत करना चाहती है। अमरनाथ के घर पहुँच कर पत्नी बनने का जब वह नाटक करती है तब स्वयंसेविका को लगता है- **‘जैसे कोई जंगली जानवर पिँजरे में आ गया है।’** मालती की सृष्टि करके प्रेमचंद नव युवतियों को अप्रत्यक्ष रूप से यह दर्शाते हैं कि मालती की दृष्टि और जीवन-शैली कितनी गलीज़ है। स्वयंसेविका से उसकी तुलना करके उन्होंने देश की नव युवतियों के सामने आदर्श प्रस्तुत किया है। रईस और फ़कीर में वे किसके तरफ़दार हैं, यह उस तुलना से स्पष्ट है। नारी के संबंध में प्रेमचंद की मानसिकता प्रस्तुत कहानी में भी द्रष्टव्य है। स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध उनकी रचनाओं में विस्तार से चित्रित नहीं है। उन संबंधों का वहाँ यौन-संबंधों तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं उठता। मर्यादा से वे मुक्त नहीं हैं। इस मानसिकता को बनाने में युगीन प्रभाव का भी भाग है। अविवाहित एकाकी अमरनाथ के घर वे स्वयंसेविका को अकेली नहीं भेजते। उनके साथ एक और स्वयंसेविका (सुमित्रा) होती है। स्वयं उनकी प्रेमिका मालती तक को उनके घर प्रेमचंद नौकरानी और नौकर के साथ भेजते हैं ! प्रेमचंद-साहित्य का तथाथित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद इसी कारण स्वच्छ और स्वस्थ है। नैतिक मूल्यों से मर्यादित है। शालीन है।

(14) आख़िरी मंजिल

‘आख़िरी मंजिल’ में दो पात्र हैं। एक उत्तम-पुरुष पात्र और दूसरा नारी पात्र मोहिनी । मोहिनी के दिवंगत होने के तीन वर्ष बाद, पुरानी घटनाओं का बखान यह उत्तम-पुरुष पात्र करता है। मोहिनी इस पात्र की पत्नी थी, ऐसा स्पष्ट नहीं होता; किन्तु वह उसकी प्रेमपात्री अवश्य थी। उसकी ज़िन्दगी का सहारा थी। वस्तुतः ‘अख़िरी मंजिल मोहिनी की ही कहानी है। कहानीकार ने मोहिनी की रचना बड़े भावुक और काल्पनिक अन्दाज़ में की है। वह युवती थी। उसका रूप बड़ा आकर्षक था। उसका सौन्दर्य प्यार के योग्य नहीं, पूजने के योग्य था। उसकी प्रत्येक चितवन, क्रिया और बात से उसके हृदय की पवित्रता और सच्चाई झलकती थी। मोहिनी बहुत-कुछ असामान्य युवती थी। प्रस्तुत कहानी में उसके कार्य-कलाप सामान्य नहीं बताए गये हैं। वे रहस्यपूर्ण हैं। उसके प्रेम में वासना नहीं थी। **‘उसका प्रेम वह प्रेम था जो मिलन में भी वियोग के मज़े लेता है।’** प्रेम के संबंध में उनका मूलमंत्र था **‘मिलन प्रेम का आदि है अंत नहीं।’** प्रस्तुत

कहानी में, मोहिनी के जीवन से संबंधित पहली घटना गंगा में बहते एक जलते दिए से जुड़ी है। यह दिया मोहिनी को रहस्यपूर्ण ढंग से आकर्षित करता है। वह खतरा उठा कर भी नदी में उस दिए का तब तक पीछा करती है जब तक वह बुझ नहीं जाता। कहानी का प्रवक्ता पात्र प्रश्न करता है, **‘उस दिए से ऐसा हार्दिक संबंध, ऐसी विह्वलता क्यों?’** किन्तु यह पहेली बूझी नहीं जा सकी। सम्भवतः यह भावना-लोक का कोई रहस्य था। उस दीप के प्रकाश में मोहिनी को अपने अव्यक्त प्रियतम की अनुभूति होती है और वह राग अलापने लगती है- **‘मैं साजन से मिलने चली!’** लगता है, मोहिनी का इस भौतिक संसार से कोई वास्ता नहीं। वह किसी कल्पना लोक की प्राणी है। आयु-पूँजी सामप्त होने पर जब दिया बुझ जाता है तब मोहिनी के मुख से बस इतना निकलता है- **‘क्या यही उसकी आखिरी मंज़िल थी?’** प्रत्येक के जीवन की एक अंतिम मंज़िल होती है। मोहिनी के जीवन की दूसरी घटना गंगा पार जलती किसी की चिता से संबंधित है। इस आग को देख कर भी वह शोक भरे स्वर में बोली - **‘अपनी आखिरी मंज़िल पर पहुँच गया।’** यह आखिरी मंज़िल दर्द और शोक से भरी है। मोहिनी स्वयं एक कवयित्री है। उसकी कविताओं में अथाह वेदना है। इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी एक भावुक

हृदय के आध्यात्मिक लोक की रहस्यपूर्ण अनुभूतियों से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण रचना काव्यात्मक है। गूढ़ दार्शनिकता से युक्त है। वे दिन अब नहीं रहे कि मोहिनी जैसा भावुक और कल्पना-प्रवण बन कर कोई जी सके। प्रस्तुत रचना का धरातल यथार्थ नहीं, वह मात्र कल्पना के रेशमी धागों से विनिर्मित है। कवयित्री मोहिनी की मानसिकता का इस लोक से कोई सरोकार नहीं। प्रेमचंद के हृदय की भावुकता को इस रचना में अवश्य अनुभूत किया जा सकता है। वैसे भी प्रत्येक मनुष्य के जीवन में, चाहे वह कितना भी बौद्धिक क्यों न हो, रहस्य के क्षण आते हैं। जीवन की आखिरी मंज़िल पर सबको पहुँचना ही है।

(15) आखिरी हीला

‘आखिरी हीला’ हास्य-विनोद की उत्तम कहानी है। इसमें नारी मनोविज्ञान का रूप भी द्रष्टव्य है। कहानी एक अदद दम्पति की है। दोनों पात्र नामहीन हैं। कहानी का एक प्रवक्ता पात्र उत्तम-पुरुष ‘मैं’ है और दूसरा उस पात्र की श्रीमती

जी। श्रीमती जी मायके में हैं। कहानी का कथा-भाग पति के पत्राचार से बना है। श्रीमती जी के पत्रों के मज़मून अति संक्षिप्त हैं। पति महोदय दाम्पत्य दायित्व से भागना चाहते हैं। पत्नी-सहवास की लालसा तो उन्हें है (उनके तीन-तीन बच्चे हैं!) किन्तु पारिवारिक ज़िम्मेदारियों और परेशानियों से दूर रहना चाहते हैं। आटे-दाल का प्रबन्ध, बच्चों की बीमारियाँ और इलाज, बच्चों की नाना प्रकार की फरमाइशों का निर्वाह आदि जो वैवाहिक जीवन का दूसरा रुख है, उससे वे घबराते हैं। पहला रुख तो मदन-स्वप्न है, दूसरा वास्तविक। छुट्टियों में ससुराल में पत्नी के साथ रह कर भरपूर रसिकता का भोग करने चले जाते हैं और नाना झंझटों का बहाना बनाकर वापस लौट आते हैं। उनकी यह चतुराई काफ़ी समय तक चलती है। किन्तु अब पत्नी का साथ चलने और साथ रहने का आग्रह बहुत बढ़ गया है। अतः **‘अब छुट्टियों में भी उनके आग्रह के भय से घर जाना बंद कर दिया है कि कहीं वह साथ न चल खड़ी होंनाना प्रकार के बहानों से उन्हें आशंकित करता रहता हूँ।’** उनकी सारी मौलिकता और रचनाशीलता दाम्पत्य के फंदों से बचने के लिए पत्र लिख-लिख कर प्रयुक्त होती है। इस कला में वे निष्णात हैं। हीले पर हीले बनाते हैं। पत्नी उनकी बातों पर विश्वास कर सब्र तो कर लेती है; किन्तु पति-घर आने का आग्रह नहीं छोड़ती। पति महोदय क्रमशः अनेक बहाने बनाते हैं। चूँकि वे पत्र-सम्पादक हैं; इसलिए पहले पत्र में पत्र-सम्पादक के जीवन की कठिनाइयों का विस्तार से वर्णन करते हैं (कभी-कभी रतजगा करना पड़ जाता है, गिरफ़्तार होने का भय बना रहता है, खुफ़िया पुलिस पीछे पड़ी रहती है। आदि।), दूसरे में अपने नगर की गंदगी और बीमारियों का बढ़ा-चढ़ा कर उल्लेख करते हैं। तीसरे पत्र का संबंध मित्रों के मारे नाकों-दम से था। चौथे पत्र में अपने मकान और उसके पास के माहौल की बुरी दशा की चर्चा है। चोरों के उपद्रवों की जानकारियाँ हैं। पाँचवे पत्र में खोंचेवालों की विचित्र आवाज़ों (पैशाचिक स्वरो से युक्त) के शोर का बखान किया गया है। लेकिन ये पाँचों पत्र प्रभावहीन सिद्ध हुए। श्रीमती जी का हठ यथवत् बना रहा। अंतिम पत्र में जब घर की महारियों के स्वभाव और बनाव-सँवार व उनकी अदाओं का ज़िक्र किया तो उस पत्र को पाते ही श्रीमती जी एक बूढ़े कहार के साथ तीनों बच्चों सहित एक असाध्य रोग की भाँति आ डटीं। आते ही पूछा **‘घर में कोई चुड़ैल बैठी तो नहीं है?’** अंतिम पत्र प्रभावी सिद्ध हुआ, किन्तु असर उलटा ही पड़ा। खुद का तमाचा खुद के मुँह पर। इतने चतुर और अनुभवी पति से मनोविज्ञानिक भूल हो

गयी ! जाहिर है, यह भूल बहुत मोटी भूल है। प्रेमचंद प्रस्तुत कहानी में इस भूल को स्थान देकर किसी महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन कर रहे हैं, ऐसा नहीं है। स्त्री स्त्री से ईर्ष्या करती है, यह सर्वविदित है। यह भी एक सामान्य बात है कि कोई भी पत्नी यह नहीं चाहेगी कि उसके पति-घर में औरतों का इतने दुस्साहस के साथ आना-जाना हो। इस संबंध में किसी ने न चुगली खाई, न ग़लतबयानी की है। स्वयं पतिदेव ने स्वयं अपने हाथ से इस प्रसंग का बड़ा चटकीला वर्णन अपने पत्र में किया है। वस्तुतः सम्पूर्ण कहानी प्रेमचंद की मानसिकता को बूखबी उजागर करती है। यह रचना भी उनकी ज़िन्दादिली की मिसाल है। स्वस्थ और पारिवारिक हास्य-विनोद 'आखिरी हीला' की शक्ति है। ध्यान देने योग्य है कि कहानी का प्रवक्ता पात्र पत्र-सम्पादक है। प्रेमचंद अपने ढंग से इस पात्र की मानसिकता में उतरते हैं। एक प्रकार से वे अपना मखौल स्वयं ही उड़ाते हैं। अपनी 'बेवकूफी' का इतनी 'नादानी' से इज़हार। यदि बेवकूफ नहीं बनते तो कहानी कहानी नहीं बनती ! पाठकों को लगेगा पत्र-सम्पादक मूर्खता कर गया; किन्तु वास्तव में पत्र-सम्पादक (रचनाकार) पाठकों को हँसाकर उन्हें स्वयं बुद्धिमान सिद्ध करने का अवसर दे रहा है, भले ही वे अक़ल के दुश्मन ही क्यों न हों। इस कहानी को पढ़कर, मूर्ख-से-मूर्ख पाठक भी पत्र-सम्पादक से अपने को अधिक बुद्धिमान समझेगा और प्रसन्न होगा।

(16) आगा-पीछा

जन्म के क्या कोई संस्कार होते हैं? यह विषय आनुवंशिकता से सम्बद्ध है। मात्र जैविक धरातल पर व्यक्ति की योग्यता, क्षमता और उसके शारीरिक गठन व विकास को तो अधिकांश समझ सकते हैं, किन्तु व्यक्ति के मन और उसकी क्रियाशीलता तो मात्र मनोविश्लेषण-शास्त्रियों के अध्ययन-मनन का विषय है। जन-साधारण में यह धारणा बल्लुमूल है कि जन्म के संस्कार नहीं मिटते। समाज-शास्त्रियों ने सामाजिक संस्कारों को महत्त्व दिया है। व्यक्ति जिस परिवेश में पलता-बढ़ता, रहता और जीवन-यापन करता है, उस परिवेश का उस सामाजिक व्यवस्था का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव उसके हृदय और मस्तिष्क पर पड़ता है। सामाजिक संस्कार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को आकार देते हैं। यदि कोई प्रतिकूल आचरण करता है तो वह भी सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया स्वरूप है। जन्मगत

संस्कारों को स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति के उत्थान में बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक बाधा आती है। यह सिद्धान्त स्पष्ट और युक्तियुक्त न होने के कारण प्रगतिशील मानव-समाज को स्वीकार्य नहीं। प्रस्तुत कहानी 'आगा-पीछा' का केन्द्र यही जन्म-संस्कार है। कहानी के प्रमुख पात्र नवयुवक भगताराम की सारी क्रांति-भावना जन्म-संस्कार के विश्वास (या अंधविश्वास) के सम्मुख खोखली सिद्ध होती है; यद्यपि उसने इस विश्वास से मुक्त होने की भरसक चेष्टा की, किन्तु वह सफल नहीं हो सका। इस दबाव व तनाव को झेलते वह मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ हो जाता है और अवसाद-ग्रस्त हो एक दिन प्राण त्याग देता है।

'आगा-पीछा' के प्रमुख पात्र हैं चमार-पुत्र नवयुवक भगताराम और वेश्या-पुत्री श्रद्धा (मुन्नी)। गौण पात्रों में श्रद्धा की माँ कोकिला (वेश्या) और भगताराम के माता-पिता (चौधराइन-चौधरी) आते हैं।

कोकिला यद्यपि वेश्या है, किन्तु एक बालिका (श्रद्धा) के जन्म से उसके जीवन का रुख बदल गया। उसके हृदय में स्वर्गीय वात्सल्य-भाव की ज्योति प्रकाशित हुई। विलास के बाद, उसके अपने कलुषित जीवन के चिन्हों को आँसुओं से धो डालने के यत्न किये। उसने प्रतिज्ञा की कि वह पावन-ज्योति अपनी बालिका श्रद्धा को वासना के प्रचंड आघातों का शिकार नहीं होने देगी। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि उसकी बेटी समाज में नारी जीवन का एक ऊँचा आदर्श रखे। वह ईश्वर से प्रार्थना करती कि उसकी बेटी कभी काँटों में न उलझे। यद्यपि जन्म-संस्कारों के प्रभाव से वह अपने को चिन्तित और भयभीत भी अनुभव करती। कोकिला को पश्चाताप-बोध से मुक्त रखने की चेष्टा विवेकशील श्रद्धा सदा करती रही। उसके अपनी 'माँ' की आन्तरिक शक्ति को समझा और उसे बताया-**'मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है।..... किन्तु पाप के दलदल में फँस कर निकल आना अवश्य गौरव की बात है। बहाव की ओर से नाव खे ले जाना तो बहुत सरल है, किन्तु जो नाविक बहाव के प्रतिकूल खे ले जाता है, वही सच्चा नाविक है।** 'आगा-पीछा' की वेश्या कोकिला एक ऐसा पात्र है, जो अपने पेशे से, अपने अतीत से घृणा करता है। वेश्यावृत्ति से कमाई प्रभूत धनराशि उसके पास है। लेकिन उसे सुकून नहीं। श्रद्धा को योग्य बनाना और समाज में उसे प्रतिष्ठित स्थान पर देखना ही अब उसके जीवन की एक मात्र अभिलाषा शेष है। कोकिला श्रद्धा के व्यक्तित्व-निर्माण का युग ही अपनी आँखों नहीं देखती, उसके जीवन के उस भयावह चरण को भी देखती है, जिसके प्रति वह

शुरू से ही शंकालु रही। जन्म-संस्कारों का दाग, जीवन का एक ऐसा सत्य सिद्ध हुआ, जो योग्यता और चारित्रिक निष्ठा से मिट न सका। श्रद्धा को वरण करने के लिए एक शिक्षित चमार नवयुवक सामने जरूर आया; किन्तु वह भी 'खून के असर' की धारणा से आक्रांत रहा और अपने प्रेम को विवाह-संस्था में परिवर्तित नहीं कर सका। कोकिला ने अपनी बेटी के जीवन का यह चरण भी अपनी आँखों देखा। उसने अपनी अनब्याही बेटी को वैधव्य के भँवर में कूदते-डूबते देखा।

सामाजिक स्तर पर कोकिला की कहानी एक वेश्या की कहानी है, माना उसका अपना वैशिष्ट्य है। वह सामान्य वेश्याओं के समान नहीं है। उसकी संवेदनाएँ जीवित हैं। अन्तर्द्वन्द्व में टूटती नहीं। उसे एक धिनौनी ज़िन्दगी जीने का पश्चाताप जरूर है, पर उस ज़िन्दगी से मुक्त हो जाने की क्षमता भी उसमें है। वह उसी नगर और समाज में रह कर अपने जीवन को नया आयाम देना चाहती है। माना सामाजिक परिवेश उसका साथ नहीं देता। उसका अपयश उसका साथ नहीं छोड़ता। लेकिन कोकिला का जीवट अजेय है। 'आगा-पीछा' चूँकि प्रमुख रूप से श्रद्धा-भगताराम की गाथा है, इस कारण कोकिला की मानसिकता को अधिक विस्तार से प्रकाशित करने का, कहानी विधा में, अवकाश निकाल पाना सम्भव नहीं था।

भगताराम की अवतारणा एक आदर्शवादी, बहुत-कुछ सुधारवादी, पात्र के रूप में है। खद्दरधारी है। नवयुवक है। वर्ण का काला है, किन्तु श्रद्धा के शब्दों में 'गौरे हृदयवाला-जीवित मनुष्य।' जाति से चमार है। पिता स्कूल इंस्पेक्टर के अर्दली थे। कुछ इस कारण बचपन से ही शिक्षा मिली। आजकल एम.ए का छात्र है। चमार होने के कारण समाज की ऊँच-नीच की भावना का शिकार रहा। यहाँ तक कि स्कूल के मास्टर तक उसे छूते तक न थे। लड़के तो उससे आज भी खिँचे रहते हैं। उसके मन में ग्रंथि भले ही न हो, किन्तु वह अनुभव करता है कि दुर्भाग्य से वह उन लोगों में से है, जिन्हें संसार नीच समझता है। समाज से उपेक्षित-तिरस्कृत भगताराम वेश्या-पुत्री के रूप-सौन्दर्य से इतना प्रभावित नहीं, जितना उसकी विचारधारा से। 'महिला-मंडल' के उत्सव में श्रद्धा का पहली बार भाषण सुनकर उसने जान लिया-'**श्रद्धा देवी है। रूप को बेचने वाली नहीं।'** उसके उद्गारों को सुनकर श्रद्धा भी उसके प्रति आकर्षित होती है और दोनों में क्रमशः प्रगाढ़ मैत्री हो जाती है। यथासमय भगताराम एम. ए. की उपाधि प्राप्त कर, अपने ही विद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक बन जाता है। श्रद्धा-भगताराम परस्पर

जीवन-साथी बनने का इरादा रखते हैं। श्रद्धा-माँ कोकिला के लिए इससे बड़ी संतोष की बात और क्या हो सकती है ! किन्तु भगतराम के माता-पिता इस रिश्ते को मंजूर करना नहीं चाहते। भगतराम ने लाख समझाया। एक ओर भगतराम श्रद्धा से ही विवाह करने का अपना निश्चय दृढ़ करता है, अन्यथा अविवाहित रहेगा तो दूसरी ओर माता-पिता प्राण त्याग देने की धमकी देते हैं। उन्हें अपने पुत्र का अविवाहित रहना मंजूर है; किन्तु कोकिला रंडी की पुत्री को वधू बनाना कदापि स्वीकार नहीं। लेकिन, श्रद्धा चौधरी-चौधराइन की सेवा करके उनका दिल जीत लेती है। विवाह की तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं। इस मंज़िल पर पहुँच कर भगतराम अवसाद रोग (डिप्रेशन) से ग्रस्त हो जाता है। उसे आत्मिक यंत्रणा है। वह इस धारणा से विचलित है **‘खून के असर का नाश नहीं हो सकता।’** उसमें पागलों जैसी अचेतनता घर कर जाती है। आँखों में भय समा जाता है। भ्रम के वश में पड़कर संसार से, अपनी इच्छाएँ पूर्ण किये बिना ही, वह विदा लेता है। गफलत में ‘श्रद्धा’ का नाम उसने दो बार पुकारा। अंतिम क्षणों में श्रद्धा उसके पास होती है। वह श्रद्धा के कपोलों को चूमता है। यही उसका विवाह था, यही उसकी अंतिम भेंट थी। भगतराम का व्यक्तित्व-विश्लेषण करते समय प्रेमचंद-युग को ध्यान में रखना है। प्रेमचंद वेश्या-पुत्री से विवाह करने के लिए एक शिक्षित नवयुवक को सामने खड़ा करते हैं, भले ही जाति से वह चमार हो। लेकिन वेश्या तो जाति-च्युत होती है, उसकी तो कोई जाति नहीं होती। प्रेमचंद का यह सुधारवादी नवयुवक दुविधाग्रस्त है। उसके मन में दो परस्पर विरोधी विचारों का तीव्र द्वन्द्व है। अंत में परम्परा से बद्धमूल दकियानूस विचार की ही विजय होती है। आत्म-संघर्ष में भगतराम पूरी तरह टूट जाता है; किन्तु उसने अपने प्रेम व चरित्र को कलंकित व लांछित नहीं होने दिया। अंत तक वह, सच्चे हृदय से, श्रद्धा का बना रहा। उसकी मानसिकता, उसके सामाजिक स्तर के फलस्वरूप, अनुरूप नहीं बन सकी। सम्भवतः उसकी उच्च शिक्षा इसके लिए उत्तरदायी है। यह कथन विरोधमूलक ज़रूर है। किन्तु भगतराम प्रसंग में यथार्थ प्रतीत होता है। चौधरी-चौधराइन तो परिवर्तित हो जाते हैं, जो एक प्रकार से अपने वर्ग के, एक खास सामाजिक स्तर के, प्रतिनिधि पात्र हैं; लेकिन भगतराम के मन में ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं। यदि वह भी अपने माता-पिता के समान जाहिल होता तो इतने ऊहापोह से उसे नहीं गुज़रना पड़ता। तो क्या शिक्षा हमें दकियानूस बनाती है? शिक्षित व्यक्ति तो परम्पराओं-रूढ़ियों को तोड़ता है। यह सत्य है; किन्तु चूँकि शिक्षा या बौद्धिकता

हमारे मस्तिष्क को विश्लेषण-परक भी बनाती है, अतः भगतराम का मन-मंथन स्वाभाविक है। वह अपना निश्चय बदलता नहीं, किन्तु अपनी समस्त मानसिक-आत्मिक शक्ति लगाकर भी प्रचलित रक्त-धारणा को मिटा नहीं पाता; स्वयं मिट जाता है। प्रेमचंद-युग में इससे अधिक क्रांतिकारी पात्र-निर्माण की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

श्रद्धा का घर का नाम मुन्नी है। श्रद्धा बचपन से ही सरल, प्रगल्भ और चतुर थी। अत्यधिक मातृ-स्नेह ने उसे एकांतवासिनी और अहंवादी बना दिया। सोलह वर्षीय श्रद्धा का व्यक्तित्व इन शब्दों में आकार लेता है। -‘सगर्व, शान्त, लज्जाशीला नवयौवना।’ वह विद्या की उपासिका है। समाज से उपेक्षित और तिरस्कृत है। ‘कोकिला रंडी की लड़की’ जैसे शब्दों से पहचानी जाती है। समाज, मनुष्य और ईश्वर से उसे घृणा है। उसे यदि किसी से प्रेम है तो पुस्तकों से या उन विद्वानों से जो ऊँच-नीच या जाति-पाँति के भेद से मुक्त हैं। वेश्या-पुत्री होकर पछताती नहीं। विवाह के संबंध में उसकी धारणा है **‘जो मुझे वरने में अपनी मानहानि न समझेगा, उसकी तन-मन-धन से पूजा करूंगी यदि किसी ने सुधार के क्षणिक आवेश में विवाह कर भी लिया तो मैं प्रसन्न नहीं हो सकूंगी। इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं विवाह का विचार ही छोड़ दूँ।’**

‘महिला-मंडल’ के उत्सव में, नवीनता, सजीवता और दृढ़ता युक्त उसके धाराप्रवाह भाषण की छाप श्रोताओं पर बड़ी गहरी पड़ती है। इसी भाषण को सुनकर भगतराम उसका प्रशंसक और प्रेमी बन जाता है। भगतराम को भी श्रद्धा देवता मानती है। दोनों के मनसूबे, जीवनादर्श, रुचि और विचार एक हैं। भगतराम को पति रूप में पाने के लिए वह, उसके माता-पिता का दिल सेवा से जीतती है। वही चौधरी-चौधराइन जो शुरू में रंडी-पुत्री कह कर उसके प्रति घृणा प्रकट करते हैं उसकी सेवा-निष्ठा से अभिभूत हो, उसे ‘देवी’ और ‘लक्ष्मी’ शब्दों से सम्बोधित करते हैं। मृत्यु-शैया पर लेटा जब भगतराम श्रद्धा से कहता है **‘तुम वफा की देवी हो, लेकिन मुझे रह-रह कर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपनी परम्परा की रीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी ? इन भ्रमपूर्ण विचारों के लिए शोक न करना।’** तो उसे क्षणिक धक्का जरूर लगता है और वह तुरन्त वहाँ से अपने घर के लिए चल पड़ती है; किन्तु बाद में उसे दुःख होता है। वह महसूस करती है कि ऐसे नाजुक मौके पर तो उसे

भगतराम को सात्वना देनी चाहिए थी। अतः वह पुनः भगतराम से मिलने आती है और उसके अंतिम चुम्बन के उत्तर में कहती है- **‘प्यारे, मैं तुम्हारी हूँ और सदा तुम्हारी रहूंगी।’**

अपने प्रेमी भगतराम की अपेक्षा श्रद्धा अधिक यथार्थवादी और क्रांतिकारी है। मुख्य रूप से वह एक आदर्श प्रेमिका के रूप में प्रस्तुत कहानी में अवतरित है। भगतराम को पाने के लिए वह किसी भी हद तक जा सकती है। पुराने ख्याल के चौधरी-चौधराइन की सेवा का बीड़ा वह जिस उद्देश्य से उठाती है, उसमें पूर्ण सफल होती है। किन्तु भगतराम की मानसिकता समझने में वह असमर्थ सिद्ध होती है।

भगतराम के अन्तर्द्वन्द्व का बोध उसे बड़ी देर से होता है। ‘जन्म के संस्कारों’ और ‘खून के असर’ पर विवाद करने का उसे अवसर ही नहीं मिल पाता। भगतराम से उसने अपने हृदय की गहराई से प्रेम किया था। उसका प्रेम अंत तक निष्कलंक बना रहता है। प्रेम-प्रसंग में वह तनिक भी विचलित नहीं होती। समाज के जिस स्तर से वह जुड़ी हुई है, सम्भवतः उसकी प्रतिक्रिया ही उसके मनोभावों का उत्स है। श्रद्धा का जीवन और उसके विचार ‘जन्म के संस्कारों’ और ‘खून के असर’ को पूरी तरह नकार देते हैं। श्रद्धा समान पति-निष्ठा तथाकथित उच्च व पवित्र तबकों में विरल है। श्रद्धा की मानसिकता आरोपित प्रतीत नहीं होती। वह कीचड़ की कमलिनी के समान प्राकृतिक-श्री से युक्त है।

(17) आत्म-संगीत

‘आत्म-संगीत’ काल्पनिक और रहस्यमयी रचना होने के कारण अस्पष्ट है। उसका लोक आध्यात्मिक लोक है। कहानी में जैसे तो दो पात्र हैं रानी मनोरमा और माँझी (चौधरी); किन्तु रचना का संबंध मात्र रानी मनोरमा से है।

रानी का जीवन ऐश्वर्य और सुख का जीवन होता है। किसी भौतिक अभाव का वहाँ प्रश्न ही नहीं। भोग के सिवा जीवन का कोई अन्य महत् लक्ष्य रानी का प्रायः नहीं होता। अपार वैभव और सुविधाओं के मध्य जीवन-यापन करने वाले को मात्र चोचले ही सूझ सकते हैं।

रानी मनोरमा ने जिस रोज़ गुरु-दीक्षा ली; उसी रात वह आत्म-विस्मृति

के भावावेश में खो जाती है। कोमल-सुकुमार तो वह है ही; भावुक और कल्पनाशील भी है। रात्रि में अचानक नींद खुल जाने पर, उसे नदी-पार से किसी स्वर्गीय संगीत की ध्वनि सुनाई देती है। उस संगीत से आकर्षित हो; सम्मोहित हो, वह नदी-पार पहुँचने के लिए उतावली हो उठती है। माँझी से नाव खोलने के लिए अनुनय-विनय करती है। इनाम में क्या माँगे; माँझी इसका निर्णय नहीं कर पाता। तभी रानी मनोरमा उस संगीत से रोमांचित हो उठती है। वह विक्षिप्तता की स्थिति को पहुँच जाती है। उसका मुख-मंडल चंद्रमा की तरह प्रकाशमान हो उठता है। उसकी आँखों से प्रेम की किरणें निकलने लगती हैं। उसकी यह बेखुदी, उसे उस संगीत से एकाकार कर देती है। वस्तुतः वह आत्म-संगीत ही था। वह संगीत उसके हृदय में ही प्रतिध्वनित हो रहा था। उस संगीत का रचयिता उसके अस्तित्व का ही अंश था; अंग था। निदान, वह आत्म-संगीत उसके स्थूल अधरों से भी अमृत-बिन्दु सदृश टपकने लगा। इस प्रकार प्रस्तुत कहानी छायावादी-रहस्यवादी रचना बन कर रह गयी है। उसका कोई सामाजिक पक्ष नहीं। रानी मनोरमा की मानसिकता जिस आध्यात्मिक भूमि का स्पर्श करती है; वह सामान्य और संघर्षशील मानव-समुदाय के लिए विक्षिप्तता की कोटि में परिगणित है !

(18) आत्माराम

‘आत्माराम’ शीर्षक कहानी में मात्र एक पात्र है वेदो-ग्राम का सोनार महादेव। जर्जर शरीर, पोपला मुँह, झुकी कमर। तीन पुत्र तीन बहुएँ, दर्जनों नाती-पोते होते हुए भी उसका पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं। व्यावसायिक जीवन भी अशान्तिकारक। सुरा-सेवी था। लेकिन कार्य-निपुण।

आत्माराम अभिधान उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है; जो अपने में पूर्णतः संतुष्ट और सुखी हो। किसी से कुछ न लेना; केवल देना। आत्म-ज्ञान का प्रयासी योगी अथवा आत्मा में रमण करने वाला ‘आत्माराम’ कहा जाता है। महादेव को शांति प्रदान करने वाला मंत्र है ‘सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता, राम के चरन में चित्त लागा।’ उसने एक तोता पाल रखा है। वह इस तोते में ही मगन रहता है। तोते के प्रति वह मोह-ग्रस्त है। प्रेमचंद ने तोते के क्रिया-कलापों को तो स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है; किन्तु महादेव का स्वभाव-चित्रण काल्पनिक अधिक है; यथार्थ कम। प्रेमचंद ने अपने विनोदी स्वभाव का परिचय इस कहानी

में भी दिया है महादेव की विभिन्न चेष्टाओं में।

महादेव को अचानक स्वर्ण-मुद्राओं से भरा कलश मिल जाता है। अपने तोते को संबोधित करते हुए वह कहता है **‘आओ आत्माराम ! तुमने कष्ट तो बहुत दिया, पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिँजड़े में रक्खूंगा और सोने से मढ़ दूंगा।’** अपार धन पाकर, जीवन में प्रथम बार महादेव की धर्म-बुद्धि जाग्रत होती है। यज्ञ, ब्रह्मभोज, शिवालय-कुएँ-बाग का निर्माण, कथा-पुराण, साधु-संतों का आदर-सत्कार आदि धार्मिक कृत्यों के बारे में वह सोचता है। सत्यनारायण-कथा करवाता है और उपस्थित जन-समुदाय के समक्ष घोषणा करता है **‘भाइयो ! मेरी सारी उम्र छल - कपट में कट गयी। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितने खरे को खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है; वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सब भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे ज़िम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उसे जाकर कह दीजिए, कल से एक महीने तक, जब जी चाहे, आये और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।’**

महादेव की साधुता ने सब को वशीभूत कर लिया और एक आदमी भी हिसाब लेने नहीं आया।

प्रेमचंद इस कहानी में भी पुरोहित-वर्ग के भ्रष्ट-स्वरूप का उद्घाटन करने में नहीं चूकते ! लालची पुरोहित ने महादेव की धार्मिक भावना का लाभ उठाना चाहा। झूठ का सहारा लेकर बोला **‘तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था, तुमने कई माशे तौल में उड़ दिये थे।’** और इस प्रकार वह महादेव से पचास रुपये (दो मोहरें) ऐंठ लेता है।

महादेव सोनार का परवर्ती चरित्र यथार्थ भले ही न हो; किन्तु उसके माध्यम से प्रेमचंद ने सामाजिक चेतना जगाने का प्रयास किया है। एक दिन **‘तोते का रत्न-जड़ित पिँजड़ा स्वर्ग चला जाता है!’** वास्तव में, ‘आत्माराम तोते’ को बिल्ली खा जाती है ! महादेव संन्यासियों के साथ हिमालय चला जाता है। इस प्रकार वह स्वयं भी ‘आत्माराम’ के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। तोते का स्मृति-चिन्ह विशाल समाधि निर्मित करवाता है।

‘आत्माराम’ में प्रेमचंद ने एक रोचक काल्पनिक कथा को स्थान दिया है। कथा-रस और चमत्कार से परिपूर्ण यह कहानी एक ओर धर्मध्वजियों पर ब्यंग्य करती है तो दूसरी ओर धार्मिक अंधविश्वासों में निहित जन-हित के पक्ष को भी सामने रखती है। माना वर्तमान का कोई भी महादेव सोनार ऐसा आचरण नहीं करेगा। इस कहानी में प्रेमचंद का किस्सागोई रूप दृष्टव्य है; क्योंकि इसमें अधिकांश मनघड़ंत है।

(19) आदर्श विरोध

‘आदर्श विरोध’ साधारण रचना है। पिता (दयाकृष्ण मेहता) और पुत्र (बालकृष्ण) के आदर्शों में विरोध इसके केन्द्र में है। पिता समझौतावादी और ब्रिटिश शासन का सहयोगी है; तो पुत्र देश-भक्त और सामन्त-विरोधी। यह कहानी एक आभिजात्य परिवार की कहानी है। बैरिस्टर पिता वायसराय की कार्यकारिणी सभा का सदस्य है। बेटी मनोरमा शिवराजपुर रियासत के राजा भद्र बहादुर सिंह के प्रति आकृष्ट है; जिनसे उसके माता-पिता विवाह-संस्कार के इच्छुक हैं; पुत्र विदेश (इंग्लैण्ड) में है; माँ राजेश्वरी अंग्रेजों को ‘विनय की मूर्ति’ मानती है। उच्च पद, अधिकार, धन और यश (?) सभी है। इन पात्रों में मात्र पुत्र बालकृष्ण की मानसिकता भिन्न है।

‘आदर्श विरोध’ प्रमुख रूप से बैरिस्टर दयाकृष्ण मेहता का रेखांकन है। बैरिस्टर के रूप में प्रेमचंद ने उन्हें उदार हृदय, प्रजाभक्त, राजनीति कुशल, तत्वान्वेषी, निष्पृह समालोचक और प्रजा का विश्वसनीय सहृदय बंधु बताया है। वह कोई तमाम भृष्ट और धन-लोलुप बैरिस्टरों के समान नहीं है। लेकिन वायसराय की कार्यकारिणी सभा का सदस्य दयाकृष्ण मेहता भिन्न है। वायसराय की कार्यकारिणी सभा में प्रवेश पाकर वह ‘अति प्रसन्न’ होता है। वह अंग्रेज लोगों को ‘सज्जन और विनयशील’ मानता है। भारतीयों की अंग्रेजों के प्रति शिकायतों का कारण, उसकी दृष्टि में, उनमें पारस्परिक सम्मिलन का न होना है। प्रस्तुत कहानी में दयाकृष्ण मेहता का यही पक्ष चित्रित है। इसका उसके व्यवसाय से कोई वास्ता नहीं। प्रस्तुत कहानी में किसी बैरिस्टर की मानसिकता परिलक्षित नहीं; प्रत्युत एक ऐसे बुद्धिजीवी भारतीय की मानसिकता प्रतिबिम्बित है जो अंग्रेजों के निकट आने और उनके द्वारा सम्मानित होने में गौरव अनुभव करते थे। दयाकृष्ण

मेहता का यह निर्लज्ज दास-भाव पुत्र की आत्म-हत्या से दूर हुआ होगा ऐसी ध्वनि इस कहानी में है। 'लन्दन टाइम्स' का समाचार पढ़ कर उसकी भंगिमा प्रेमचंद ने इस प्रकार व्यक्त की है 'सहसा उनके मुँह से एक आह निकली। पत्र हाथ से छूट कर गिर पड़ा'। समाचार इस प्रकार था 'लन्दन में भारतीय देश-भक्तों का जमाव, ऑनरेबल मिस्टर मेहता की वक्तुता पर असंतोष, मिस्टर बालकृष्ण मेहता का विरोध और आत्म-हत्या।'

कहानी का दूसरा पात्र बालकृष्ण (बाला) है। वायसराय की कार्यकारिणी सभा का सदस्य बनने पर वह अपने पिता दयाकृष्ण मेहता को 'जाति का शत्रु' और 'स्वार्थान्ध' ठहराता है। इंग्लैण्ड से पिता को जो पत्र भेजता है उसमें पिता के जाति-द्रोह के प्रति रोष प्रकट करता है, महाराजा भिन्द के प्राइवेट सेक्रेटरी के नौकरी के प्रस्ताव को गुलामी मानता है, राजा भद्र बहादुर सिंह के साथ अपनी बहन मनोरमा के विवाह-विचार को घृणित और अपमानजनक कहता है। उसे पिता के आदर्शों का विरोधी बताया गया है। लंदन के बैक्सटन हॉल में, भारतीय युवकों और नेताओं की सभा में, सभापति-पद से मि. तालिबजा ने उसके पिता की जब निन्दा की तो उसका गर्व दलित हुआ। उसने मि. तालिबजा के आरोप का खंडन करना चाहा। पिता की ओर से सफाई देनी चाही। पर, लोगों ने उसे घेर लिया उसकी निन्दा की; अपमान किया। बालकृष्ण यह सब सहन नहीं कर सका। उसने पिस्तौल से आत्म-हत्या कर ली। पिता-पुत्र के आदर्शों के विरोध का अंत हो गया।

'आदर्श विरोध' के रचयिता स्वाभिमानी राष्ट्रभक्त प्रगतिशील साहित्य-स्रष्टा प्रेमचंद हैं। ब्रिटिश शासन के दमन-चक्र के मध्य; उन्होंने बालकृष्ण जैसे पात्र की सृष्टि कर अपनी निर्भीकता और अपने साहस का परिचय दिया है। वस्तुतः कहानी का मूल भाव ब्रिटिश शासन का विरोध है। माना, कहानी कलात्मक दृष्टि से इतनी उत्कृष्ट नहीं। प्रेमचंद अपने राजनीतिक-सामाजिक विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए कोई-न-कोई भूमिका निर्मित कर ही लेते हैं।

(20) आधार

'आधार' शीर्षक कहानी एक युवा विधवा अनूपा की कहानी है। जैसे ही उसके पति (मथुरा) की मृत्यु होती है; उसके सामने यह समस्या आ उपस्थित होती

है ‘ अब कैसे निर्वाह होगा ? किस आधार पर जिऊंगी !’ उसे जीवन का आधार चाहिए था जिसे वह अपना सर्वस्व समझे; जिसके लिए वह जिये। ‘घर वालों को यह गवारा न था कि वह कोई दूसरा घर करे।’ प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं -‘सेवा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। सेवा ही उसके जीवन का आधार है।’ अनूपा को जीवन के लिए किसी आधार की ज़रूरत थी। जब उसकी सास उसके समक्ष पाँच-वर्षीय देवर (वासुदेव) से ब्याह का प्रस्ताव रखती है तो वह स्वीकार कर लेती है। बालक देवर को माँ-समान पालती-पोसती है। उसके हृदय में सेवा का स्रोत बह रहा था स्वाधीन सेवा का। उसमें वासना के लिए कोई स्थान न था। अनूपा ने, इस प्रकार, तेरह-वर्ष तक देवर वासुदेव की सेवा-सुश्रूषा की। उसने देवर को पति-भाव से स्वीकारा अवश्य था; किन्तु उस भाव का स्थान मातृ-भाव ने ले लिया था। जब देवर वासुदेव से सगाई का दिन आता है तो वह इस संबंध को अस्वीकृत कर देती है। अनूपा के अनुसार -‘जिसके नाम पर चौदह-बरस बैठी रही; उसी के नाम पर अब भी बैठी रहूंगी। मैंने समझा था, मरद के बिना औरत से रहा न जाता होगा।’

‘आधार’ कहानी का समाज गाँव का किसान-समाज है। गाँव के परम्परागत संस्कारों की मानसिकता लिए हैं ‘आधार’ के समस्त पात्र। देवर से, विधवा भौजाई के विवाह की प्रथा ग्रामीण समाज में पायी जाती है; बशर्ते देवर सयाना हो। यहाँ तो अनूपा के पति की मृत्यु के समय, देवर की उम्र मात्र पाँच साल की है ! देवर वासुदेव चूँकि नासमझ हैं; बालक है; वह अपनी भौजाई से विवाह का प्रस्ताव मात्र इसलिए स्वीकार कर लेता है ‘ तब तो दूसरे घर न जायगी न?’ पर, अनूपा का इस प्रस्ताव को स्वीकार लेना और एक बुजुर्ग सास द्वारा ऐसा प्रस्ताव रखना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। रसाभास भी उत्पन्न करता है। प्रेमचंद गाँवों में रहे। ग्रामीणों के स्वभाव और उनकी मानसिक बनावट से उनका घनिष्ठ संबंध रहा। उत्तर-प्रदेश के जिस ग्रामीण समाज से वे सम्पृक्त रहे; हो सकता है उसमें ऐसा चलन हो। अन्यथा भी हिन्दू-समाज में युवा पति के मरणोपरान्त युवा भौजाई से देवर का विवाह प्रायः देखने में आता है।

प्रस्तुत कहानी का प्रारम्भिक भाग अनूपा के पति मथुरा से सम्बद्ध है। मथुरा पहलवान है। बीस-वर्षीय गठीला जवान। साँड के भगाने में थक कर; बेतहाशा पानी पी लेने से उसकी अकाल मृत्यु हुई। प्रारम्भ में लगता है, प्रस्तुत कहानी गाँव के एक पहलवान की कहानी होगी। किन्तु आगे चल कर वह एक

युवा विधवा की कहानी बन जाती है। कहानी का विस्तार अधिक नहीं है। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंद का आदर्शवादी रूप ही द्रष्टव्य है। अनूपा ग्रामीण नारी होते हुए भी; नारी है। नारी का भी, आखिर अपना मनोविज्ञान होता है। लेकिन प्रेमचंद यहाँ नहीं झाँकते। अनूपा को गाँव की एक आदर्श विधवा के रूप में चित्रित करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य है।

(21) आप-बीती

‘आप-बीती’ कहानी एक साहित्यकार के जीवन की झाँकी है। यह आत्म-प्रधानशैली में लिखी गयी है। साहित्य-सेवी लेखक स्वयं अपनी आप-बीती का बखान करते हैं। लेखक आर्थिक दृष्टि से प्रायः विपन्न होते हैं; किन्तु वे सहृदय और उदार भी होते हैं। ‘आप-बीती’ का लेखक-पात्र यद्यपि आर्थिक दृष्टि से इतना कमज़ोर नहीं है; तथापि उसके अनुसार **‘महीनों सिर खपाता हूँ, कलम घिसता हूँ, तब जाकर नगद-नारायण के दर्शन होते हैं।’**

हमारे समाज की दशा कुछ ऐसी है कि यदि किसी को उधार धनराशि दे दो तो वह लौटाता नहीं या पर्याप्त विलम्ब से या बड़ी मुश्किल से लौटाता है। प्रस्तुत रचना में साहित्य-सेवी की पत्नी का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता - **‘जब कोई शिक्षित और विचारशील मनुष्य अपने वचन का पालन न करे (समय पर धनराशि न दे) तो समझना चाहिए कि वह विवश है। विवश मनुष्य को बार-बार तकाज़ों से लज्जित करना भलमंसी नहीं है। कोई मनुष्य, जिसका सर्वथा नैतिक पतन नहीं हो गया हो, यथाशक्ति किसी को धोखा नहीं देता।’** लेकिन शिक्षित तो खूब धोखा देते हैं और कौन कितना विचारशील है; इसके मापने का कोई पैमाना नहीं। अक्सर उधार धनराशि देने वाले ठगे जाते हैं। साहित्य-सेवी की पत्नी का यह कथन ही सत्य है **‘ उधार समझ कर मत दो, यह समझ लो कि पानी में फेंक देते हैं।’**

‘आप-बीती’ में एक लेखक की मनोवृत्ति और उसकी लोकेषणा का बड़ा रोचक; किन्तु यथातथ्य वर्णन-चित्रण है। कहानी का प्रवक्ता-पात्र स्वयं अपने मनोभावों को प्रकट करता है; लिखता है। बिना किसी ढोंग के। वस्तुतः यह सब तथाकथित साहित्य-सेवियों पर व्यंग्य है। वैसे देखा जाये तो यश की चाह अधिकांश लेखकों में होती है। यश की एषणा को उत्कृष्ट एषणा माना भी गया

है; बशर्ते वह लिप्सा में न बदल जाये। इसके अतिरिक्त, प्रेमचंद प्रस्तुत रचना के द्वारा मानव-स्वभाव पर भी प्रकाश डालते हैं। प्रवक्ता-पात्र अपने एक अपरिचित कवि-मित्र उमापति नारायण के माध्यम से, मनुष्य के इस स्वभाव को बताता है। अपनी प्रशंसा सुनने में प्रत्येक मनुष्य को आनन्द आता है; भले ही वह जानता हो कि सारे उद्गार झूठे हैं ! झूठी और अतिरंजित प्रशंसा करके ही हम किसी से अपनी कार्य-सिद्धि कर सकते हैं। कवि उमापति नारायण भी ऐसा ही करते हैं। पहले वे कहानी के प्रवक्ता-पात्र की प्रकाशित रचनाओं की अपार प्रशंसा में उसे पत्र भेजते हैं और पत्र-मैत्री हो जाने के बाद; उससे मिलने चले आते हैं। साहित्य-सेवी लेखक से अपनी आवभगत करवाते हैं और चलते समय, ट्रेन में कोट गायब हो जाने की बनावटी घटना वर्णित कर, पचास-रुपये उधार ले कर, अपनी ससुराल कानपुर निकल जाते हैं। पत्नी और पुत्री के साथ वापस आते हैं और फिर पच्चीस-रुपये और उधार माँग कर ले जाते हैं। इस प्रकार, साहित्य-सेवी प्रवक्ता-पात्र जमकर ठगा जाता है ! प्रेमचंद का विनोदी स्वभाव यहाँ भी द्रष्टव्य है। एक लेखक किस प्रकार, उधार में दी गयी और डूबी हुई धनराशि किस प्रकार वापस प्राप्त कर लेता है। वह इस घटना का वृत्तांत लिख कर एक पत्रिका में प्रकाशित करवाता है। उद्देश्य था 'जनता के सामने कपट-व्यवहार के कुपरिणाम का एक द्रश्य रखूँ।' इस वृत्तांत को पढ़ कर, कवि उमापति नारायण जी की ईमानदारी जाग उठती है। वे 'क्षमा' लिख कर पिचहत्तर-रुपये मनीऑर्डर से लौटा देते हैं !

इस परिप्रेक्ष्य में, समानान्तर, वास्तव में ज़रूरतमंद और ईमानदार एक, सत्रह-अठारह वर्षीय बीमार युवा कम्पोज़ीटर की अवतारणा की गयी है। प्रवक्ता-पात्र को चूँकि कवि उमापति नारायण ठग चुके थे; इस कारण वे अपने इस बीमार कम्पोज़ीटर को, घर जाने के लिए, उधार नहीं देते। अपने हाथ बिलकुल खाली बता कर; खेद प्रकट कर लेते हैं। लेकिन उनके कार्यालय का ही एक क्लर्क पं. पृथ्वीनाथ उसे पन्द्रह-रुपये उधार दे देता है। इससे उनके हृदय में कठिन वेदना और स्वार्थपरता पर ग्लानि अवश्य हुई। **'कुछ अपनी नीचता पर लज्जा भी आयी। मैं लम्बे-लम्बे लेखों में दया, मनुष्यता और सद्व्यवहार का उपदेश किया करता था; पर अवसर पड़ने पर साफ़ जान बचा कर निकल गया ! और यह बेचारा क्लर्क जो मेरे लेखों का भक्त था, इतना उदार और दयाशील निकला !'** कम्पोज़ीटर, वादे के अनुसार, पाँचवे दिन, रुपये लौटा देता है। प्रेमचंद का साहित्य-सेवी प्रवक्ता-पात्र कहता है -**'ऐसी; और आँखें खोल**

देने वाली यातना मुझे कभी नहीं मिली थी।’

इस प्रकार ‘आप-बीती’ उधार देने वालों और उधार लेने वालों की मानसिकता का उद्घाटन करती है। अधिकांश ज़रूरतमंद कम्पोज़ीटर जैसे होते हैं; किन्तु उमापति नारायण जैसे अपेक्षाकृत भले ही इतने अधिक नहीं। ऐसे लोग उधार की धनराशि निर्लज्जतापूर्वक हज़म कर जाते हैं। यही कारण है, परिजन तक उधार देने में कतराते हैं। बहाने बनाते हैं। मनुष्य की मनोवृत्तियों को समाज का आर्थिक ढाँचा तो बिगाड़ता ही है; कुछ व्यक्ति-व्यक्ति के स्वभाव व चरित्र पर भी निर्भर करता है।

(22) आबे-हयात

‘आबे-हयात’ कहानी में फ़ारसी-अरबी शब्दों की भरमार है। फ़ारसी (उर्दू) लिपि में लिखी इस कहानी का नागरी-लिप्यन्तर उपलब्ध है। यदि फ़ारसी-अरबी शब्दों का भी हिन्दी-रूपान्तरण कर दिया जाता तो बेहतर था। इसके लिए स्वयं प्रेमचंद की आवश्यकता नहीं थी। आख़िर, सम्पूर्ण कहानी प्रेमचंद की भाषा में ही तो लिखी हुई है !

‘आबे-हयात’ (सुधारस) में कुल पाँच पात्र हैं। प्रमुख पात्र है डाक्टर घोष। वैज्ञानिक है। प्रेमचंद ने उन्हें अजीबो-ग़रीब आदमी कहा है; जब कि उन्होंने स्वयं प्रस्तुत कहानी अजीबो-ग़रीब लिखी है ! वस्तुतः ‘आबे-हयात’ प्रतीकात्मक रचना है। अजरता हर व्यक्ति चाहता है; चाहता तो अमरता भी है। इसके लिए मानव-कल्पना ने अमृत की सृष्टि की है; जो उसे आज-तक तो अनुपलब्ध है। प्रस्तुत कहानी के चार वृद्ध पात्र तीन पुरुष और एक स्त्री पुनः युवा बनने के लोभ में डाक्टर घोष द्वारा प्रदत्त, आबे-हयात-जल का पान करते हैं। उन पर इस जल का कुछ क्षणों में असर भी होता है। चारों कुछ क्षणों को पुनः युवा बन जाते हैं और युवाओं जैसी चेष्टाएँ करने लगते हैं। पुनः युवा बनना मात्र भोग-विलास के लिए। लेकिन कुछ क्षणों के बाद, आबे-हयात-जल का असर समाप्त हो जाता है और वे चारों पुनः वृद्ध-रूप धारण कर लेते हैं। डाक्टर घोष का प्रयोग सफल हो जाता है। स्वयं उन्हें ऐसे आबे-हयात-पान की इच्छा नहीं; भले ही उसका प्रभाव वर्षों बना रहे। अपनी प्रयोगशाला में आमंत्रित चारों वृद्धों से उन्हें ऐसी शिक्षा मिली। लेकिन वे चारों वृद्ध पुनः आबे-हयात-पान के लिए उतावले बने

रहे। सदाबहार जवानी के लुत्फ़ के लिए उन्होंने चश्मे-हयात के सफ़र का पक्का इरादा किया; जिससे वे आबे-हयात पा सकें।

वृद्धों की जवान बनने की हवस का हास्यपरक खाका प्रस्तुत रचना में मिलता है। वर्णनों-विवरणों में प्रेमचंद का व्यक्तित्व सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। वही ज़िन्दादिली और विनोद-प्रियता। उनके ये चारों वृद्ध कोई विद्वान या समुन्नत मानव नहीं हैं। इनके सामाजिक-स्तर से इनकी मानसिकता स्वयं परिलक्षित होती है। वृद्ध बाबू रामदास पेशे से वकील हैं कौमी तहरीकों में हिस्सा लेते हैं; किन्तु बदनाम हैं। इस कारण इनसे कोई मिलता-जुलता नहीं। वृद्ध ठाकुर विक्रम सिंह भोगी-विलासी हैं इतने अधिक कि अपनी दौलत-सेहत नष्ट करके अनेक रोगों के शिकार बने हुए हैं। वृद्ध लाला करोड़ीमल सम्पन्न व्यापारी थे; पर उन्होंने अपनी दौलत सट्टे में उड़ा दी। अब मात्र शिष्ट भिक्षा-वृत्ति पर शेष जीवन जी रहे हैं। वृद्धा श्रीमती चंचल कुँवर किसी ज़माने में सुन्दरी थी और उपर्युक्त तीनों वृद्ध उसके प्रेमी थे। इनसे सम्मानित लोग ही नहीं; इनके रिश्तेदार तक दूर रहते हैं। लेकिन अब वे तीर्थ-यात्रा का विचार रखती हैं !

इन चारों पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद आबे-हयात का तमाशा दिखाते हैं मानों डाक्टर घोष स्वयं प्रेमचंद हों। जादुई विवरण और तथाकथित आबे-हयात पी लेने के असम्भावित परिणाम कोई तिलस्मी कथा कहने के उद्देश्य से नहीं; वरन् प्रतीकात्मक चित्र उपस्थित करने की दृष्टि से दिए गये हैं। चारों पात्रों के क्रिया-कलाप 'आबे-हयात' को हास्य रस की कहानी बनाते हैं। ऐसी विशिष्ट स्थितियों का सृजन करने के बाद प्रेमचंद विनोद करने से कभी चूकने वाले न थे। वस्तुतः वृद्धावस्था पर पहुँच कर उदास और शोकान्वित होने की आवश्यकता नहीं। कहानी में प्रेमचंद की जीवन्त भाषा का धाराप्रवाह स्वरूप द्रष्टव्य है।

(23) आभूषण

आभूषण' जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है; भारतीय नारियों, विशेष रूप से ग्रामीण नारियों, में पायी जाने वाली आभूषण-लालसा से संबंधित कहानी है। यह आभूषण-लालसा जब नारी का एक मानसिक रोग बन जाए; तब सामाजिक कुरीति और नारी की रुग्ण मानसिकता बन जाती है। आभूषणों के अभाव में वह दिन-रात दुखी रहती है। आभूषण-लोभ उसे कुकृत्य करने के लिए भी उकसाता

है। इससे पारिवारिक सुख-शांति भंग हो जाती है। **‘शारीरिक शोभा के लिए हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं।’** प्रेमचंद को सुधारवादी लेखक बताया गया है। जहाँ-जहाँ वे सामाजिक कुरीतियाँ एवं व्यक्ति में रुग्णता व भ्रष्टता देखते हैं, वहाँ-वहाँ से वे अपनी रचनाओं के लिए यथार्थ (यथासम्भव यथार्थ) सामग्री अवश्य एकत्र करते हैं। उन्होंने नारी-जीवन के विविध पक्षों को अपनी अनेक कथा-कृतियों में समाविष्ट किया है। प्रेमचंद का समस्त लेखन सोद्देश्य है; वह मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है। इस उत्साह में, वे प्रायः अस्वाभाविक स्थितियों तक का निर्माण कर डालते हैं। उनका न कोई मनोवैज्ञानिक आधार होता है; न व्यावहारिक। प्रस्तुत कहानी में, आभूषण-रुग्ण बहू शीतला के स्वभाव एवं आचरण में यह तथ्य दृष्टव्य है। उसकी आभूषण-लालसा जिस सीमा तक जाती है; वह व्यावहारिक व विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती। चूँकि प्रेमचंद को आभूषण-लालसा के विरुद्ध लिखना था; इसलिए वे अपने पात्र की मानसिकता को तदनुकूल गढ़ लेते हैं; जिससे वह उनका अभीष्ट व्यक्त व सिद्ध कर सके।

‘आभूषण’ कहानी में दो परिवार हैं। एक ठाकुर विमलसिंह, उसकी सुंदर पत्नी शीतला और उसकी वृद्धा सास का; और दूसरा विमलसिंह के बिरादरी के भाई कुँवर सुरेशसिंह और उसकी असुंदर पत्नी मंगला कुमारी का।

शीतला के संदर्भ में प्रेमचंद लिखते हैं **‘ इन्हें भूषण नहीं; दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कैसे हो सकता था कि कोई नव वधू पति के घर आने के तीसरे दिन अपने पति से कहती है, ‘ मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँध कर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया।’** उसने जब से गाँव के ताल्लुकेदार कुँवर सुरेशसिंह की नव विवाहिता वधू को आभूषणों से सजी-लदी देखा है; तब से उसकी छाती पर साँप लोटने लगता है। आभूषणों की चमक-दमक से उपजी उसकी ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, दुश्चिन्ता आदि भावनाएँ जाग उठती हैं। उसके पति विमलसिंह की आर्थिक स्थिति कमज़ोर है। आभूषणों को लेकर अपनी पत्नी शीतला से प्रताड़ित व तिरस्कृत होकर वह धन कमाने के उद्देश्य से, बिना किसी को बताए, घर से निकल भागता है। पहले कलकत्ता, फिर रंगून। रंगून में बंदर पर माल चढ़ाने-उतारने का काम करके तीन-हज़ार रुपये कमा कर घर लौटता है।

प्रस्तुत रचना में प्रेमचंद ने समानान्तर एक ऐसी पत्नी की सृष्टि की है;

जिसके पास आभूषणों की कमी नहीं है; किन्तु असुंदर है। वह है - कुँवर सुरेशसिंह की पत्नी मंगला कुमारी। आभूषण उसे कदापि सुंदर न बना सके। मंगला गृह-कार्य में निपुण, अत्यंत विचारशीला, मधुर-भाषिणी स्त्री है। लेकिन सौन्दर्य-विहीन होने के कारण पति की आँखों में काँटे के समान खटकती है। यह परिवार भी दाम्पत्य सुख से वंचित है। सुरेश शीतला की सुंदरता पर मुग्ध था। रूप के सम्मुख गुण उसके लिए गौण थे। उसके परिवार में भी कलह इस सीमा तक जा पहुँचता है कि उसकी पत्नी मंगला घर छोड़ बैठती है। वह पहले शीतला से मिलती है और अपने 'ईश्वर के दरबार' में जाने की बात कहती है। कहती है **'स्त्री के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूपहीन हो। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं।'** मंगला की ऐसी दशा देखकर, शीतला का हृदय-परिवर्तन होता है। सोचती है 'आभूषणों के लिए मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा ! न जाने वह (विमलसिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं।' अपनी आभूषण लालसा-तृष्णा को वह धिक्कारती है। अब वह आभूषणों से घृणा करने लगती है। ग्लानि और क्षोभ की आग में जलती रहती है।

'आभूषण' कहानी का एक पक्ष और भी है। वह है स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण। अनुकूल परिस्थितियों में यह भावना इतनी भड़क उठती है कि पाप-पुण्य की नैतिक मर्यादाओं को भी तोड़ देना चाहती है। स्त्री-पुरुष के शरीर संबंधों के सामने कुछ भी कुरुचिपूर्ण और गर्हित नहीं रह जाता। स्त्री (पत्नी) पुरुष को धोखा देती है; पुरुष (पति) स्त्री को। दुनिया-भर में यह व्यभिचार व्याप्त है। प्रेमचंद इस सर्वकालिक-सर्व देशीय तथ्य को भली-भाँति समझते हैं; किन्तु अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण वास्तविकता से हट कर, आदर्श प्रस्तुत करते हैं। अपने पात्रों का नैतिक पतन नहीं होने देते।

कुँवर साहब को विमलसिंह के परिवार के कष्टों की खबर थी। वे गुप्त रूप से उसकी सहायता करने के इच्छुक थे। दूसरी ओर, उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जागी। **'क्या किसी उपाय से यह सुन्दरी (शीतला) मेरी नहीं हो सकती। बहुत सम्भव है कि वह (विमल) संसार में न हो।'** शीतला के घर उसका हालचाल पूछने वे एक दिन गये और जब वहाँ से लौटे तो **'बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गयी थीं और नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह ! यह मनोहर छबि! यह अनुपम सौन्दर्य !'** कुँवर साहब अन्तर्द्वन्द्व में पड़ जाते हैं। प्रेमचंद इस स्थल पर अपने

मौलिक रूप में (आदर्श) फिर आ धमकते हैं। कुँवर साहब के अन्तर्द्वन्द्व का अन्त इस प्रकार करते हैं **‘शीतला बहन ! मैं तेरा भाई हूँ!’** उधर, शीतला पति-वियोग में भी गहनों के लिए लालायित है। कुँवर साहब के कहने पर **‘ मैं तुम्हें गहने बनवा दूंगा।’** उसका प्रत्येक अंग कहने लगा **‘मैं तुम्हारी हूँ।’** ‘भाई’ का सम्बोधन मात्र ‘सम्बोधन’ था मानों। गहने पा कर उसकी सोयी हुई वासना उद्दीप्त हो उठी।

अन्ततः एक दिन विमलसिंह घर लौट आता है। शीतला को आभूषण पहने देखता है। क्रमशः वस्तुस्थिति उसे ज्ञात होती है। कुँवर सुरेशसिंह के प्रति उसकी गलतफ़हमी दूर हो जाती है। लेकिन शीतला की कठोरता में कोई कमी नहीं आती अपने पति को बेहोश देखकर भी। तीसरे दिन ही, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अंत हो जाता है। उसकी मृत्यु हो जाती है। इस स्थल पर, शीतला की कठोरता यथार्थ से मेल नहीं खाती। दूसरी ओर शीतला के आचरण से कुँवर साहब का हृदय-परिवर्तन होता है और उन्हें मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लती हैं। सच्चे हृदय से वे प्रायश्चित्त करता है। अंततः मंगला को पुनः पा लेता है।

प्रेमचंद बताना चाहते हैं कि शीतला ने मात्र आभूषण-लिप्सा के कारण ही अपने परिवार को विनष्ट कर डाला। प्रश्न है, क्या उस जैसी पत्नी का कहीं अस्तित्व है ? शारीरिक वासना-पूर्ति के अभाव में तो स्त्री ऐसा आचरण कर सकती है। विवाहिता स्त्रियों के दूसरे मर्दों के साथ भाग जाने के समाचार प्रायः सुनने-पढ़ने में आते हैं। अत्याचारों के कारण भी पत्नी पति को त्याग सकती है। किन्तु मात्र आभूषण-अभाव किसी पत्नी को इस दुर्व्यवहार तक ले जाये; विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। दूसरी ओर ज़मींदार कुँवर सुरेशसिंह की ‘सज्जनता’ भी आरोपित-सी लगती है। मंगला के प्रति उसकी वितृष्णा और शीतला के प्रति उसकी वासना जितनी स्वाभाविक है; उतनी उसकी आदर्शवादिता नहीं। संयत वह जिन परिस्थितियों में होता है वह उसके हृदय और मस्तिष्क के उद्वेलन का सहज परिणाम अवश्य है; पर कहानी में यह सब जिस ढंग से घटित होता है; वह स्पष्ट आरोपित लगता है। प्रस्तुत कहानी के पात्र मात्र लेखक की इच्छानुसार कार्य-कलाप करते हैं। प्रेमचंद विमलसिंह के बिरादरी के भाई कुँवर सुरेशसिंह को गिराना नहीं चाहते थे; इसी कारण उसकी स्वाभाविक कुचेष्टाओं को बढ़ने नहीं देते। प्रस्तुत कहानी के पात्र किसी वर्ग विशेष के सामाजिक-स्तर का प्रतिनिधित्व

नहीं करते; उनकी मानसिकता मात्र स्त्री और पुरुष की मानसिकता है; जो आभूषण-लिप्ता और सौन्दर्य-तृष्णा पर आधारित है।

(24) आल्हा

‘आल्हा’ ऐतिहासिक कहानी है। इसमें बनाफर-वंश के सपूत, योद्धा जसराज के पुत्र सच्चे राजपूत आल्हा और ऊदल की शौर्य-गाथा, उनकी अमर कीर्ति और उनके आदर्श चरित्र अंकित हैं। प्रमुख पात्र आल्हा है। चंदेल खानदान के आखिरी राजा परमाल देव और उनकी पत्नी रानी मलिनहा ने, आल्हा और ऊदल का, अपने बेटों की तरह पालन-पोषण किया। शादियाँ कीं। आल्हा महोबा के राजा परमाल देव के दरबार का सम्मानित सदस्य था। वह राजा परमाल देव का वफ़ादार वीर सैनिक था। उसकी वीरता के कारण ही महोबा-राज्य का विस्तार हुआ।

आल्हा राजपूतों की मानसिकता का प्रतीक है। प्रेमचंद ने उसके राजपूती-धर्म को प्रस्तुत कहानी में बड़े सशक्त ढंग से उजागर किया है। आल्हा की उत्तरोत्तर विजयों, उसके यश और उसकी लोकप्रियता के कारण उसका मामा माहिल उससे द्वेष करने लगा। माहिल काले दिल का एक मक्कार आदमी था। उसने राजा परमाल देव को आल्हा के विरुद्ध, बड़ी चालाकी से, भड़काया। माहिल कोई षड्यंत्र रचेगा; ऐसा परमाल देव सोच भी नहीं सकते थे। माहिल का षड्यंत्र सफल हुआ। राजा परमाल देव आल्हा से उसका नाहर घोड़ा अपनी सवारी के लिए माँग बैठे। इस घोड़े के बल पर ही आल्हा ने लड़ाइयाँ जीती थीं। आल्हा बड़े असमंजस में पड़ गया। एक ओर स्वामिभक्ति की परीक्षा तो दूसरी ओर राजपूती-धर्म। राजपूत अपनी सवारी का घोड़ा दूसरे को नहीं देता। अन्ततः आल्हा, न चाहते हुए भी, स्वामि-भक्ति को प्राथमिकता देता है और अपना नाहर घोड़ा राजा परमाल देव को सौंप देता है। इससे उसके राजपूती-धर्म को बट्टा लगा; जिसे वह सहन नहीं कर सका। वह अपने भाई ऊदल और माँ देवल देवी के साथ महोबा छोड़ देता है और मामा माहिल से खून का रिश्ता ही नहीं तोड़ता; उसे अपना शत्रु घोषित करता है।

कन्नौज के राजा जयचंद को जब इस अप्रत्याशित घटना का पता चला; उसने आदरपूर्वक आल्हा को कन्नौज बुलवा कर, अपने राज्य का सेनापति

बना दिया। परमाल देव कमज़ोर शासक था। आल्हा के जाते ही उसकेशासन की धाक जाती रही। उसके अक्खड़ सिपाहियों के कारण, राजा पृथ्वीराज के सिपाहियों से नाहक झगड़ा हुआ और चौहानों-चंदेलों में अनबन हो गयी। परिणामस्वरूप लड़ाई भड़क उठी। चंदेलों की पराजय हुई। एक महीने की चंदेलों की संधि-प्रार्थना पृथ्वीराज ने स्वीकार कर ली।

आल्हा के महत्त्व और उसकी महोबा में उपस्थिति को राजा परमाल देव और रानी मलिनहा ने बड़ी तीव्रता से महसूस किया। रानी मलिनहा के अनुसार **‘हारी बाज़ी आल्हा ही सँभाल सकता है।’** आल्हा को मनाने के लिए जगना भाट कन्नौज पहुँचा। इस स्थल पर आल्हा की मनःस्थिति का चित्रण उसके आत्म-सम्मान के अनुरूप है।

प्रस्तुत कहानी में आल्हा की माँ देवल देवी की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वह हौसले वाली उच्च विचारों की स्त्री थी। वह नहीं चाहती कि बनाफ़र-वंश के नाम पर कलंक लगे। आल्हा से कहती है **‘पिछली बातों को भूल जाओ और आज ही महोबा चलने की तैयारी करो।’** माँ देवल देवी के क्रोध और आक्रोश से आल्हा को मर्यान्तक चोट पहुँची। वह महोबा लौट आया और महोबा का सेनापति बना। सारा मनमुटाव धुल गया। लेकिन पृथ्वीराज चौहान से युद्ध बड़ा भयानक हुआ। अठारह दिन मारकाट हुई। तीन लाख आदमियों में कुल तीन बचे पृथ्वीराज, चन्दा भाट और आल्हा। दोनों पक्ष ही हारे; दोनों पक्ष ही जीते। सबसे बड़ा दुष्परिणाम हुआ, धानेसर की लड़ाई में शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज चौहान का हार जाना। आल्हा इस सारे काण्ड से बड़ा व्यथित हुआ। पता नहीं, उसका क्या हुआ। शर्म से डूब मरा या साधु हो गया।

‘आल्हा’ कहानी ‘जमाना’ के जनवरी 1912 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी में, प्रेमचंद आल्हा की जीवन-गाथा ही प्रस्तुत नहीं करते; भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ को, आत्म-चिन्तन हेतु, खोल कर भी रख देते हैं। प्रस्तुत कहानी आज भी प्रासंगिक है और आगे भी रहेगी। ऐतिहासिक कथा होने के कारण इसमें अपनी ओर से अधिक जोड़ा-घटाया नहीं जा सकता था। इस कहानी में राजपूत-घरानों का मिथ्याभिमान चित्रित है। चौहानों-चंदेलों के आपस में कट मरने के फलस्वरूप भारतीय इतिहास ने जो मोड़ लिया; उसके प्रति, देशवासियों को सचेत करती है यह कथा। राज-घरानों की मानसिकता और राजपूतों द्वारा जातीय-धर्म निर्वाह की परम्परा को इसमें स्पष्ट रेखांकित किया

गया है।

(25) आहुति

‘आहुति’ समसामयिक स्वाधीनता-संघर्ष और परिवेश से संबंधित कहानी है। इसमें विश्वविद्यालय के दो युवा छात्रों और एक भूतपूर्व युवती छात्रा की, स्वदेश के प्रति उनकी धारणा और मानसिकता दृष्टव्य है। ये पात्र हैं आनन्द, विशम्भर और रूपमणि। प्रेमचंद, इन पात्रों के माध्यम से, इस रचना के द्वारा भी, देश के स्वाधीनता-संग्राम को बल पहुँचाते हैं; उसे सही दिशा देते हैं। कहानी की पृष्ठभूमि एवं पात्रों की सृष्टि का प्रयोजन मात्र, देश-वासियों में; विशेषकर नवयुवकों व नवयुवतियों में, स्वातंत्र्य-भावना जाग्रत कर उन्हें राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरित करना है।

प्रस्तुत कहानी के तीनों पात्रों का अपना-अपना सामाजिक-स्तर है। उनकी अपनी-अपनी आर्थिक-स्थिति है। आनन्द ‘लक्ष्मी’ और ‘सरस्वती’ दोनों दृष्टियों से धनी है। लेकिन, वह अभिमानी और संवेदना-शून्य है। देश-भक्ति का भाव तो उसके हृदय में है; किन्तु वह अपने अध्ययन और सुख-चैन को प्राथमिकता देता है। सक्रिय आन्दोलनों से दूर रहता है। देश-भक्ति के नाम पर यदि उसने कोई कार्य किया है तो मात्र कुछ छात्रों से स्वदेशी की प्रतिज्ञा करवा लेना या कुछ चंदा जमा करवा देना। स्वाधीनता-संग्राम के कारण वह अपने ऐश्वर्यपूर्ण जीवन में कोई व्यवधान आने देना नहीं चाहता। जैसे कि देश की स्वाधीनता का दायित्व उसने अन्यो पर छोड़ रखा है। उसकी विचारणा है कि जब कोई एक व्यक्ति मात्र अपने त्याग-बलिदान से देश को स्वतंत्र नहीं कर सकता; तो फिर क्यों अपने जीवन और अपने भविष्य को बर्बाद किया जाए। इसी मानसिकता के फलस्वरूप वह देश-भक्त विशम्भर के विचारों और उसके कार्य-कलापों का विरोध करता है; उसके भावावेग का समर्थन नहीं करता। आनन्द के तर्क लचर हैं; उसकी बुद्धि दूषित है। हृदय और भावना से तो जैसे उसका कोई नाता नहीं। रूपमणि के प्रति उसके लगाव में भी लेखक ने तीव्रता प्रदर्शित नहीं की है। निःसंदेह, समाज में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं। प्रेमचंद ने, अपनी सूक्ष्म दृष्टि से, आनन्द जैसे पात्र की सृष्टि करके समाज की वास्तविकता को उद्घाटित किया है।

लेकिन, विशम्भर आनन्द का विलोम है। वस्तुतः प्रस्तुत कहानी विशम्भर

के लिए ही लिखी गयी है। प्रेमचंद देश के नवयुवकों को विशम्भर बना देना चाहते हैं। उनका स्वाभिमान विशम्भर के चित्रण में, उसके संवादों में, उसके कार्य-कलापों में पूरी शिद्दत से उभर कर आया है। लगता है, जगह-जगह विशम्भर नहीं; प्रेमचंद बोल रहे हैं। विशम्भर की मानसिकता लेखक-प्रेमचंद की मानसिकता का प्रतिबिम्ब है। विशम्भर के माध्यम से प्रेमचंद मानों अपने लेखन-उद्देश्य का उद्घोष कर रहे हैं। उनकी राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना विशम्भर के चित्रण में मूर्तिमान हुई है।

विशम्भर की तड़कीर फूटी हुई है। वह निर्धन है। प्रोफेसरो की दया से उसे एक छोटा-सा वजीफ़ा मिलता है। जिसके सहारे वह विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहा है। लेकिन उसके अन्तर में देशभक्ति का भाव हिलोरें भरता है। वह न शिक्षा को, न अपने सुखमय भविष्य को महत्त्व देता है। प्राथमिकता उसके लिए देश की स्वाधीनता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में, वह अपने प्राणों तक की बलि देने को तैयार है। जीवन की सार्थकता वह इसी में समझता है। कई दिनों की कश-म-कश के बाद, वह एक दिन अचानक, कांग्रेस-ऑफिस में जा कर, वालंटियर बन बैठता है। परीक्षा निकट होने पर भी। उसका हृदय विशाल है। आनन्द को लिखे गये पत्र में स्पष्ट लिखता है, **“मैं अब और अपनी आत्मा को धोखा नहीं दे सकता। यह इज्जत का सवाल है, और इज्जत किसी तरह का समझौता नहीं करती।”** स्वराज्य-भवन के मंत्री का ही नहीं, आनन्द का भी मत है कि वह **‘बड़ा दिलेर आदमी है।’** उसे देहातों को तैयार करने का काम सौंपा जाता है। विशम्भर देहातों में बड़े उत्साह और विवेक से महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य करता है। चंद दिनों में ही उसने देहातों में जागृति फैला दी। विलायती सूत और नशे के विरुद्ध जनमत तैयार कर डाला। पंचायतें खोलने की योजना को ऐसी गति दी कि देहातों से मुकदमे आने बंद हो गये। फलस्वरूप विदेशी हुकूमत की कुदृष्टि उस पर पड़ी। रानीगंज में किसानों की एक विराट सभा में पकड़ा गया। दो वर्ष की सज़ा हुई। इस प्रकार, विशम्भर में स्वाधीनता-संग्राम के एक सेनानी की मानसिकता को आकार दे कर प्रेमचंद ने हजारों विशम्भरों का निर्माण किया है।

नारी पात्र रूपमणि सम्पन्न माँ-बाप की अकेली लड़की है। भोग-विलास में पली। रूपमणि भी विश्वविद्यालय की छात्रा थी। गत वर्ष ही, अस्वास्थ्य के कारण, उसने कॉलेज छोड़ा है। आनन्द और विशम्भर दोनों उससे प्रायः मिलने आते रहते हैं। आनन्द मिलता उसका हृदय लेने; विशम्भर यों ही या फिर

अपनी विपत्ति-कथा कहने। विशम्भर के विचारों से रूपमणि में भी उत्सर्ग-भाव और दृढ-संकल्प जाग्रत होता है। विशम्भर का बलिपंथी रूप उसे सम्मोहित करता है। विशम्भर उसके लिए श्रद्धा का पात्र है। आगे चल कर, रूपमणि विशम्भर के पद-चिन्हों पर चलती है। चरखे से सूत कातती है। गाढ़े की साड़ियाँ पहनती है। राष्ट्रीय जलसों में शरीक होती है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध स्वयं भी आवाज़ उठाती है। विशम्भर का जीवन और त्याग उसे क्रांतिकारिणी बना देता है। वही रूपमणि जो पहले आनन्द के प्रति आकर्षित थी; अब विशम्भर की पूजा करने लगती है। आनन्द का फोटो हटा कर, विशम्भर का फ्रेम-जड़ा फोटो मेज़ पर रखती है। उसके पुराने पत्रों को सभालती है। स्वतंत्रता के दीवाने ऐसे न जाने कितने विशम्भरों ने, न जाने ऐसी कितनी रूपमणियों के हृदय-परिवर्तन किये यह भारतीय इतिहास का एक ज्वलंत स्वर्णिम अध्याय है। नारी जागृति और आन्दोलन के प्रति प्रेमचंद पूर्ण सजग थे। अपनी रचनाओं में, उन्हें जब-जहाँ अवसर मिला; नारी के तेजस्वी-ओजस्वी स्वरूप का उद्घाटन किये बिना नहीं रहे। रूपमणि के माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण विचार भी प्रेमचंद प्रस्तुत करते हैं। स्वराज्य और नयी सामाजिक व्यवस्था के संबंध में रूपमणि के मुख से मानों प्रेमचंद स्वयं बोलते हैं

“अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूंगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेज़ी महाजनों की धन-लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं ? कम-से-कम मेरे लिए स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाएँ।” इसी प्रकार शिक्षा के संबंध में उनके विचार दृष्टव्य हैं, “क्या डिग्री लेने ही से आदमी का जीवन सफल हो जाता है? सारा ज्ञान, सारा अनुभव पुस्तकों में ही भरा हुआ है ? मैं समझती हूँ, संसार और मानवी चरित्र का जितना अनुभव विशम्भर को दो सालों में हो जाएगा, उतना दर्शन और कानून की पोथियों से तुम्हें दो-सौ वर्षों में भी न होगा। अगर शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-बल मानो तो राष्ट्र-संग्राम में मनोबल के जितने साधन हैं, पेट के संग्राम में कभी हो ही नहीं सकते।” रूपमणि का चिन्तन और कर्म विवेकाश्रित है। मात्र आवेशजन्य नहीं। वह सतर्क व सावधान है। विशम्भर को सचेत करती हुई वह कहती है, “कानून के पंजे में

उसी वक्त आना, जब आत्माभिमान या सिद्धांत पर चोट लगती हो।”

इस प्रकार, ‘आहुति’ जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है, ऐसे पात्र की कहानी है जो अपना सर्वस्व देश पर न्योछावर कर देने आगे बढ़ता है। उसका चरित्र और आचरण दूसरों को सशक्त प्रेरणा प्रदान करता है।

यों तो ‘आहुति’ सामान्य स्तर की रचना है। उसमें न कला-वैभव है, न सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण। न कुतूहल पूर्ण परिस्थितियाँ हैं, न उलझाव। पर, वह अपने समय का दस्तावेज़ है; इसमें संदेह नहीं। वह आम पाठक के हृदय को स्पर्श भी करती है। एक साधारण से प्रसंग को कलात्मक परिधान प्रदान करने में प्रेमचंद कितने सिद्धहस्त हैं इसका प्रमाण है ‘आहुति’।

(26) इज़्ज़त का खून

‘इज़्ज़त का खून’ ‘खूने-हुरमत’ (प्रतिष्ठा की हत्या) शीर्षक से ‘सोलह अप्राप्य कहानियाँ’ में भी समाविष्ट है अपने मूल उर्दू-प्रारूप में। यह कहानी ‘सुबहे-उम्मीद’ (सितम्बर 1919) में प्रकाशित हुई थी। इसी कहानी का ‘गुप्त धन’ में समाविष्ट प्रारूप, सरल उर्दू में है।

‘इज़्ज़त का खून’ का वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं। यह एक विशुद्ध काल्पनिक कथा है। फेण्टेसी। इसमें नर-नारी के शारीरिक प्रेम का दर्शन है। पुरुष का नारी के रूप-सौन्दर्य पर आसक्त हो जाना मानों स्वाभाविक है। उसे वह अनुचित-अनैतिक नहीं मानता। यह कृत्य वह छिप कर ही नहीं; निर्लज्ज भाव से प्रकट रूप में भी करता है। नारी पहले तो सब सहन करती है; फिर बदला लेती है। प्रस्तुत कहानी में, बदले का स्वरूप मनोविज्ञान-सम्मत है। इस प्रकार एक फेण्टेसी गढ़ कर, प्रेमचंद इस कहानी में, नर-नारी के सनातन प्रेम-पक्ष को बड़े कलात्मक ढंग से उद्घाटित करते हैं। इस कहानी के पात्रों की मानसिकता समाज-सापेक्ष न हो कर, अपने मौलिक रूप में है। जहाँ तक समाजार्थिक स्तर का संबंध है; सर्वत्र समृद्धि-ही-समृद्धि है। ऐसे ही चिन्ता-रहित समाज में भोग-विलास अपना नग्न खेल प्रदर्शित करता है। पात्रों पर कोई दायित्व नहीं; उन्हें कोई काम नहीं। मात्र स्वयं का विलासपूर्ण जीवन! प्रस्तुत कहानी के दो पक्ष प्रमुख हैं प्रथम, नरी-नारी के मध्य रूप संबंधी ईर्ष्या; द्वितीय, पुरुष का आहत दर्प। लेकिन ऐसा दर्प प्रत्येक पुरुष में नहीं मिलता। अपनी पत्नी / प्रेयसी को त्याग देने के बाद

भी; पुरुष नहीं चाहता कि अन्य लोग उसका भोग करें। किन्तु; ऐसी स्थिति में, पुरुषों पर प्रतिक्रिया समान नहीं होती; नहीं हो सकती। प्रतिष्ठा का प्रश्न केवल नारी के लिए ही नहीं; पुरुष के लिए भी है। पुरुष भी अपने अन्तरंग स्त्री-संबंधों को ले कर समाज में अपमानित होना नहीं चाहता। इज़्ज़त का खून जब दोनों का होता है; तब विवेक जाग्रत होता है। किन्तु; तब बहुत विलम्ब हो चुका होता है। अंत में, हत्या व आत्म-हत्या के सिवा कुछ करने को शेष नहीं रहता। लेकिन ऐसा भी कितने पुरुषों का दर्प कर पाता है ? क्या यह दर्प नारी में नहीं होता ? आदि अनेक प्रश्न 'इज़्ज़त का खून' कहानी में निहित हैं। इस दृष्टि से, यह कहानी विशिष्ट बन पड़ी है। इस कहानी की एक और विशेषता है प्रभावी सहज प्रवाहमय भाषा और प्रेम-भावनाओं की मार्मिक काव्यमय अभिव्यक्ति। इसे प्रेमचंद की लेखन-प्रतिभा का चमत्कार ही कह सकते हैं; जो अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रस्तुत कहानी में तीन पात्र हैं जुबैदा, सईद (जुबैदा का पति) और ज़रीना (सईद की प्रेमिका)। कहानी आत्म-प्रधान शैली में है जुबैदा की ज़बानी।

जुबैदा और सईद में परस्पर अत्यधिक प्रेम था। लेकिन एक साल बाद, सईद ज़रीना के प्रेमपाश में बँध गया। जुबैदा स्वाभिमानी थी। पति के प्रति उसके मन में भी प्रेम व आदर भाव न रहा। निराश; किन्तु सब्र के साथ अपनी ज़िन्दगी काट रही थी। सईद की प्रेमिका ज़रीना ने अचानक उसके प्रति क्रूर व्यवहार किया ईर्ष्याविश; जुबैदा का दर्प-दलन करने के निमित्त भी। सईद के सामने ज़रीना ने जुबैदा को अपमानित किया। खंभे से बँधवा कर क़मची से मारा। उसे हमेशा के लिए ज़लील किया। जुबैदा के नारी-मन पर इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। वह अपने पर लगे दाग़ को मिटा नहीं सकती थी; इसलिए उसने पूर्ण स्याह होना स्वीकार किया सियाह दाग़ छिपाने के लिए। उसने स्वयं वेश्या बनने का इरादा किया। सईद से नैतिक रूप से बदला लेने के लिए आमादा हो उठी। घर से बाहर निकल कर, रूप की मंडी में, एक ऊँचे कोठे पर जा बैठी। फ़िटन पर सवार, सईद जब उधर से गुज़रा तो अपनी पत्नी जुबैदा का यह रूप देख कर ग्लानि से भर उठा। अपमान, ग्लानि और क्रोध के आवेश में उसने ज़रीना का क़त्ल कर; आत्म-हत्या कर ली। चार दिन बाद जुबैदा घर लौटी। सईद के न रहने का गुम उसे बना रहा। वह समझ ही नहीं सकी कि सईद ने अपनी जान क्यों दे दी। अब चंदरोज़ा मुहब्बत का नक्श ही उसकी ज़िन्दगी का सहारा था। इस प्रकार, जुबैदा की मानसिकता

एक खंडित पत्नी की मानसिकता है। एक विवश नारी की व्यथा वह समेटे हुए है। लेकिन उसकी प्रतिक्रिया अवश्य विशिष्ट है। ऐसा आचरण जुबैदा ही कर सकती है; हर सामान्य नारी नहीं। फिर भी, उसका व्यवहार मनोविज्ञान-सम्मत है। सईद को ऐसे आचरण से ही चोट पहुँच सकती थी। ज़रीना (हसीना) रमणी थी। उसके रूप का जादू सईद पर चल गया। सईद उसके साथ नाच-रंग, शराब, संगीत में डूब गया। उसे महत्त्व देने व संतुष्ट रखने के उद्देश्य से सईद ने अपनी पत्नी जुबैदा को ज़लील किया। उसके प्रति उसने भी बेरहमी व निष्ठुरता प्रदर्शित की। जुबैदा की दृष्टि में ज़रीना बाज़ारू औरत, काली नागिन थी। उसे वह दूसरों की उगली हुई हड्डियाँ निचोड़ने वाली कुतिया कहती है। वस्तुतः ज़रीना सईद को भी अपना गुलाम समझती थी। ज़रीना की अवतारणा नर-नारी के दैहिक संबंधों पर प्रकाश डालने के निमित्त है। यहाँ नर-नारी के मौलिक, प्राकृतिक शारीरिक उच्छ्रंखल रिश्ते सामाजिक मर्यादित रिश्तों पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हैं। यह एक सचाई है; जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से नर-नारी दोनों कमज़ोर हैं; विवश हैं। आवेश शांत हो जाने के बाद ही, उनका विवेक जाग्रत होता है। मनुष्य यदि उच्चतर प्राणी है तो निम्नतर पशु भी। सईद सजीला-बाँका जवान है। उसमें मर्दानापन भरा हुआ है। यद्यपि अपनी पत्नी जुबैदा से प्रेम करता है; किन्तु उसमें बनावटीपन अधिक है। अपनी सारी मिलकियत-जायेदाद पत्नी के नाम चढ़वाने का नाटक-भर करता है। एक साल बाद ही उसके प्रेम का बहाव दूसरी ओर मुड़ जाता है। आगे चल कर जुबैदा के प्रति अपनी बेवफ़ाई का खुल कर इज़हार करता है। माना, ज़रीना के जुबैदा के प्रति जुल्म से दुखी ज़रूर है। उसमें खानदानी ग़ैरत, बड़ाई व इंसानियत का एहसास बाकी न रहा। लेकिन जब वह कोठे पर जुबैदा को देखता है तो उसे ज़बरदस्त झटका लगता है। उसके चेहरे पर मुर्दनी छा जाती है जैसे किसी ज़हरीले साँप ने उसे काट लिया हो। प्रतिक्रियावश ज़रीना की हत्या करने के बाद, आत्म-हत्या कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर डालता है। सईद का 'नर' यह जो आचरण करता है; उसका भी अपना मनोवैज्ञानिक पहलू है। 'इज़्ज़त का खून' मात्र एक रोचक कहानी ही नहीं; नर-नारी के दैहिक-आत्मिक संबंधों पर मनोवैज्ञानिक प्रकाश डालने वाली व मानव-मन को उद्घाटित करने वाली एक स्थिति भी है। जो संस्कारगत भी है; विशुद्ध नैसर्गिक भी। इसे एक अभिजातवर्गीय समाज में ही प्रदर्शित किया जा सकता था।

(27) इस्तीफ़ा

‘इस्तीफ़ा’ दफ़्तर के बाबू की कहानी है। यह बाबू पराधीन देश का सरकारी मुलाज़िम है। अंग्रेज़-अफ़सरों की मनोवृत्ति और तत्कालीन निर्धन बाबुओं की दास-भावना इस कहानी में प्रतिबिम्बित है। प्रेमचंद लिखते हैं, **“दफ़्तर का बाबू एक बेज़बान जीव है।”** ज़ाहिर है, इस बाबू की तुलना आज के, स्वतंत्र भारत के, बाबू से नहीं की जा सकती ! आजकल तो प्रत्येक सरकारी कार्यालय में बाबुओं का ही राज है ! अनेक बाबुओं को तो रिश्वत के खून का चस्का लगा हुआ है। समस्त भौतिक सुख-सुविधाएँ उन्हें प्राप्त हैं। लेकिन, प्रेमचंद ने पराधीन देश के इस दास बाबू के द्वारा भी, देश के स्वाभिमान की रक्षा की है। माना कि बाबू की कार्रवाई अतिरंजित है।

प्रस्तुत कहानी के बाबू बत्तीस-वर्षीय लाला फ़तहचंद हैं; जो किसी ‘हारचंद’ से कम नहीं ! तत्कालीन दफ़्तर के बाबू की मानसिकता फ़तहचंद में देखी जा सकती है। एक समय था, जब दफ़्तर का बाबू ग़रीब ही नहीं, बड़ा निरीह होता था। उसका खाका खींचते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, **‘ आँखों में ज्योति कम, न दिल में हिम्मत न कलेजे में ताक़त। चेहरा पीला, कमर झुकी। न धर्म से वास्ता था, न दीन से नाता। न कोई मनोरंजन था, न खेल।’** परिवार में तीन लड़कियाँ, दो भौजाइयाँ, भाई नहीं। नौकरी पर ही रोज़ी-रोटी निर्भर। ऐसा व्यक्ति कमज़ोर और दबैल हो ही जाता है। मजबूरी में अपमान के घूँट पीने के लिए विवश हो जाता है। ऐसे ही दिल-दिमाग़ का है लाला फ़तहचंद। पर, यह उसका मौलिक स्वरूप नहीं है। कहानी के अंत में वह एक स्वाभिमानी और दिलेर इंसान के रूप में सामने आता है। इस प्रकार प्रेमचंद अपने इस पात्र को कभी गिरने-झुकने नहीं देते।

सम्पूर्ण कहानी में प्रेमचंद का विनोदी स्वभाव भी दृष्टव्य है। दफ़्तर से लौटने के बाद, घर पर चपरासी आता है और कहता है कि अफ़सर ने बँगले पर उन्हें बुलाया है। लाला फ़तहचंद को जाना पड़ता है। बँगले पर शराब के नशे में धुत अंग्रेज़-अफ़सर दुर्व्यवहार करता है। फ़तहचंद को सुअर कह कर कान पकड़ने को कहता है। कान न पकड़ने पर स्वयं उसके दोनों कान पकड़ कर हिला देता है। फ़तहचंद बेइज़्ज़ती और ज़िल्लत को दो कारणों से बरदाश्त करता है एक तो वह शरीर से कमज़ोर है; दूसरे उसे अपनी पत्नी शारदा की बेबसी और बच्चों का

बिना बाप के हो जाने का खयाल। लेकिन, उसे अपनी कायरता और बोदेपन पर ग्लानि अवश्य होती है।

कहानी में एक चपरासी है ; फ़तहचंद के स्वभाव और चरित्र से एकदम उलटा। अंग्रेज़-अफ़सर के धमकाने पर भी बाबू का कान नहीं पकड़ता। साफ़ कहता है, **“नौकरी करने आया हूँ; मार खाने नहीं। मैं भी इज़्ज़तदार आदमी हूँ; हज़ूर अपनी नौकरी ले लें।”**

फ़तहचंद की पत्नी शारदा, कहानी की सबसे सशक्त और स्वाभिमानिनी पात्र है। पति के मुख से घटना का विवरण सुनकर, गुस्से में आकर कहती है, **“तुमने एक जूता उतार कर दिया नहीं सूअर को?”** और भी - **“तुम्हें चाहिए था कि ज्यों ही उसके मुँह से गालियाँ निकलीं, लपक कर एक जूता रसीद कर देते।”** पत्नी-बच्चों की भविष्य-चिन्ता पर शारदा का कथन भारतीय नारी की अस्मिता का उद्घोष करता है, **“आदमी के लिए सबसे बड़ी चीज़ इज़्ज़त है। इज़्ज़त गँवा कर बाल-बच्चों की परवरिश नहीं की जाती।”** प्रेमचंद एक घरेलू स्त्री, एक गृहिणी, की मानसिक बनावट को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। महिलाएँ प्रायः अधिक दबंग और जुझारू देखने में आती हैं। और शारदा तो प्रेमचंद की सृष्टि है। वह भला, कमज़ोर कैसे साबित होती?

शारदा के तेवर देख कर एवं उसकी निर्भिकता से प्रभावित हो कर, फ़तहचंद में उत्साह और शक्ति का संचार होता है। उसकी कायापलट हो जाती है। वह अब मरने-मारने को तैयार हो जाता है। डंडा लेकर साहब के बँगले पर पहुँचता है। उसे अब न बरखास्तगी का तनिक डर है; न फ़ौजदारी का। साहब की खोपड़ी पर डंडा मारता है और यह कह कर इस्तीफ़ा दे देता है, **“अब तुम जैसे पाजी आदमी की मातहत नहीं करूंगा।”** जीवन में, इस प्रकार, फ़तहचंद की पहली जीत होती है।

प्रेमचंद किस प्रकार भारतीय जनता का मनोबल बढ़ाते हैं यह ‘इस्तीफ़ा’ शीर्षक कहानी के पात्रों से जाहिर है। अंग्रेज़-अफ़सर समझ जाता है; किसी ग़रीब को बेगुनाह ज़लील करना आसान नहीं। वह, यह कह कर माफी माँगता है कि **‘उस वक़्त हम नशा में था।’** आख़िरकार उसे अपने कान पर हाथ रख कर कहना पड़ता है - ‘अब आप खुश हुआ?’

(28) ईदगाह

‘ईदगाह’ सामान्य बाल-मनोविज्ञान की कहानी है। इसकी पृष्ठभूमि में मुस्लिम समाज है अवश्य; किन्तु इस कहानी का किसी खास धार्मिक समाज से कोई संबंध नहीं है। ईदगाह के मेले के स्थान पर कोई भी मेला माना जा सकता है। पात्रों के नाम भी किसी भी धार्मिक समाज के रखे जा सकते हैं। वस्तुतः मानव समाज सर्वत्र एक है। माना कि प्रेमचंद ने मुसलमानों के ईदगाह-पर्व का बड़ा ही जीवन्त चित्रण-वर्णन किया है। दूसरे, यह कहानी बच्चों-लड़कों की है ज़रूर; किन्तु वास्तव में है एक विशिष्ट आर्थिक व पारिवारिक स्तर के बालक की। कहानी का प्रमुख पात्र चार-पाँच वर्ष का बालक हामिद एक अनाथ व निर्धन बालक है। वह अपनी बूढ़ी दादी अमीना के साथ रहता है। दादी द्वारा ही उसकी परवरिश हो रही है। दादी ही उसे संस्कार दे रही है।

निर्धनता के कारण ऐसे बच्चों की सूझबूझ कम उम्र में ही जाग्रत हो जाती है। आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियों ने हामिद की जैसी मानसिकता निर्मित की है वैसी अन्य बालकों में इतनी आम नहीं। हामिद का चिन्तन और उसके कार्य-कलाप; उसे सामान्य बालकों से कुछ अलग भूमि प्रदान करते हैं। इसमें दो मत नहीं कि हामिद जैसे बालक तमाम हैं और हामिद ऐसे बालकों का प्रतिनिधित्व करता है। वह कोई असामान्य-असाधारण बालक नहीं है। हामिद बचपन में ही विवेकशीलता का परिचय देता है। दादी के विशिष्ट स्नेह और समझदारी के फलस्वरूप, वह एक अच्छा लड़का बनने की आन्तरिक भावना से संचालित है। कहानी में वृद्धा दादी अमीना को छोड़ कर शेष पात्र बालक ही हैं यथा; महमूद, कहानी का सर्वाधिक बातूनी बालक मोहसिन, नूरे और सम्मी। इन बालकों का पारस्परिक व्यवहार स्वाभाविक एवं बालकोचित है। इनके स्वभावों, वार्तालापों और क्रियाओं में प्रेमचंद ने एक अनुभवी बाल-मनोविज्ञानी का परिचय दिया है। बालकों के तर्क एवं उनके अंध-विश्वास बालकोचित हैं। प्रेमचंद को इस दृष्टि से प्रस्तुत कहानी-लेखन में पूर्ण सफलता मिली है। उन्हें बालकों के मनोविज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान है।

कहानी के केन्द्र में मात्र हामिद है। उसे केवल तीन पैसे ईद का मेला करने-मनाने के लिए मिल पाते हैं ! अन्य बालक बारह-बारह / पन्द्रह-पन्द्रह पैसे लेकर जाते हैं। उसके साथी चर्खी पर बैठते हैं, पर हामिद नहीं बैठता। उसके साथी

मँहगे खिलौने खरीदते हैं सिपाही, भिश्ती, वकील आदि। लेकिन हामिद मात्र तीन पैसों में ऐसे खिलौने नहीं खरीद पाता। वह यह सोच कर, संतोष-भर कर, रह जाता है, “**खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े तो चूर-चूर हो जाए। ज़रा पानी पड़े तो सारा रंग धुल जाए।**” उसके साथी मिठाइयाँ (रेवड़ियाँ, गुलाबजामुन, सोहनहलवा) खरीदते और खाते हैं; लेकिन हामिद ललचता रह जाता है। यही नहीं, उसके प्रति वे क्रूर मज़ाक भी करते हैं और वह खिसिया कर रह जाता है। आगे उस स्थल पर, कहानी बड़ी मार्मिक और गंभीर हो उठती है, जब हामिद को, रोटी सेकते दादी के हाथ जलने का ध्यान आता है और दादी की हज़ारों दुआओं के मिलने की प्रेरणा से, वह अपनी कुल पूँजी तीन पैसे से, लोहे की चीज़ों की दूकान से, अपनी दादी के लिए चिमटा खरीदता है। हामिद का त्याग, सद्भाव और विवेक पाठकों को अभिभूत कर लेता है। चिमटा खरीद कर हामिद बेहद प्रसन्न और संतुष्ट है। अपने साथियों के सम्मुख चिमटे का महत्त्व प्रतिपादित करता है। उसे ‘रुस्तमे हिन्द’ का खिताब प्रदान करता है। हामिद का अद्भुत रूप देख कर दादी ने मन में सोचा **‘यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या, चिमटा !’** प्रेमचंद बताते हैं **‘बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गयी। अमीना दामन फैला कर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती जाती थी।’** निःसंदेह, प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंद ने अपने जिस पात्र को प्रमुख प्रतिपाद्य बनाया; उसकी मानसिकता का चित्रण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

(29) ईश्वरीय न्याय

‘ईश्वरीय न्याय’ एक ऐसे सचरित्र पात्र की कहानी है जो परिस्थितियों का शिकार है और अपराध-बोध से ग्रस्त है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न न होते हुए भी मुंशी सत्यनारायण सदा स्वामिभक्त रहे। ज़मींदार पं. भृगुदत्त का उन पर पूर्ण विश्वास रहा। वे एक सुप्रबन्धक कारिन्दे थे। ज़मींदार पं. भृगुदत्त की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी विधवा भान कुँवरि और उनके दो नाबालिग बच्चों की देखरेख भी उन्होंने की।

प्रेमचंद लिखते हैं - **‘ईमान का सबसे बड़ा शत्रु अवसर है।’** एक

अवसर ऐसा आता है कि मुंशी सत्यनारायण की नीयत बिगड़ जाती है। गंगा-किनारे कानपुर के पास एक उपजाऊ गाँव उन्होंने तीस-हज़ार में ख़रीदा स्वयं के नाम से; क्योंकि पं. भृगुदत्त के बच्चे अभी नाबालिग थे। ख़रीदते समय उनके मन में कपट-भाव नहीं था; पर उसका अंकुर शीघ्र जम गया। आठ-वर्ष बाद, भान कुँवरि को मुंशी का कपट प्रकट हुआ। बात मुक़दमेबाज़ी तक पहुँची। अपने पक्ष को मज़बूत करने के लिए मुंशी सत्यनारायण चोर बनकर भान कुँवरि के मकान में घुसता है और संबंधित सारी बहियाँ चुरा कर गंगा में फेंक देता है। उसके जालसाज़ी का समर्थन उसकी माँ और पत्नी तक नहीं करतीं। उनका स्पष्ट अभिमत है - **‘नीयत बिगाड़ी, अच्छा काम नहीं किया।’** हराम की सम्पत्ति को वे अधर्म समझती हैं।

प्रमाण समाप्त कर देने के फलस्वरूप मुंशी सत्यनारायण मुक़दमा जीत जाते हैं। चूँकि मौलिक रूप से वे अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्ति नहीं थे; इस कारण उनके मन में धर्म-अधर्म का संघर्ष बराबर होता रहा। मुक़दमा जीत जाने के बाद, भान कुँवरि ने जब भरे न्यायालय में ईमान की बात उससे पूछी तो मुंशी सत्यनारायण ने सचाई क़बूल ली और सबके समक्ष कहा, **‘गाँव आपका है।’** हज़ारों मनुष्यों के मुँह से एक गगनस्पर्शी ध्वनि निकली **‘सत्य की जय!’** लेकिन जज ने खड़े होकर कहा - **‘यह क़ानून का न्याय नहीं, ईश्वरीय न्याय है!’** मुंशी सत्यनारायण के नैतिक साहस से प्रभावित होकर भान कुँवरि का विश्वास उस पर पुनः प्रतिष्ठित हो गया और अपना सारा करोबार उसे सौंप दिया। यही नहीं कुछ दिनों के उपरान्त यह गाँव भी उसके नाम हिब्बा कर दिया। **‘मुंशी जी ने भी उसे अपने अधिकार में रखना उचित नहीं समझा, कृष्णार्पण कर दिया। अब इसकी आमदनी दीन-दुखियों और विद्यार्थियों की सहायता में खर्च होती है।’**

धन-सम्पत्ति में बड़ी ताक़त होती है। लोग उचित-अनुचित तरीकों से धन बटोरने में संकोच नहीं करते। विश्वास-पात्र तक इस कमज़ोरी के शिकार सरलता से हो जाते हैं। मनुष्य की इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप मुंशी सत्यनारायण जैसे स्वामिभक्त की नीयत में खोट आ जाती है; जिस पर विश्वास किया जा सकता है। लेकिन उसका हृदय-परिवर्तन आज की दुनिया में इतना विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः प्रस्तुत कहानी एक ऐसे पात्र की कहानी है; जो अपराध-बोध अनुभव करता है। मनुष्य की जब ऐसी मनःस्थिति बनती है तब उसका मौलिक स्वरूप सहज ही उभर आता है। मुंशी सत्यनारायण की मानसिकता

को इसी संदर्भ में देखना होगा। इसे चाहे चमत्कार कहें, चाहे ईश्वरीय प्रेरणा। अतः 'ईश्वरीय न्याय' कहानी को अस्वाभाविक व अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

(30) उद्धार

'उद्धार' शीर्षक कहानी वैवाहिक प्रथा अथवा समस्या से सम्बद्ध है। कहानी प्रारम्भ करने के पूर्व ही प्रेमचंद इस संबंध में वस्तुस्थिति का बयान करते हैं- **'हिन्दू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित, इतनी चिन्ताजनक, इतनी भयंकर हो गयी है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्यों कर हो।'** कन्या-जन्म पर अधिकांश दुखी प्रतीत होते हैं। क्यों ? मूल कारण कन्या के विवाह को लेकर है। जिन समाजों में वैवाहिक समस्या इतनी जटिल नहीं, वहाँ पुत्र-पुत्री में कोई भेद-भाव नहीं पाया जाता। प्रेमचंद लिखते हैं **'बिरले ही ऐसे माता-पिता होंगे जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाय तो वह सहर्ष उसका स्वागत करें। कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है।'** कन्या का विवाह इतनी अधिक चिन्ता का कारण क्यों बनता है ? इसका कारण है दहेज-प्रथा। दहेज की दर 'दिन दूनी रात चौगुनी' बढ़ती जा रही है। इसके पीछे मात्र शिक्षित समाज की निर्धनता ही नहीं है; समृद्ध परिवारों में तो दहेज-लोभ और भी अधिक पाया जाता है। प्रश्न है, कन्याओं के विवाह को हम इतना महत्त्व क्यों देते हैं ? यदि कन्याओं का विवाह नहीं हुआ तो न सही। वस्तुतः, मूल कारण है अविवाहित कन्या के 'पाँव कहीं ऊँचे-नीचे पड़ गये तो' ??? समाज में **'किसी भी व्याधि की इससे भयंकर कल्पना नहीं की जा सकती।'** अधिकांश समाजों में पुरुष के यौन-दुराचरण पर ध्यान नहीं दिया जाता; किन्तु स्त्री की यौन-पवित्रता पर सबकी दृष्टि रहती है। यही कारण है कि हर अभिभावक शीघ्रातिशीघ्र अथवा उपयुक्त समय पर कन्या का विवाह कर अपने दायित्व से मुक्त हो जाना चाहता है। अधिकांश उचित-अनुचित का ध्यान तक नहीं करते अथवा सब जानते हुए भी ग़लत क़दम उठाने के लिए मजबूर होते हैं। **'कोई बूढ़े के गले कन्या को मढ़ कर अपना गला छुड़ाता है, पात्र - कुपात्र के विचार करने का मौका कहाँ, ठेलमठेल है।'** 'उद्धार' शीर्षक कहानी की बहुत-कुछ यही पृष्ठभूमि है। प्रस्तुत कहानी का प्रमुख पात्र, आबकारी-विभाग में कार्यरत बाबू दरबारी लाल का पुत्र हज़ारीलाल है। हज़ारीलाल

जानता है कि वह क्षय-रोग से ग्रस्त है। इस कारण वह अपने विवाह के पक्ष में क़तई नहीं है। लेकिन पिता संतान के लिए विवाह के पक्ष में है; भले ही बहू विधवा हो जाये। उसका सोचना है - **‘ विवाह हो जाने से तुम्हारी कोई निशानी तो रह जायगी। ईश्वर ने कोई संतान दे दी तो वही हमारे बुढ़ापे की लाठी होगी।’** विवश हो, हज़ारीलाल अपने भावी ससुर को पत्र लिख कर, वास्तविकता से परचित कराता है। लेकिन कन्या अम्बा के माता-पिता इसे मात्र बहाना समझते हैं। वधू की ओर, न माता-पिता ने ध्यान देना चाहा; न सास-ससुर ने। हज़ारीलाल लड़की को कुएँ में, वैधव्य के अग्नि-कुंड में, धकेलना नहीं चाहता था; अतः बरात जिस रात रवाना होने वाली थी, वह घर से भाग जाता है और फिर लौट कर नहीं आता। बाद में, उसकी आत्म-हत्या/ उसके आत्म-बलिदान की जानकारी मिलती है। रेल के नीचे कट कर वह अपने प्राण गँवा देता है।

अम्बा का फिर अन्यत्र विवाह हो जाता है। अम्बा ही हज़ारीलाल के जीवन-त्याग का महत्त्व, अर्थ, मर्म व देवत्व समझती है। अपने पति से उसके बारे में अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त करती है **‘ मेरे परम दयालु उद्धारक, जीवनदाता, मुझे अथाह जल में डूबने से बचानेवाले, मुझे सौभाग्य का वरदान देनेवाले।’** उसके पति का भी निष्कर्ष था - **‘वास्तव में वह मनुष्य नहीं, देवता थे!’**

प्रेमचंद ने समस्या का निदान हज़ारीलाल के अस्तित्व का लोप करके किया है; जो वास्तव में कोई निदान नहीं। कोई ज़रूरी नहीं था कि प्रेमचंद समस्या का कोई निदान प्रस्तुत करते। उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है। वे समाज का ध्यान मूल समस्या के प्रति आकर्षित करना चाहते थे। कहानी, यद्यपि हिन्दू-समाज से संबध रखती है; तथापि इसकी मूल भावना उन सभी समाजों पर लागू होती है; जहाँ कन्या के प्रति उपेक्षा-भाव विद्यमान है। दहेज़ के दानव ने जगह-जगह अपने पंजे में स्त्री-वर्ग को दबोच रखा है। आज भी, माता-पिता और सास-ससुर की मानसिकता बहुत-कुछ ‘उद्धार’ के पात्रों के अनुरूप देखने में आती है।

(31) उन्माद

‘उन्माद’ के केन्द्र में स्त्री-पुरुष के संबंध / पति-पत्नी के संबंध हैं। इस पक्ष पर, भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय पत्नी को

आदर्श गृहिणी एवं त्याग-तप की देवी बताया गया है; जबकि पाश्चात्य देशों में पत्नी के रूप-सौन्दर्य को व्यापारिक दृष्टि से देखा जाना बताया गया है। भारत में आध्यात्मिकता है; जबकि पाश्चात्य देशों में सांसारिकता का बोलबाला है। भारत में पति-पत्नी के आत्मीय संबंधों पर बल दिया जाता है; जबकि पाश्चात्य देशों में मात्र भौतिक समृद्धि को। इस वैचारिक निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए प्रेमचंद ने एक पुरुष-पात्र (मनहरनाथ) और दो स्त्री-पात्रों (वागेश्वरी और जेनी) की सृष्टि की है। लेखक ने इसके लिए भारत और इंग्लैण्ड को चुना है। वागेश्वरी भारतीय मानसिकता / विचारणा की प्रतीक है तो जेनी पाश्चात्य की। मनहरनाथ की पहली पत्नी वागेश्वरी है; इंग्लैण्ड पहुँच कर वह जेनी से विवाह रचाता है। इन दोनों पत्नियों के माध्यम से मनहरनाथ भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों को प्रकाशित करता है। प्रस्तुत कहानी में तीनों ही पात्रों की भूमिका प्रमुख है।

वागेश्वरी एक आदर्श भारतीय पत्नी है। उसने पति मनहरनाथ को घर की चिन्ताओं से मुक्त रखा। उसके हौसलों को उभारा, उसे उत्तेजना दी, तसल्ली दी। पति के विद्याभ्यास में सहायक हुई। स्वयं पति के साथ इंग्लैण्ड नहीं गयी; क्योंकि वह पति के पाँव की बेड़ी बनना नहीं चाहती थी। मायके भी नहीं रही। निर्धन दशा में, सास-ससुर की सेवा में रत रही। मनहरनाथ के दो रूप हैं एक उसका मौलिक रूप; प्रारम्भिक रूप। उसका मत है **‘सुभार्या स्वर्ग की सबसे बड़ी विभूति है। विवाह भोग नहीं, आत्मा का विकास है।’** मनहरनाथ दफ़्तर में क्लर्क था। जासूसी उपन्यास पढ़ने में उसकी रुचि थी। जासूसी उपन्यासों से प्रेरणा पाकर उसने जासूसी पर एक उत्कृष्ट पुस्तक लिखी; जिससे उसे बड़ा यश मिला। सरकार ने जासूसी-कला का अभ्यास करने के लिए वृत्ति पर उसे इंग्लैण्ड भेजा। इंग्लैण्ड में रह कर उसने जाना कि उन्नति के लिए रूपवती स्त्री एक प्रभावशाली साधन है। चपल-सुन्दर, वाणी-कुशल, सोने की पकी खान है। वागेश्वरी के त्याग और सेवा का महत्त्व घट गया। अंग्रेज़ युवतियों के सामने भारतीय नारियाँ व्यर्थ-सी वस्तु, हलकी, तुच्छ प्रतीत होने लगीं।

इसी बीच, वह एक अंग्रेज़ युवती जेनी के सम्पर्क में आता है। वागेश्वरी की मृत्यु हो जाने का झूठा समाचार उसे देता है और जेनी से इंग्लैण्ड में विवाह कर लेता है। जेनी-प्रपंच से उसे गुप्तचर-विभाग में उच्च-पद प्राप्त हो जाता है और वह बम्बई के दफ़्तर में पदस्थ होता है। घर वालों से एक प्रकार से उसने संबंध-विच्छेद कर लिए। भारत लौट आने की सूचना तक उन्हें नहीं दी। मात्र विलायती मेम और

ईसाई बन जाने की सूचना उन्हें थी।

लगभग दो-वर्ष जेनी के साथ रह कर, उसका वास्तविकता से साक्षात्कार होता है। जेनी की स्वच्छंद वृत्ति से रुष्ट होता है। परस्पर मनोमालिन्य बढ़ता जाता है। मानसिक व्यथा के कारण शराब-सेवन अधिक करने लगता है। और जब उसे जेनी की बेवफ़ाई का एहसास होता है तो उसमें ज़बरदस्त परिवर्तन होता है। पद से इस्तीफ़ा ही नहीं देता; जेनी से अंतिम विदा ले लेता है। पाश्चात्य सभ्यता को अब दूर से सलाम करता है। इस सारे घटना-चक्र से वह इतना अधिक प्रभावित होता है कि अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है। उन्माद-ग्रस्त हो जाता है। जेनी-प्रसंग भूल जाता है। उसे घर की याद आती है। वागेश्वरी की याद आती है। अंत में, अपने घर जा पहुँचता है। मानसिक विकार-ग्रस्त। वहाँ वागेश्वरी से उसका पुनर्मिलन होता है।

मिस जेनी रोज़ प्रेम में कपट-लीला खेलने में दक्ष है। वह सम्मोहन-कला में सिद्धहस्त है। सोसाइटी में रमना पसंद करती है। घोषणा करती है **‘अंग्रेज़-स्त्री अपनी रुचि के सिवा और किसी की पाबन्द नहीं।’** पति उसके लिए मात्र एक घोड़ा है; जिस पर बैठ कर वह शिकार खेलती है। छह माह बाद जेनी मनहर को खोज निकालती है। वहाँ वागेश्वरी को जीवित देखकर हिंसक बन उठती है। पिस्तौल से उसे उड़ा देना चाहती है कि मनहर उसके हाथ से पिस्तौल छीन कर अपनी छाती में गोली मार लेता है। इस प्रकार, प्रेमचंद ने अपने उद्देश्य को आकार देने के निमित्त एक जटिल कथानक की कहानी की रचना की। पात्रों का व्यक्तित्व भले ही स्वतंत्र न हो, पर वे इतने कठपुतली भी नहीं कि निर्जीव प्रतीत होते हों। कहानी का शिक्षित और अशिक्षित दोनों समाजों से सरोकार है। ‘उन्माद’ में पात्रों की मानसिकता का इतना महत्त्व नहीं; जितना उनके माध्यम से दो सभ्यताओं दो जीवन-दृष्टिकोणों को उजागर करना है।

(32) उपदेश

‘पर उपदेश कुशल बहुतेरे’ को चरितार्थ करती कहानी है ‘उपदेश’। प्रयाग-निवासी ज़मींदार पं. देवरल्ल शर्मा इस कहानी का पमुख पात्र है। उसकी ज़मींदारी गाँव में है; किन्तु वह स्वयं गाँव में नहीं रहता। गाँव की देख-रेख, व्यवस्था और लगान वसूलने का दायित्व मुख्तार पर सौंप रखा है। नौकरों और

कारिन्दों की कृपा पर निर्भर रहता है। वह स्वयं अपने किसी भी असामी से परिचित नहीं है। फिर, पं. देवरत्न शर्मा करता क्या है? उच्च श्रेणी की शिक्षा प्राप्त है। बी.ए. पास है। कुल भी उच्च है। ज़मींदार है ज़रूर; किन्तु काम करता है केवल 'देश - भक्ति' का। 'देश - सेवा' की खातिर गवर्नमेण्ट का उच्च - पद स्वीकार नहीं किया। समसामयिक विषयों पर लेख लिखता है। व्याख्यान देने का काम करता है। अनेक संस्थाओं का पदाधिकारी है। 'सोशल सर्विस लीग' का मंत्री है। प्रेमचंद बताते हैं, उसकी तथाकथित देश-भक्ति एवं देश-सेवा मात्र पाखंड है। सस्ती ख्याति पाने के निमित्त है। स्वार्थवश है। अचानक, शहर में प्लेग फैल जाता है। इस मौके पर पं. देवरत्न की देश-सेवा की क़लई खुल जाती है। उसकी जनसेवा छद्म है। स्वांग है। प्लेग के भय से स्वयं देहात रवाना हो जाता है वहाँ भी बीमारी फैलने का बहाना करके। यद्यपि मन में लज्जित है। वास्तव में, वह कायर और निर्बल है। मात्र वाचालता के बल पर लोगों पर अपना सिक्का जमाए रखना चाहता है। उसका एक वकील-मित्र उसके सम्मुख ही उसकी असलियत उजागर करता है। **'वाचालता और क़लम धिसने से देश-सेवा नहीं होती। आप लोग अपने सिवा सारे संसार को स्वार्थान्ध समझते हैं। अब भूल कर भी देश-भक्ति की डींग न मारिएगा।'** वकील की फटकार से उन्हें ग्लानि अवश्य होती है। गाँव पहुँच कर उन्होंने गाँव की गन्दगी देखी। उनके मुख्तार के कारनामे भी क्रमशः सामने आये। उनकी आँखें तब खुलीं; जब उन्होंने उसी गाँव के एक हिस्से के ज़मींदार लाला बाबूलाल का इलाका देखा। बाबूलाल का हिस्सा साफ़-सुथरा था। वहाँ सुप्रबन्ध था। पेशे से बाबूलाल एक वकील के मुहरिर थे। लेकिन रहते अपने गाँव में ही थे। स्वयं अपने गाँव की देखभाल करते थे। पं. देवरत्न की तरह, नौकरों की कृपा पर उन्होंने अपना गाँव नहीं छोड़ रखा था; जो किसानों को चूसते हैं। देहातियों के प्रति उनकी धारणा थी **'वे शीलवान, नम्र, और कृतज्ञ होते हैं।'** देहातियों की कष्ट में मदद करने से उनका ईमानदार सहयोग मिलता है। लाला बाबूलाल ने पं. देवरत्न को बताया कि उनके समान सुशिक्षित ज़मींदारों की गाँवों में सख्त ज़रूरत है। गाँवों की अधिकांश **'आपत्तियों का एकमात्र कारण यह है कि देहातों में कर्मपरायण, विद्वान और नीतिज्ञ मनुष्यों का अभाव है। सुशिक्षित ज़मींदार सारा काम कारिन्दों पर छोड़ देते हैं।'**

अंत में, पं. देवरत्न, लाला बाबूलाल को अपना गुरु बनाते हैं और कहते हैं **'मुझे अब अपनी स्वार्थान्धता स्पष्ट दीख पड़ती है। मैं सारी जाति**

के उद्धार का बीड़ा उठाये हुए हूँ, सारे भारतवर्ष के लिए प्राण देता फिरता हूँ, पर अपने घर की खबर ही नहीं। मेरी शिक्षा ने मुझे किताबों का कीड़ा बनाकर छोड़ दिया।’

एक शिक्षित ज़मींदार से गाँव कुछ अपेक्षा रखता है। लेकिन, शिक्षित लोग शहर की ओर भागते हैं; उन्हें गाँव में रहना-बसना पसंद नहीं। ग्रामवासियों के मन में ज़मींदार-वर्ग के प्रति, प्रेमचंद आक्रोश उत्पन्न नहीं करते। पं. देवरत्न के पाखंड पर वे निर्ममता से प्रहार भी नहीं करते। उसका हृदय-परिवर्तन अवश्य करते हैं। उसकी मानसिक बनावट को अवश्य बदल डाले हैं।

गाँव के परिप्रेक्ष्य में ही, प्रस्तुत कहानी में, पुलिस की भूमिका का भी उल्लेख है। दरोगा जुल्फ़िकार अली खाँ और छोटे दरोगा बाबू कोकिला सिंह का प्रवेश करके प्रेमचंद ने पुलिस के हथकण्डों का पर्दाफ़ाश किया है। पुलिस के तौर-तरीकों और देहातियों पर पुलिसकर्मियों के अत्याचार का विवरण स्वयं दरोगा के मुख से वर्णित है। यदि शिक्षित ज़मींदार स्वयं अपने गाँव में रहने लगे तो ग्रामवासियों पर पुलिस की ज्यादतियाँ भी कम या समाप्त हो सकती हैं। ‘उपदेश’ कहानी एक ढोंगी समाज-सेवक का खाका तो खींचती ही है; ग्रामीणों की मानसिकता के विविध पहलुओं पर भी प्रकाश डालती है।

(33) एक आँच की क़सर

प्रस्तुत कहानी काशीर्षक मौजू नहीं लगता। एक आँच की क़सर एक चोट की क़सर - का आशय स्पष्ट नहीं होता।

‘एक आँच की क़सर’, एक धूर्त, पाखंडी, मक्कार व्यक्ति, महाशय यशोदानन्दन की कहानी है; जो अपने बड़े बेटे के विवाह पर, दहेज़ में बीस-हज़ार रुपये वसूलता है; किन्तु प्रचार करता है कि उसने दहेज़ में कुछ नहीं लिया। स्वयं अपना ढिंढोरा पीटता है **‘मैं सत्य कहता हूँ यह रुपये (दहेज़ के) ले लूँ तो मुझे इतनी मानसिक वेदना होगी कि शायद मैं इस आघात से बच ही न सकूँ।’** यही नहीं तिलक के अवसर पर दहेज़ के विरोध में व्याख्यान देता है। यहाँ तक कहता है **‘ ऐसे लोभी, धन पर गिरने वाले, बरदा-फ़रोश, अपनी संतान का विक्रय करने वाले नराधम जीवित हैं और सुखी हैं।’** प्रेमचंद ऐसे ढोंगी का पर्दाफ़ाश जिस ढंग से करते हैं; उसमें उनका विनोदी स्वभाव पुनः परिलक्षित है !

तिलक के अवसर पर ही, उपस्थित आगंतुकों के सामने, उनका सात वर्षीय छोटा बेटा परमानन्द अपना लिखित व्याख्यान पढ़ता है। यह व्याख्यान उसके पिता यशोदानन्दन ने उसे लिख कर दिया लेकिन ग़लती से परमानन्द सबके सामने उनके समधी (शाहजहाँपुर के स्वामीदयाल) का वह पत्र पढ़ डालता है जिसमें उन्होंने यशोदानन्दन से अनुरोध किया था कि **‘इस व्यापार को गुप्त रखने से आपको जो सम्मान और प्रतिष्ठा लाभ होगी, और मेरे निकटवर्ती बन्धुजनों में मेरी जो निन्दा की जायगी, उसके उपलक्ष्य में मेरे साथ रिआयत होगी? मेरा विनीत अनुरोध है कि पच्चीस में से पाँच निकालकर मेरे साथ न्याय किया जाय ।’** इस पत्र को सुनकर श्रोतागण तुरन्त सब भाँप गये और यशोदानन्दन के सामने ही परस्पर कहने लगे **‘शरम आनी चाहिए!’**, **‘ईश्वर पाखंडियों को यो ही दंड देता है!’** यशोदानन्दन समझ गये कि उनका भाँडा फूट गया। उनके मुँह में कालिख लग गयी, सिर नीचा हो गया। (क़लई तो खुल ही गयी; एक आँच की क़सर कहाँ रही?)

प्रेमचंद एक आगन्तुक अतिथि से कहलवाते हैं **‘ इसे लीडरी कहते हैं कि अपना उल्लू भी सीधा करो और नेकनाम भी बनो ।’** इस प्रकार, प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में समाज के अनेक पाखंडियों को बेनकाब किया है। उनकी छद्म सामाजिक प्रतिष्ठा को उधारा है। शायद, इन कहानियों को पढ़कर समाज में धूर्त मानसिकता वाले अपने में बदलाव ला सकें।

(34) एक्ट्रेस

‘एक्ट्रेस’ कहानी पैंतीस वर्षीय अभिनेत्री तारा देवी की कहानी है। तारा देवी एक नाटक कम्पनी में पन्द्रह वर्षों से अभिनय-कर्म कर रही हैं। पेशे से वह अभिनेत्री हैं; किन्तु प्रस्तुत कहानी में उसका विशुद्ध नारी-रूप ही प्रमुख प्रतिपाद्य है। अभिनय-कला से उसे अकूत यश और धन प्राप्त हुआ अवश्य; लेकिन उसकी ‘नारी’ अभी तक कृतकृत्य नहीं हो सकी है। किसी उपयुक्त पात्र को वह अपना जीवन-साथी अभी तक नहीं बना सकी। उसे प्रशंसक तो हज़ारों मिले; लेकिन ऐसा प्रशंसक नहीं मिला जिसे वह अपने पति के रूप में स्वीकार कर पाती। और जीवन के पैंतीस बसन्त बीत गये! इस प्रकार प्रस्तुत कहानी तारा देवी के अभिनय कौशल से इतनी संबंधित नहीं है; जितनी कि उसके नारीत्व से। स्त्री-पुरुष के सनातन

संबंध से। तारा देवी की मानसिकता की जड़ में यही भावना है; जो प्रस्तुत कहानी में अनेक मनोवैज्ञानिक पक्षों का स्पर्श करती है।

आखिर, एक दिन उसका मन-वांछित पात्र से साक्षात्कार होता है। नगर के रईस ताल्लुकेदार युवक कुँवर निर्मलकान्त चौधरी तारा देवी की अभिनय-कला और उसके रूप-सौन्दर्य के प्रति बड़ी उत्कटता-तीव्रता से आकर्षित होते हैं। वे शकुन्तला की भूमिका में अभिनय करती तारा देवी पर मुग्ध हो जाते हैं। निर्मलकान्त का व्यक्तित्व भी कोई कम आकर्षक नहीं **‘लम्बा कद, तेजस्वी मुद्रा, कुन्दन का-सा रंग, सुगठित देह।’** राजकुमार प्रतीत होते हैं ! वे कला-पारखी भी हैं। साहित्य और संगीत के सिद्धहस्त आचार्य हैं। उच्च-कोटि के विद्वान हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा है। अनेक संस्थाओं के संचालक हैं।

कार्यक्रम के दौरान, तारा देवी की दृष्टि जब उन पर पड़ी, तब वह भी निर्मलकान्त की ‘दिव्य मूर्ति’ और सौम्य स्वरूप को मंत्र-मुग्ध-सी देखती रह गयी ! यह एक संयोग था; बिना परिचित हुए और बिना मिले दोनों एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त हो चुके थे। परस्पर मिलने और बात करने की लालसा व आतुरता दोनों में थी। कार्यक्रम में मोतियों का बहुमूल्य सुन्दर हार निर्मलकान्त ने तारा देवी और उसके चित्ताकर्षक अभिनय पर न्योछावर किया था। अगले दिन तारा देवी के आवास पर दोनों की भेंट होती है। परस्पर प्रणय-निवेदन करते हैं और प्रति दिन मिलन प्रारम्भ हो जाता है।

बीस वर्ष-पूर्व तारा देवी को प्रेम का कटु अनुभव हुआ था; जिसका स्मरण करते ही वह चिन्तित और सतर्क हो उठती है। वह विवाह की आकांक्षी है। उसके लिए प्रेम सब-कुछ है; धन नहीं। वह अपने प्रेम को विनोद की वस्तु बनाना नहीं चाहती। बीस-वर्ष बाद आज उसने पुनः प्रेम का दीपक जलाया है।

इधर, निर्मलकान्त भी कुल-मर्यादा को तिलांजलि देकर, बन्धुजनों से नाता तोड़ कर तारा देवी से विवाह करने के लिए लालायित हैं। विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं।

इस चरण पर पहुँचकर, तारा देवी के हृदय में द्वन्द्व होता है। प्रेमचंद तारा देवी की मनःस्थिति का वर्णन करते हैं **‘सुन्दर मुख पर हर्ष की रेखा नहीं। वह क्षुब्ध और उदास है। उसके मन में प्रश्न उठता है क्या वह कुँवर के साथ विश्वासघात करे? ... कपट करे?’** वह जानती है कि जवानी उससे कब की विदा हो चुकी है। वह कुँवर साहब के जीवन को सुखी नहीं बना सकती।

उसका सारा सिंगार बनावटी है। अतः वह निश्चय करती है कि वह अपने प्रियतम के साथ छल नहीं करेगी। वह अपने कर्तव्य-मार्ग का निश्चय करती है। कहीं भाग जाने का विचार उसके मन में आता है। लेकिन वह दुखी और निराश नहीं। कुँवर से निस्वार्थ संयोग रखना तय करती है। अपने को उनकी दासी बनने योग्य नहीं समझती। विवाह के छह घंटे-पूर्व, कुँवर के नाम एक पत्र लिख कर, गंगा-पार किसी गाँव भाग जाती है। पत्र में उसने अपने लौटने की शर्त रखी **‘उसी दशा में जब तुम विवाह कर लोगे।’**

अतः, प्रस्तुत कहानी का शीर्षक ‘एक्ट्रेस’ है ज़रूर; किन्तु कहानी प्रमुख रूप से, एक्ट्रेस-कर्म से संबंधित नहीं है। दोनों पात्र तारा देवी और निर्मलकान्त अपने-अपने सामाजिक स्तर से हट कर, विशुद्ध मानवीय धरातल पर आचरण करते हैं। स्त्री-पुरुष का सनातन प्रेम-प्रसंग प्रस्तुत कहानी का प्रमुख प्रतिपाद्य है। प्रेमचंद ने सच्चे प्रेम को रेखांकित कर ‘एक्ट्रेस’ कहानी को गरिमा ही प्रदान नहीं की; प्रत्युत नारी-हृदय के मर्म को उद्घाटित करने में भी सफलता प्राप्त की है। तारा देवी का प्रेम-व्यवहार मनोविज्ञान-सम्मत है।

(35) कजाकी

‘कजाकी’ शीर्षक कहानी आत्म-संस्मरण-शैली में लिखी गयी है। उत्तम पुरुष (मैं) पात्र, चालीस वर्ष पूर्व के, अपने बाल-जीवन का एक संस्मरण अंकित करता है। कहानी के प्रमुख पात्र कजाकी और उत्तम पुरुष पात्र कहानी का प्रवक्ता-पात्र दोनों हैं। प्रवक्ता-पात्र में बालक की मानसिकता प्रतिबिम्बित है तो कजाकी में एक तथाकथित निम्न जाति के पात्र की मानवता। कजाकी जाति का पासी है। पासी एक अस्पृश्य जाति थी; जिसका पेशा सूअर पालना या ताड़ी उत्तारना था। इस पात्र का नाम ‘कजाकी’ क्यों रखा गया; स्पष्ट नहीं। कजाकी का संबंध एक तुर्क जाति कज़ाक से नहीं; जो राहजनी व लूट-मार करने वाली जाति रही।

कजाकी पासी जाति का है इससे भी कहानी का कोई संबंध नहीं। प्रस्तुत कहानी किसी अस्पृश्य जाति के जीवन अथवा उसकी मानसिकता के उद्घाटन से कोई संबंध नहीं रखती। यह पात्र मात्र नाम से ‘कजाकी’ और जाति से पासी है बस। प्रस्तुत कहानी में कजाकी एक हरकारा (डाकिया / डाक लाने-ले जाने का काम करने वाला) है। निर्धन है। घर में मात्र पत्नी बतायी गयी

है। कजाकी आजमगढ़ की एक तहसील के डाकघर में नौकरी करता है। इस डाकघर का प्रभारी, कहानी के प्रवक्ता-पात्र का पिता है। कजाकी हँसमुख, साहसी और जिन्दादिल इंसान है। साँवला रंग, गठीला, लम्बा जवान। कजाकी - समान एक महत्त्वहीन पात्र में मानवता को रेखांकित करना प्रेमचंद का उद्देश्य है।

कजाकी अपने अफ़सर के बेटे (प्रवक्ता पात्र) से अत्यधिक स्नेह करता है। उसे कहानियाँ सुनाता है। बिरहे गाकर सुनाता है। अफ़सर के बेटे के लिए उसका कंधा सिंहासन से कम नहीं ! उस पर चढ़ कर उसे लगता कि मानों अभिलाषाओं का स्वर्ग मिल गया ! एक दिन वह इस बालक के मनोरंजन के लिए, हिरन का बच्चा लाता है। हिरन को पकड़ने में उसका काफ़ी समय ज़ाया होता है। परिणामरूप वह अपने काम पर विलम्ब से पहुँचता है। अतः उसका गुस्सेवार अफ़सर (बालक का पिता) उसे नौकरी से निकाल देता है। उसका बल्लम, चपरास और साफ़ा छीन लेता है। बालक जहाँ हिरन को पाकर प्रसन्न होता है; वहाँ कजाकी की बरखास्तगी से दुखी होता है। बालक की माँ भी कजाकी के प्रति उदार है। निर्धन कजाकी की सहायता करना चाहती है। लेकिन कजाकी एक स्वावलंबी व्यक्ति है। वह न आटा लेता है, न बालक से पैसे। कहता है **‘ मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ हैं ।’** अन्यथा भी वह बड़ा संकोची है। बरखास्तगी से दुखी तो वह है ही; एक दिन बीमार भी पड़ जाता है। उसकी पत्नी अफ़सर के घर आती है। कजाकी ने बीमारी में भी तालाब में से कमलगट्टे स्वयं तोड़े और पत्नी के द्वारा बालक के लिए भेजे।

इधर, जब बालक के, गुस्सेवार; किन्तु उदार भी, पिता को जब पता चलता है कि कजाकी को उस रोज़ विलम्ब किस कारण से हुआ तो वह उसे नौकरी से बहाल कर देता है। इससे सबको तोष होता है।

अफ़सोस की बात यह है कि बालक के हिरन (मन्नू) को एक दिन एक बाज़ारू कुत्ता मार डालता है।

इस प्रकार, कहानी के प्रवक्ता पात्र के बाल-जीवन का यह प्रसंग प्रस्तुत कहानी का कथ्य है। यह बालक आज तो कठिन परीक्षाएँ पास करके अच्छे पद पर है रायबहादुर है। वस्तुतः प्रस्तुत कहानी कजाकी की ही कहानी है; पृष्ठभूमि में बालक-प्रसंग प्रमुख होते हुए भी। दोनों पात्रों के परिवेश और उनके चरित्र को बड़े सिद्धहस्त हाथों से प्रेमचंद ने उकेरा है। कजाकी जैसे मनुष्य तो अब मिलने दुर्लभ हैं। कजाकी पासी है; क्या इसलिए उसमें उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं अथवा वह

निर्धन है; इसलिए उसमें इतनी आत्मीयता है? इसमें दो मत नहीं, 'कजाकी' शीर्षक कहानी एक निर्धन पासी की कहानी कहने के निमित्त ही लिखी गयी है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में जिन पात्रों की सृष्टि की है; वे किसी-न-किसी रूप में अपनी उत्कृष्टता का परिचय देते हैं। इस नाते प्रेमचंद का महत्त्व निर्विवाद है। मनुष्य के सद्गुणों को उजागर करना उनका लक्ष्य रहा है।

(36) कप्तान साहब

'कप्तान साहब' शीर्षक कहानी एक बिगड़े हुए युवा-पुत्र से संबंध रखती है। पुत्र क्यों बिगड़ जाता है; इसका मनोवैज्ञानिक कारण इसमें निहित है। प्रस्तुत कहानी का प्रमुख पात्र युवक जगत सिंह है। जगत सिंह की मानसिकता में बदलाव कैसे आता है; और वह किस प्रकार सुधर कर आदर्श पुत्र बन जाता है यह प्रस्तुत कहानी का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

सामाजिक स्तर की दृष्टि से, प्रस्तुत कहानी निम्न-मध्य वर्ग के परिवार से सम्बद्ध है। ठाकुर भक्त सिंह डाकखाने के मुंशी हैं। परिवार में पत्नी है, बेटियाँ हैं और है एकमात्र बेटा जगत सिंह। जगत सिंह की पढ़ने में अरुचि है। वह एक सैलानी, आवारा, घुमक्कड़ युवक है। आलसी है। दुर्व्यसनों का दास है। घर के रुपये उड़ा ले जाता है; बरतन, कपड़े उठा ले जाता है। चरस-गाँजे की भी उसे आदत पड़ गयी है। बस, घर में पिता से डरता है। पिता को उसकी हथ-लपकियाँ बहुत अखरती थीं। कितनी बार उन्होंने उसे निर्दयता से पीटा भी। घर वालों के तिरस्कारों ने उसे निर्लज्ज बना दिया। एक दिन वह पिता की अचकन की जेब में सुरक्षित रखी, डाकघर की एक बीमा-रजिस्ट्री पार कर डालता है; जिसमें दो-सौ रुपये नगद थे। इन रुपयों से दूकान खोलने की योजना बनाता है और बम्बई भाग जाता है। पिता पर ग़बन का मुक़दमा दायर हो जाता है और पाँच वर्ष की सज़ा हो जाती है।

बम्बई में अचानक ऐसा अवसर आता है कि जगत सिंह को पुनर्जीवन मिलता है। वह फ़ौज़ में भर्ती हो जाता है। अपनी रेजिमेंट के साथ अदन जाता है। वेतन का बड़ा भाग नियमित घर भेजता है। प्रति सप्ताह माता को पत्र लिखता है। पिता उसके दुष्कर्मों के कारण कारावास की यातना झेल रहे हैं; इसकी उसे ग्लानि है।

सवा चार वर्ष बाद, पिता की रिहाई होती है। उसे अपने प्रताड़ित-निर्वासित पुत्र की याद आती है। पिता के आत्म-चिन्तन का निष्कर्ष है कि बेटे जगत सिंह के साथ उसने कभी प्रेम का व्यवहार नहीं किया, उसका आदर नहीं किया; जिसके कारण ही यह सर्वनाश हुआ। **‘जहाँ प्रेम का बंधन शिथिल हो, वहाँ परिवार की रक्षा कैसे हो सकती है?’** जिस रोज़ उसके पिता जेल से छूटते हैं; सैनिक अफसर जगत सिंह घोड़े पर सवार होकर वहाँ पहुँचता है और रोता हुआ उनके पैरों पर गिर पड़ता है। इस प्रकार, प्रेमचंद का यह जगत सिंह नामक बिगड़ा हुआ पात्र एक आदर्श पुत्र के रूप में अवतरित होता है। प्रेमचंद समाज के सम्मुख जिन केन्द्रीय पात्रों को प्रस्तुत करते हैं; वे सर्वत्र स्वस्थ समाज की रचना में सहायक होते हैं। उनकी बुराइयों अच्छाइयों में परिवर्तित बतायी गयी हैं। सारा घटना-चक्र स्वाभाविक गति से घूमता है। जो कुछ आकस्मिक घटित होता है; वह सब सम्भावना के अन्तर्गत है।

(37) कफ़न

‘कफ़न’ प्रेमचंद की ही नहीं; हिन्दी/उर्दू की ही नहीं विश्व की श्रेष्ठ कहानियों में से है। यह कहानी इतनी विशिष्ट क्यों है? मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ‘कफ़न’ अप्रतिम है। ‘कफ़न’ इंसानी ज़िन्दगी का जो चित्र अंकित करती है; वह क्रूर इंसानों का नहीं; निरीह बेहद निरीह इंसानों की विवशता का स्याह बेहद स्याह चित्र है। समाज में घीसू और माधव जैसे इंसानों की उपस्थिति का कारण क्या है? इतनी ज़िन्दगी जी कर, उन्होंने ज़िन्दगी का अर्थ क्या जाना-समझा? इसके पीछे सामाजिक दुर्व्यवस्था, धोखाधड़ी की पर्याय अंध धार्मिक मान्यताएँ, समाज का विषमतापूर्ण आर्थिक ढाँचा और राज्य द्वारा मानवीय उपेक्षा है। कोई निठल्ला क्यों रहे, कोई आलसी क्यों बने, कोई भूखा क्यों रहे, इंसान के उपचार के प्रति समाज इतनी निर्मम तटस्थता क्यों बरते जबकि मरते हुए पशुओं तक के प्रति मानवीय संवेदना जागती है, इंसानी दुनिया में शराब का खुले आम इतने धड़ल्ले से व्यापार क्यों; जब कि सर्वविदित है कि शराब-सेवन सोचने-विचारने की शक्ति को निष्क्रिय कर देता है आदि अनेक प्रश्न ‘कफ़न’ की मृत्यु-गाथा को पढ़ने से सहज ही उठते हैं।

‘कफ़न’ के पात्र नाम-भर के चमार हैं। वे चर्म-कर्म नहीं करते। वस्तुतः

‘कफ़न’ के पात्र ग़रीब अत्यधिक ग़रीब, सही अर्थों में सर्वहारा हैं। ग़रीबी आदमी को कितना गिरा देती है, ग़रीबी आदमी को कितना निरीह-विवश बना देती है यह ‘कफ़न’ के पात्र मर कर / जी कर बड़े प्रभावी ढंग से समाज को बताते हैं। घीसू और माधव की मनोवृत्ति जन्म से ही बननी शुरू होती है। अपने अतीत और वर्तमान में उन्हें जब कोई अन्तर दिखाई नहीं देता; तो भविष्य के प्रति भी उनका दृष्टिकोण यथावत् बना रहे तो आश्चर्य क्या? वे न बदल सकते हैं; न सुधर सकते हैं।

साठ-वर्षीय घीसू (घिसुआ) माधव का बाप है। विधुर है। कर्ज से लदा हुआ है। दीन है। आलसी है। लकड़ियाँ तोड़-बेच कर स्वयं को और अपने परिवार को बमुश्किल जिला पा रहा है। अन्यथा उसकी और उसके बेटे की प्रमुख वृत्ति आकाश-वृत्ति है दूसरों के खेत से मटर, आलू, ऊख चुरा कर पेट भरना। माधव भी अपने पिता के पद-चिन्हों पर चलता है। पिछले साल ही उसका बुधिया से विवाह हुआ है। कामचोर है। विवाह-बाद और भी आरामतलब हो गया।

जवान बुधिया प्रसव-वेदना से तड़पती-पछाड़ खाती बताई गयी है। जाड़ों की रात है। घीसू के मत से वह ‘चुड़ैल के फ़िसाद’ का शिकार है। एक साल तक बुधिया ने ‘इन दोनों बे-ग़ैरतों का दोजख भरा। इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली।’ सुबह बुधिया मर जाती है। उसके पेट का बच्चा भी मर गया था। बुधिया की मृत्यु के बाद समाज के आर्थिक-धार्मिक परिदृश्य सामने आते हैं।

(1) “जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत; उनकी हालत से बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलता से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। ... उसे (घीसू को) यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटे हाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जाँ-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती, और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।

(2) घीसू बोला - कफ़न लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानों देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बाँभनों का हज़ारों रुपये क्यों दे देते हैं? कौन देखता है, परलोक में मिलता है या

नहीं ।

(3) तू कैसे जानता है कि उसे कफ़न नहीं मिलेगा? तू मुझे ऐसा गधा समझता है? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ? उसको कफ़न मिलेगा और बहुत अच्छा मिलेगा । ... घीसू गर्म होकर बोला मैं कहता हूँ, उसे कफ़न मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं? वही देंगे, जिन्होंने अबकी दिया । हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे ।

(4) घीसू ने कहा ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे ! जिसकी कमाई है, वह तो मर गयी । मगर तेरा आशीर्वाद उसे ज़रूर पहुँचेगा । रोयें-रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं !

माधव ने फिर आसमान की तरफ़ देखकर कहा वह बैकुण्ठ में जायगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी ।

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला हाँ, बेटा बैकुण्ठ में जायगी । किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं । मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गयी । वह न बैकुण्ठ जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायेंगे, जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं, और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं?’

घीसू और माधव दोनों पात्र प्रेमचंद की सृष्टि हैं; लेकिन इन दोनों पात्रों का चयन प्रेमचंद ने समाज से ही किया है । प्रेमचंद घीसू और माधव की मानसिकता जी कर ही, इन पात्रों के कार्य और वार्तालाप निश्चित करते हैं । वास्तव में, घीसू और माधव के मुख से प्रेमचंद ही बोलते हैं । अन्यथा घीसू और माधव जैसे शराबी और अज्ञानी इतने सटीक और सार्थक संवाद कभी बोल ही नहीं सकते । माना कि उनकी भावना को ही लेखक-प्रेमचंद ने वाणी दी है । सिद्धहस्त लेखक ही अपने पात्रों को जीवन्त बनाने के लिए सुविचारित संवादों की रचना करते हैं । इसी प्रकार, घीसू और माधव के गरम-गरम आलू छील कर खाते समय के चित्र में; दोनों की मानसिकता विनोदपूर्ण इतनी नहीं; जितनी कि हृदय-विदारक है । आलू खाते रहने का लोभ दोनों को है । पृष्ठभूमि में दम तोड़ती हुई बुधिया है । इस परिप्रेक्ष्य में घीसू और माधव के बहाने और उनके कथन हास्य की सृष्टि नहीं करते; वातावरण को करुण बना देते हैं । दोनों की चालाकियाँ उनकी तीव्र भूख को ज़ाहिर करती हैं । दोनों एक-दूसरे के लिए थोड़ा भी आलू-त्याग करने को

तैयार नहीं। दोनों के लिए आलुओं का खाद्य इस समय भगवान है; बहू / पत्नी की असह्य पीड़ा उपेक्षणीय व नगण्य। यह सब तभी सम्भव हुआ जब लेखक-प्रेमचंद स्वयं घीसू और माधव बने।

धार्मिक भावनाओं को लेकर भी 'कफ़न' में चुभते हुए व्यंग्य हैं। फटे चीथड़े पहनने वालों को मरणोपरान्त नये कपड़े का कफ़न ओढ़ाना, नंगों-भूखों के लिए बैकुण्ठ की कल्पना करना, मृतक का माया-जाल से, जंजाल से, मुक्त होना आदि पक्ष कितने खाखले नज़र आते हैं; यह 'कफ़न' की कलात्मक बुनावट के फलस्वरूप ही है। प्रेमचंद ने प्रसंग के गांभीर्य को पूरा-पूरा महत्त्व दिया है। कोई भी अनावश्यक व असम्बद्ध टिप्पणी नहीं की है।

'कफ़न' कोई शराबबंदी पर लिखी हुई कहानी नहीं है; यद्यपि उसका माहौल प्रमुख रूप से शराब से सराबोर है। पाठक यह अनुभव करते हैं कि यदि घीसू-माधव क्रिया-कर्म के लिए एकत्र किये गये पाँच रुपये शराब में बरबाद नहीं करते तो स्थिति इतनी खराब नहीं होती। काश, घीसू-माधव पियक्कड़ न होते। शराबी शराब की गंध सूघते ही अपना ईमान खो देता है। यह उसकी मजबूरी है। माना ऐसा सोचना अपनी जगह सही है; किन्तु यह भी सही है कि घीसू-माधव जैसों की ज़िन्दगी ही उन्हें शराब पीने की ओर धकेलती है ग़म-ग़लत करने के लिए। अतः घीसू-माधव को शराबी चित्रित करना युक्तियुक्त है। इसमें भी दो मत नहीं, शराब के नशे में अभिव्यक्त घीसू-माधव के उद्गारों को जो प्रभविष्णुता मिली है; वह सामान्य सचेत कथन में मिलना सम्भव नहीं थी।

निःसंदेह, प्रेमचंद का अनुभव-संसार बड़ा व्यापक था। अपने पात्रों की मानसिकता में जीना वे बखूबी जानते थे। 'कफ़न' कहानी का परिवेश, जीवन और चिन्तन विशुद्ध भारतीय है। भले ही, प्रेमचंद ने 'कफ़न' जैसी और कहानियाँ नहीं लिखीं; किन्तु उस पर विश्व की किसी भी कहानी की छाप नहीं है। वह स्वतःस्फूर्त और पूर्णतया मौलिक है। उसके एक-एक शब्द में प्रेमचंद का व्यक्तित्व समाहित है। पददलित, तिरस्कृत-उपेक्षित व बुभुक्षित मानवता के प्रति प्रेमचंद की सहानुभूति ने बुधिया की मृत्यु को और भी अधिक जीवन्त बना दिया है। 'कफ़न' अपने कथ्य और अपने शिल्प में अद्वितीय है।

(द्रष्टव्य : डा. कमलकिशोर गोयनका के प्रश्नों के उत्तर / 'डा. महेंद्र भटनागर। परिशिष्ट।)

(38) करिश्मा-ए-इतिकाम

‘करिश्मा-ए-इतिकाम’ अर्थात् अद्भुत प्रतिशोध। प्रस्तुत कहानी प्रतिशोध में तो अद्भुत है ही; कहानी-स्वरूप की दृष्टि से भी अद्भुत है। लगता है कि यह एक अपूर्ण कहानी है; पर, कहानी का मात्र ढाँचा नहीं। उसका आदि और अंत है। यह कहानी पहले उर्दू में लिखी गयी थी।

कहानी का क्षेत्र बुंदेलखंड है। प्रमुख पात्र हैं शिवनाथ और ठाकुर धनीसिंह। शिवनाथ खँगार जाति का है। पहलवान है। गरीब है; किन्तु ईमानदार। एक थाने पर तीन-रुपये प्रति माह पर चौकीदार है। इस थाने का नम्बरदार लालसिंह कमीना और बदमाश है। वह शिवनाथ की पत्नी को अपने जाल में फँसाता है; उससे अनुचित संबंध स्थापित करता है। शिवनाथ के प्रति भी दुर्व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप, शिवनाथ एक दिन लालसिंह की गँडासे से हत्या कर देता है और डाकू बन जाता है। एक घटना यहाँ समाप्त हो जाती है।

आगे से, डाकू शिवनाथ की कहानी शुरू होती है। उसके साथ दंगलसिंह नामक एक अहीर भी मिल जाता है, और उसकी डकैतियों में सक्रिय भूमिका अदा करता है। एक दिन जब वे अपने शिकार की तलाश में एक पहाड़ी पर बैठे हुए थे; घोड़े पर सवार उन्हें एक आदमी आता दिखाई दिया। वह ठाकुर धनीसिंह था। अपनी पत्नी को मैके से विदा कराके ले जा रहा था। शिवनाथ और दंगलसिंह ने धोखा देकर उसे पकड़ लिया। ठकुराइन कुएँ में कूद पड़ी। धनीसिंह के हाथ-पैर बाँध कर वे उसे वहीं छोड़ कर चले गये! इस सबका कोई औचित्य प्रस्तुत कहानी में उपलब्ध नहीं। बाँधा हुआ धनीसिंह चुनौती देता है ‘पछलाओगे, मैं भी ठाकुर हूँ। कभी-न-कभी बदला लूंगा। ... खबरदार रहना। तुमने दगा की मार मारी है मैं भी दगा की मार मारूंगा।’ कहानी का दूसरा चरण यहाँ समाप्त होता है।

लगता है, ठाकुर धनीसिंह भी नम्बरदार है; किन्तु कहानी में इसका कोई उल्लेख नहीं है। अंत में, गाँव में जिस पात्र का चबूतरा बनता है वह नम्बरदार ही है। लेकिन भूल से प्रेमचंद इस पात्र का नाम लालसिंह लिख गये हैं। होना धनीसिंह चाहिए था। बदला लेने के लिए, ठाकुर धनीसिंह जगतसिंह नाम का डाकू बनता है लेकिन छद्म। वह खून का प्यासा नहीं है। न लूटपाट करता है। बस, अपनी शोहरत चाहता है। धनीसिंह बात का धनी निकला। वह शिवनाथ-दंगलसिंह के गिरोह में शामिल हो जाता है (छद्म रूप से) और अपनी पूर्व घोषणानुसार दगा

देकर ही दंगलसिंह को मार डालता है। इस प्रकार, वह जनता को दंगलसिंह के आतंक से मुक्त करता है। वस्तुतः वह पुलिस का पक्षधर है। सामाजिक हित के इस कार्य पर सरकार उसे जागीर देती है। उसके निधन के बाद, गाँव वाले उसकी याद में चबूतरा बनवाते हैं। गाँव में अभी तक उसकी पूजा होती है। लेकिन शिवनाथ कहीं पता नहीं चला। या तो उसने खुदकुशी कर ली या भगत बन कर जगन्नाथ चला गया।

इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी अजीबोगरीब घटनाओं और पात्रों की गतिविधियों से रची गयी कहानी है। उसके तीन खंड स्पष्ट दृग्गोचर होते हैं। कहानी का संबंध न खँगार जाति से है; न डाकू समस्या से। मात्र शिवनाथ की मानसिकता कुछ संगत प्रतीत होती है। चूँकि एक नम्बरदार उसकी पत्नी से अनुचित संबंध रखता है; इस कारण सभी नम्बरदारों से बदला लेने की उसकी प्रवृत्ति अपना मनोवैज्ञानिक औचित्य रखती है। अन्यथा पूरी कहानी विशुंखल और अत्यधिक कमज़ोर है।

(39) कर्मों का फल

‘कर्मों का फल’ लाला साईंदयाल नामक एक ऐसे पात्र की कहानी है; जिसे अपने किये पाप का बोध है। इस पाप-बोध से उसकी जीवन-दृष्टि प्रभावित होती है और वह हर दुष्परिणाम को अपने कर्मों का फल मान कर सहज-सहर्ष स्वीकार करता चलता है। वह जानता है कि जीवन में किये गये दुष्कर्मों फल जब एक-न-एक दिन उसे मिलने ही हैं; तो क्यों न उन्हें हँस कर अंगीकार किया जाए; झेला जाए! वह पाप-बोध से इतना ग्रस्त है कि उसे हर क्षण अपनी ज़िन्दगी काला दाग़ लगी प्रतीत होती है। अपने दुष्कर्म के बारे में स्वयं लाला साईंदयाल संकेत करते हुए कहते हैं ‘मैंने जो कुछ किया है, वह मुझे ऐसा लज्जाजनक और ऐसा घृणित मालूम होता है कि उसकी मुझे जो कुछ सज़ा मिले, मैं उसे खुशी के साथ झेलने को तैयार हूँ। आह! मैंने एक ऐसे पवित्र खानदान को, जहाँ मेरा विश्वास और मेरी प्रतिष्ठा थी, अपनी वासनाओं की गन्दगी में लिथेड़ा है, एक ऐसे पवित्र हृदय को जिसमें मुहब्बत का दर्द था, जो सौन्दर्य-वाटिका की एक नयी-नयी खिली हुई कली थी, जिसमें सरलता थी और सच्चाई थी, उस पवित्र हृदय में मैंने पाप और विश्वासघात का बीज हमेशा के लिए बो दिया। यह पाप है जो मुझसे हुआ है और उसका पल्ला उन मुसीबतों से बहुत भारी है जो मेरे ऊपर अब तक पड़ी

हैं या आगे चलकर पड़ेंगी। कोई सज़ा, कोई दुख, कोई क्षति उसका प्रायश्चित्त नहीं कर सकती।' अपने पाप-स्वीकार से लाला साईंदयाल की महानता का बोध होता है। पाप हर आदमी से होते हैं। ऐसे आदमी बहुत कम हैं जिनके दामन पाप-कर्मों के काले दागों से मुक्त हों। इसी कारण उसका मित्र कहता है इस 'मामूली दुनियादार आदमी के सीने में एक फ़कीर का दिल छिपा हुआ था; जिसमें ज्ञान की ज्योति चमकती थी।' और वह अपने इस मित्र से अभिभूत होकर कह उठता है 'तुम उन पवित्र आत्माओं में हो; जिनका अस्तित्व संसार के लिए वरदान है।'

लाला साईंदयाल मामूली दर्जे का आदमी था; लेकिन हर मुसीबत में असाधारण साहस और दृढ़ता का परिचय देता था। परिवार में पिता के अतिरिक्त बीवी और तीन बच्चे थे। पिता के निधन के बाद उस पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा; कर्ज के कारण डिक्री हो गयी, मकान हाथ से निकल गया। कुलीगिरी करने पर मजबूर हुआ। फिर, बड़े बेटे की प्लेग से मृत्यु हो गयी। लेकिन ये सारी आपदाएँ उसने शांत चित्त से झेलीं; क्योंकि उसे कर्मों के फल पर विश्वास था। हर संकट का उसने ईश्वरेच्छा मान कर सामना किया। निःसंदेह, प्रेमचंद ने लाला साईंदयाल जैसे मनुष्य की कल्पना करके समाज को एक सशक्त पात्र प्रदान किया है। कहानी के प्रवक्ता-पात्र ने बताया है कि वह उसकी पुत्री के न रहने पर किस क़दर फूट-फूट कर रोया; लेकिन अपने बेटे की मृत्यु को कर्मों का फल मानकर सहन कर गया। प्रेमचंद ने प्रस्तुत कहानी द्वारा 'कर्म-फल' के सिद्धान्त को नयी अर्थवत्ता प्रदान की है; जो सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है। इस 'कर्म-फल' का संबंध, पूर्व-जन्मों के कर्म-फल की प्रतिक्रियावादी अवधारणा से नहीं है।

(40) कवच

'कवच' में मात्र दो पात्र हैं। एक किसी बड़ी देसी रियासत के राजा साहब और दूसरा कहानी का प्रवक्ता पात्र (मैं); जो इस रियासत का विश्वस्त अधिकारी है।

कहानी का शीर्षक 'कवच'; इस अर्थ में ही संगत माना जा सकता है कि जिस तरह बकतर/कवच शरीर की रक्षा करता है; उसी प्रकार राजा साहब अपने इस विश्वस्त अधिकारी को अपना कवच बनाना चाहते हैं। वे अपने रनिवास की

एक 'चिड़िया' (औरत) की हत्या करने/करवाने का काम इस अधिकारी को सौंपते हैं। कार्य-सिद्धि (हत्या) भी हो जाए और वे साफ़ बचे रहें। देसी रियासतों के राजा नाम के राजा होते थे। वास्तविक शक्ति तो अंग्रेज़ सरकार के हाथों में ही रहती थी। राजा साहब इस कारण डरते थे कि कहीं भेद न खुल जाए और अंग्रेज़ शासक उन्हें तबाह कर दें। इसलिए वे अपने एक विश्वस्त अधिकारी को पर्याप्त प्रलोभन देकर, उसे अपना कवच बनाते हैं; उस पर गुप्त रूप से हत्या करने / करवाने का दायित्व सौंपते हैं।

राजा साहब रूपवान हैं। विलासप्रिय हैं। रसिक हैं। दुर्व्यसनी हैं। शराबी हैं। दर्जनों रानियाँ उनके रनिवास में हैं। फिर भी आये दिन नयी-नयी 'चिड़ियाँ' आती रहती हैं। सरफ़राज नाम की एक पंजाबी औरत उनके रनिवास में और दाख़िल होती है। राजा साहब उस पर दिलोजान से फ़िदा हो जाते हैं। पर, सरफ़राज उनकी उपेक्षा करती है; क्योंकि उसका एक प्रेमी पहले से ही है। अचानक राजा साहब को उसके प्रेमपत्र हाथ लग गये। इससे उन्हें बड़ी वेदना हुई। वे सरफ़राज का त्रिया-चरित्र और दगा सहन नहीं कर सके। औरत के द्वारा इस प्रकार छले जाने पर, एक निराश-हताश; किन्तु समर्थ व्यक्ति की जो मनःस्थिति हो सकती है; वह राजा साहब में भीषण रूप धारण करती है। उनके समक्ष क्रमशः तीनों विकल्प उभरते हैं। पहले वे आत्म-हत्या करना चाहते हैं। फिर, सरफ़राज की हत्या करने की सोचते हैं। लेकिन, अंत में सरफ़राज के प्रेमी की हत्या करवाने का निश्चय करते हैं। यह काम वे 'सरदार साहब' (रियासत के विश्वस्त अधिकारी / कहानी के प्रवक्ता पात्र) को सौंपते हैं। कोरे चेकों पर हस्ताक्षर करके उसे दे देते हैं। मनसब, जागीर, धन, सम्मान प्रदान करने का वचन देते हैं। प्रेमचंद कहते हैं

'प्रलोभन में ईमान बिगाड़ने शक्ति होती है।' और इन 'सरदार साहब' का ईमान डोल जाता है। वह, बम्बई जाकर, सरफ़राज के प्रेमी की हत्या करने को तैयार हो जाता है। अपने ढंग से इस प्रसंग पर विमर्श व तर्क करता है और इस हत्या कर्म को जायज़ ठहराता है। पापमय नहीं मानता। लेकिन, बम्बई प्रस्थान करने के पूर्व उसकी नज़र माँ के चित्र पर पड़ती है। लगा माँ धिक्कार रही है।

उसका संकल्प डॉवाडोल हो जाता है। उसकी आत्मा जाग्रत हो जाती है। वह राजा साहब से इंकार कर देता है। राजा साहब रहस्य खुल जाने और अंग्रेज़ों के भय से उसे तंग तो नहीं करते; किन्तु राज्य-सीमा से निर्वासित कर देते हैं। 'सरदार साहब' रातों-रात मात्र माँ का चित्र लेकर रियासत से प्रस्थान कर; प्रातः अंग्रेज़ी इलाके में

प्रवेश कर जाते हैं। प्रस्तुत कहानी, एक ओर विलासी राजाओं के आचरण और क्रिया-कलापों का पर्दाफाश करती है तो दूसरी ओर सामान्य मनुष्य के मौलिक स्वरूप का उद्घाटन कर यह दर्शाती है कि मनुष्य की अच्छाई दब भले ही जाए; मरती नहीं है। मनुष्य का अन्तर्द्वन्द्व उसे सही दिशा प्रदान करता है। इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी भी दृढ़ आत्म-बल वाले पात्रों से हमें रू-ब-रू करती है।

(41) कश्मीरी सेव

‘कश्मीरी सेव’ न कहानी है; न लघुकथा। एक नसीहत है। बहुत से लोग आँखें मींचकर, बाज़ार में खरीद-फ़रोख़्त करते हैं। परिणामस्वरूप धोखा खाते हैं। प्रस्तुत रचना का प्रवक्ता-पात्र आधा सेर कश्मीरी सेव खरीदता है; जो सभी सड़े-गले निकल जाते हैं। दूकानदार ग्राहक को पहचान लेता है कि कौन-सा ग्राहक ठगा जा सकता है। इस ठगी-कर्म में ग्राहक का योगदान भी अप्रत्यक्ष रूप से रहता है; क्योंकि वह खरीदते समय सतर्क नहीं रहता और इस प्रकार दूकानदार को बेईमानी करने के लिए अवसर प्रदान करता है। हर दूकानदार चरित्रवान नहीं होता। माना, हर दूकानदार बेईमान भी नहीं होता। लेकिन ग्राहक को तो चौकन्ना रहना ही चाहिए।

(42) कातिल

‘कातिल’ माँ-बेटे की कहानी है। कहानी की पृष्ठभूमि राष्ट्र-सेवा और देश को स्वतंत्र देखने का संकल्प है।

बेटे का नाम धर्मवीर है। हष्ट-पुष्ट। एक नयी क्रांतिकारी राजनीतिक सभा का सदस्य है। इस ‘सभा’ को हिंसा में विश्वास है। पिकेटिंग-जुलूसों में नहीं। धर्मवीर का भी मत है कि अंग्रेज़ों को क़त्ल करके ही देश स्वतंत्र हो सकता है।

माँ भी राष्ट्र-सेविका है। दस-वर्ष पूर्व उसका पति राजद्रोहात्मक भाषण करने के अपराध में दंडित हुआ था जेल भेज दिया गया था। जेल में ही उसका स्वर्गवास हो गया। माँ-बेटे तब से मुसीबत के दिन काट रहे थे। माँ को विश्व-इतिहास का ज्ञान है। वह अंग्रेज़ों की दुश्मन नहीं; अंग्रेज़ों की राज्य-प्रणाली की दुश्मन है। किसी को छिप कर क़त्ल करना दगाबाज़ी मानती है। अहिंसा और

नैतिक भावना की कायल है। खून करना उसकी दृष्टि में पाप है। कलंक है। बेटे धर्मवीर के हृदय-परिवर्तन के लिए प्रयत्न करती है; पर सफल नहीं हो पाती। उसकी सुरक्षा-हेतु ईश्वर से प्रार्थना करती है और उसके कवच के रूप में उसके साथ रहने का निश्चय करती है। मात्र इस उद्देश्य से बेटे की 'सभा' में शामिल हो जाती है। रिवाल्वर चलाना सीख लेती है।

शीघ्र ही परीक्षा का अवसर आता है। भारत राष्ट्र को चरम निर्दयता से बरबाद करने वाले पुलिस के एक सबसे बड़े अफसर की हत्या का दायित्व धर्मवीर को सौंपा जाता है। उसको पूरा करने के लिए धर्मवीर कटिबद्ध हो जाता है। कर्त्तव्य उसके लिए कर्त्तव्य है। माँ से बड़ा भारतमाता का हक है उस पर। अंग्रेज़ पुलिस-अफसर की हत्या करने की पूरी पक्की योजना बना कर सक्रिय हो उठता है। माँ उसे अकेला नहीं छोड़ती। अंग्रेज़-अफसर की कार पर धर्मवीर गोली चलाने को उद्यत होता है। इस संबंध में वह माँ की कोई बात नहीं सुनता। माँ को धक्का देकर गोली चला देता है। लेकिन माँ के बीच में आ जाने के कारण गोली माँ के लगती है। कार आगे निकल जाती है। इस प्रकार, धर्मवीर अपनी प्यारी माँ का 'क्रांतिल' बन जाता है। धर्मवीर को बड़ी शर्मिन्दगी होती है। दर्द की टीस अनुभव करता है ' जिसका तुमने गोद में पाला उसी ने तुम्हारा खून किया!'

इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी जहाँ एक ओर पुत्र और देश के प्रति माँ की मानसिकता का स्वरूप प्रकट करती है; वहीं दूसरी ओर स्वाधीनता संघर्ष के एक दृढ़-संकल्पित सेनानी की मनःस्थिति को बड़ी उत्कटता से उजागर करती है। प्रेमचंद की विचारणा हिंसा और अहिंसा के बीच झूलती है। वे, पात्रों के माध्यम से, दोनों के पक्ष-विपक्ष में अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं। दोनों पक्षों के विचारों में बल है। लेकिन; अंत में उनका झुकाव अहिंसा के पक्ष में रहता है। प्रेमचंद-युग में देश प्रमुख रूप से महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता के अहिंसक संघर्ष में अपने सर्वस्व की बलि चढ़ा रहा था। माना कि कुछ संगठन गुप्त रूप से हिंसक कार्रवाइयों में भी संलग्न थे। जो काम गांधी जी राजनीतिक कार्य-कलापों अहिंसक आन्दोलनों द्वारा कर रहे थे; वही काम प्रेमचंद ने साहित्य के माध्यम से किया। उनकी अनेक कहानियाँ स्वाधीनता संग्राम को बल पहुँचाती हैं। भारत का तत्कालीन इतिहास उनकी कहानियों में प्रतिबिम्बित है।

(43) कातिल की माँ

‘कातिल की माँ’ का प्रतिपाद्य भी ‘कातिल’ शीर्षक कहानी के समान है। इस कहानी में भी मात्र दो पात्र हैं। माँ-बेटे। रामेश्वरी बेवा है। उसका इकलौता बेटा है विनोद बिहारी।

हिंसा-अहिंसा के संबंध में, ‘कातिल’ की माँ के और प्रस्तुत कहानी की माँ के विचार समान हैं। रामेश्वरी धर्म और नीति में विश्वास रखती है। उसका सिद्धान्त है ‘खुद जिँएँ और दूसरों को भी जीने दें।’ अवाम के स्वराज्य की चाह उसे भी कोई कम नहीं। लेकिन; स्वराज्य क़त्ल-खून से नहीं त्याग, तप, आत्म-शुद्धि से। रामेश्वरी को अपने पुत्र से प्रेम है। वह उसके हित के लिए प्रार्थना करती रहती है। उसके प्रति खतरे की आशंका से चिन्तित रहती है।

रामेश्वरी का पुत्र विनोद यद्यपि कांग्रेस-दफ़्तर में कार्य करता है; किन्तु उसके वचार कांग्रेस-पार्टी के अनुरूप नहीं बताए गये हैं। यह एक असंगति है। वह हिंसा में विश्वास करता है। माँ से कहता है ‘धर्म और नीति का ज़माना नहीं है।’ वह माँ के प्रति अनुदार है। माँ से वह कोई समझौता नहीं करता। विनोद एक दिन छावनी के पुलिस सार्जेंट को गोली मार देता है। माँ, पुत्र-द्वारा अफ़सर-हत्या के प्रति आक्रोश व्यक्त करती है। विनोद माँ का आक्रोश सहन नहीं कर पाता। क्रुद्ध होकर कहता है, ‘माँ न होती तो तुम्हारा काम भी तमाम कर देता।’

इधर, प्रशासन हत्या की तहकीकात में बेगुनाहों को पकड़ता है। उन्हें तंग करता है। उन पर झूठा मुक़दमा दायर करता है। इससे रामेश्वरी के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व मचता है। उसे बेगुनाहों की माँओं का ख़्याल आता है। वह यह जुल्म बरदाश्त नहीं कर पाती। यद्यपि विनोद उसकी ज़िन्दगी का सहारा है; तथापि वह अपना फ़र्ज़ उसके विरुद्ध स्थिर करती है। मैजिस्ट्रेट के इजलास में अपने बेटे का जुर्म स्वीकार करती है और प्रकरण से संबंधित वास्तविकता प्रकट कर देती है। विनोद, जो वहीं इजलास के कमरे में छिपा था, अचानक प्रकट होकर माँ के खंजर उतार देता है। रामेश्वरी की बेटे-द्वारा हत्या हो जाती है।

इस प्रकार, ‘कातिल’ कहानी के अनुरूप ही इस कहानी का कथानक आकार लेता है। अन्तर मात्र इतना है ‘कातिल’ में माँ अपने जीवन का उत्सर्ग स्वयं करती है; प्रस्तुत कहानी में बेटे-द्वारा माँ की जानबूझ कर हत्या की जाती है। इसलिए यह हत्या अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इसमें वहशीपन भी है। इस हत्या

से विनोद के प्रति पाठकों का क्रोध ही उमड़ता है। स्पष्ट है, प्रेमचंद इस कहानी में अपने उद्देश्य में सफल दृग्गोचर नहीं होते। रामेश्वरी का मानसिकता एक माँ की मानसिकता है। लेकिन, विनोद का आचरण अक्षम्य और सोच अंधा है।

(44) कानूनी कुमार

‘कानूनी कुमार’ हास्य-मिश्रित व्यंग्य-रचना है। प्रमुख पात्र मि. कानूनी कुमार हैं; जो एम.एल.ए. हैं। ‘सदैव देशोद्धार की फ़िक्र में पड़े रहते हैं। देश की चिन्ताओं से उनकी देह स्थूल हो गयी है।’ यश-लिप्सा का रोग अलग है। वस्तुतः, कानूनी कुमार ‘पाखंडी कुमार’ हैं। उनकी मानना है कि सामाजिक कुरीतियाँ कानून बनाकर ही दूर की जा सकती हैं। एम.एल.ए. का भूत उन पर सवार है। असेंबली में नाना प्रकार के नये-नये कानून प्रस्तावित करने की तैयारी करते हैं। ये कानून हैं

- (1) तम्बाकू बहिष्कार बिल। कुमारों का सिगरेट पीना बंद होना चाहिए। इससे बाल-अपराधी उत्पन्न होते हैं।
- (2) परदा-हटाव बिल। जिससे कोई स्त्री परदे में न रह सके।
- (3) भिखमंगा बहिष्कार बिल। टीकाधारी-कोपीनधारी-जटाधारी समुदाय भी भिखमंगों की जमात में शामिल हैं। उनका मत है ‘जिस देश में इतने हरामखोर, मुफ्त का माल उड़ाने वाले, दूसरों की कमाई पर मोटे होने वाले प्राणी हों, उसकी दशा क्यों न इतनी हीन हो।’
- (4) उत्तेजक पुष्टकारक चाय के प्रोत्साहन-हेतु बिल। वे रिपोर्ट देखकर बताते हैं कि इंग्लैण्ड में पाँच करोड़ पाँड की चाय जाती है। इंग्लैण्ड वाले मूर्ख नहीं हैं। उनका आज संसार पर आधिपत्य है। इसमें चाय का कितना बड़ा भाग है, कौन इसका अनुमान कर सकता है।
- (5) तलाक का बिल। तलाक सभ्य समाज के लिए ज़रूरी है; अन्यथा स्त्रियों पर पुरुषों के अत्याचार बढ़ते जाएंगे।
- (6) होटल प्रचार बिल। होटल पश्चिमी गौरव का मुख्य अंग है। जब-तक छोटी-छोटी घरेलू चिन्ताओं से मुक्त न हो जाएंगे, आप उन्नति कर ही नहीं सकते।.. जिन लोगों की आय प्रति माह पाँच-सौ रुपयों से कम हो, वे होटलों में रहें।

(7) संतान-निग्रह बिल। दो बच्चों से ज़्यादा जिसके हों, उसे कम-से-कम पाँच वर्ष की कैद।... एक संतान के बाद कम-से-कम सात वर्ष तक दूसरी संतान न आने पाये। जिसकी आमदनी एक-सौ रुपये प्रति माह से कम हो; उसे सन्तानोत्पत्ति का अधिकार नहीं।

यही तीस-मार-खाँ क़ानूनी कुमार जब अपनी पत्नी को आता देखता है तो रिपोर्टों और पत्रों को समेट कर उपन्यास पढ़ने लगता है। मिसेज़ क़ानूनी कुमार (मिन्नी) अपने पति के पाखंड से सुपरिचित हैं। वे व्यंग्य करती हुई, 'दत्तचित्ति सुख-शांति बिल' पेश करने का आग्रह करती हैं। जिसके अनुसार पुरुष अपनी आधी आमदनी स्त्री को देगा और पंद्रह से पचास वर्ष उम्र तक पुरुष घर से बाहर नहीं निकलेगा।

क़ानूनी कुमार पत्नी के बिल को 'मज़ाक' कहते हैं और कहते हैं 'बहुत-सी बुराइयाँ ऐसी हैं, जिन्हें क़ानून नहीं रोक सकता।' क़ानून-समर्थक की थोड़ी मान्यताएँ बदलने लगती हैं! मिन्नी और व्यंग्य-प्रहार करती हुई कहती है 'क़ानून सब-कुछ कर सकता है। मनुष्य का स्वभाव भी बदल सकता है।'

अंत में, क़ानूनी कुमार की पत्नी उसे प्रबोध देती है लोगों में शिक्षा और जागृति फैलाओ। क़ानून बना कर ज़बरदस्ती सुधार सम्भव नहीं।

इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी समाज-सुधार का व्यावहारिक और कारगर मार्ग सुझाती है। जो बात लेख लिखकर प्रभावशाली ढंग से नहीं बतायी जा सकती; वह एक रोचक कहानी के माध्यम से बता कर प्रेमचंद अपनी कहानी-कला की सार्थकता सिद्ध करते हैं। माना इस कहानी में घटनाओं का अभाव है; मात्र वार्तालाप है। पर, इस वार्तालाप का स्वरूप आकर्षक है। क़ानूनी कुमार की मूर्खतापूर्ण अव्यवहारिकता पाठकों का भरपूर मनोरंजन करती है।

(45) कामना-तरु

'कामना-तरु' स्त्री-पुरुष के पवित्र प्रेम की मार्मिक कहानी है। यह प्रेम कुँवर राजनाथ और युवती चंदा के मध्य है। राजा इंद्रनाथ के पुत्र कुँवर राजनाथ, शत्रुओं से बचकर, अपने एक पुराने सेवक बूढ़े कुबेर सिंह की शरण चले जाते हैं। कुबेर सिंह छोटे गाँव का जागीरदार है। उसके एक कन्या है चंदा। कुँवर राजनाथ की रुचि राज-दरबार में नहीं थी। वे शांति-प्रिय, रसिक, कवित्व और काव्य-चर्चा में

रुचि रखने वाले थे। कुबेर के गाँव आ कर उन्हें शांति और आनन्द का अनुभव हुआ। साथ रहते, उनमें और चंदा में परस्पर प्रेम-भाव जाग्रत हुआ; जो स्वाभाविक था। एक दोपहर, कुँवर राजनाथ, चंदा को पूजा के लिए, गागर में जल भर कर लाते देखते हैं। वे सहज भाव से उसकी मदद करते हैं और गागर स्वयं उठा कर पूजा-स्थल पर रख देते हैं। पूजा-स्थल एक पौधा है। जिस दिन कुँवर राजनाथ चंदा के घर आते हैं; चंदा इस मुरझाए हुए पौधे को निष्ठापूर्वक सींचना प्रारम्भ कर देती है। यह पौधा चंदा-राजनाथ के मिलन का स्मृति-चिह्न ही नहीं; उनके प्रेम का प्रतीक भी बना।

चंदा और कुँवर के विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयीं। लेकिन अचानक एक दिन, कुँवर पर नदी-जल लाते समय शत्रुओं से उनका सामना हो गया। कुबेर सिंह, कुँवर राजनाथ को बचाने तलवार लेकर दौड़ा; किन्तु शत्रुओं ने उसे मार डाला। शत्रु कुँवर को पकड़कर ले गये और उन्हें बीस-वर्ष तक क़िले में कैद रखा।

चंदा अपने प्राणदाता कुँवर राजनाथ की प्रतीक्षा करती एक दिन इसी पेड़ (पौधे) के नीचे अपने प्राण त्याग देती है। अब मात्र एक चिड़िया रात में पेड़ पर बैठकर गाती है शायद चंदा! राजनाथ के लिए यह पौधा (पेड़) कामना-तरु था; कामना-तीर्थ था। वे एक रात क़िले की जेल से भाग निकले। गाँव पहुँचे। गाँव वीरान और चंदा का झोंपड़ा भग्नावस्था में पाया। पौधा, इनके अक्षय प्रेम की निशानी कामनाओं का स्वर्ग हरा-भरा वृक्ष बन गया था। रात में एक पक्षी को, दर्द में डूबे करुण वियोग-स्वर में गान गाते वे सुनते हैं। कुँवर को एक बटोही (किसान) चंदा-कथा बताता है; जिसे सुनकर वे रात में चिड़िया में चंदा की मुखाकृति देखते हैं और अपने प्राण त्याग देते हैं। अब वहाँ पक्षियों के एक जोड़े ने (कुँवर-चंदा) अपना घोंसला बना लिया है।

निःसंदेह, ' कामना-तरु ' प्रेमचंद की एक श्रेष्ठ कहानी है; भले ही, आलोचना-लोक में, इसका उल्लेख कम हुआ हो। पवित्र प्रेम का बड़ा ही हृदय-स्पर्शी चित्रण इस कहानी में मिलता है। दो सच्चे प्रेमियों की मानसिकता चंदा और कुँवर राजनाथ के संवादों में; उनके चिन्तन में, उनके व्यवहार में बड़े गहरे रंगों में परिलक्षित है। कहानी का सम्पूर्ण कथानक स्वाभाविक रूप से विकसित होता हुआ परिणति तक पहुँचता है। स्त्री-पुरुष का प्रेम, दैहिक सीमाएँ लाँघ कर, आध्यात्मिक रूप धारण कर लेता है। ऐसे प्रेम-प्रसंग वास्तविक जीवन में प्रायः देखने-सुनने को

मिलते हैं। प्रेमचंद की कहानी-कला का उत्कृष्ट रूप 'कामना-तरु' में द्रष्टव्य है। उन्होंने प्रेम की आन्तरिकता को प्रभावशाली अभिव्यक्ति दी है।

(46) कायर

'कायर' शीर्षक कहानी अन्तर्जातीय विवाह से संबंधित है। लड़का ब्राह्मण है; लड़की वैश्य। पात्रों का समाजिक-स्तर और उनकी मानसिकता का स्वरूप इस प्रकार है :

युवक का नाम केशव है। कॉलेज का छात्र है। कोरा सिद्धान्तवादी है। व्यवहार में कायर, कमज़ोर और बुज़दिल है। उसकी कथनी और करनी में अन्तर है। अपनी प्रेमिका प्रेमा के सम्मुख अपने को नये विचारों का एवं जात-पाँत विरोधी घोषित करता है। लेकिन आचरण में ढोंगी सिद्ध होता है। अपने दकियानूस पिता का भय उसे मात्र इस कारण है कि जाति की वैश्य; अपनी सहपाठी प्रेमा से विवाह करने पर, उसका पिता उसे अपनी चल-अचल सम्पत्ति से वंचित कर देगा। प्रेम और विवाह का नाटक करने के बाद केशव प्रेमा को पत्र में लिखता है 'मेरे लिए पिता की आज्ञा की उपेक्षा करना दुःसह है। मुझे कायर न समझना। मैं स्वार्थी भी नहीं हूँ; लेकिन मेरे सामने जो बाधाएँ हैं, उन पर विजय की शक्ति मुझमें नहीं है'। अंत में, केशव का चरित्र हासास्पद बन जाता है। केशव के माध्यम से मानों प्रेमचंद नव-युवकों को सचेत करते हैं।

कॉलेज में, केशव की सहपाठी युवती प्रेमा केशव के समान छद्म डींग नहीं मारती। माता-पिता की आज्ञाकारिणी वह भी है; किन्तु अपने व्यवहार से उनका हृदय-परिवर्तन करने में सफल होती है। प्रेमा यद्यपि पुराने संस्कारों की क़ायल है; पुरानी प्रथाओं में विश्वास रखती है तथापि अपने प्रेम की ख़ातिर अन्तर्जातीय विवाह करने के लिए प्रस्तुत है। उसकी स्पष्ट मान्यता है ' विवाह का आधार प्रेम न हो तो वह देह का विक्रय है।' प्रेमा का हृदय देश-भक्ति की भावना से परिपूर्ण है। उसके पिता जब उसका एक आई.सी.एस. लड़के से विवाह करने का प्रस्ताव रखते हैं तो वह; आई.सी.एस. की असलियत खोल कर रख देती है। लड़के की तसवीर की ओर देखती तक नहीं। कहती है ' जो लोग इस परीक्षा में बैठते हैं वे पल्ले सिरे के स्वार्थी होते हैं।' उनका उद्देश्य बताती हुई वह कहती है 'अपने ग़रीब-निर्धन, दलित भाइयों पर शासन करें और ख़ूब ६

ान-संचय करें। यह तो जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं।' केशव जब उससे विवाह नहीं करता तो उसका दिल टूट जाता है। वह यह आघात सहन नहीं कर पाती। रात में सोती ज़रूर है; पर सुबह उसकी लाश मिलती है।

प्रेमा के पिता (लाला जी) के लिए जैसे तो कुल-मर्यादा सब-कुछ है; किन्तु उसमें व्यावहारिकता है। उसे आपद्धर्म स्वीकार करने में संकोच नहीं। प्रेमा की माँ भी इतनी जड़ नहीं। वस्तु-स्थिति समझने में देर नहीं करती। कहती भी है 'न जाने यह जात-पाँत का बंधन कब टूटेगा।' लेकिन, केशव का पेंशनर पण्डित-पिता धर्माडम्बर मानने वाला है। वह अन्तर्जातीय विवाह के विरुद्ध तो है ही; उसे अपने ब्राह्मण होने का दर्प भी है। वैश्य वर-पक्ष को घटिया समझता है और उसे 'बनिया-बक्काल' कहता है।

प्रेमचंद अपने युग में अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में इससे अधिक यथार्थ चित्र अंकित नहीं कर सकते थे। प्रेमचंद की पक्षधरता प्रस्तुत कहानी में स्पष्ट है। प्रेमा की सृष्टि करके उन्होंने एक सशक्त नारी पात्र समाज को दिया है। दकियानूस समाज की मानसिकता बदलने में प्रेमचंद की कहानियों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं।

(47) क्रिकेट मैच

'क्रिकेट मैच' शीर्षक कहानी का संबंध क्रिकेट-जगत है ज़रूर; किन्तु प्रमुखता एक अत्याधुनिक युवती को मिली है। वस्तुतः 'क्रिकेट मैच' इस युवती की ही कहानी है। इस युवती का नाम है मिस हेलेन मुकर्जी; जो अभी-अभी इंग्लैण्ड से आयी है और आते ही उसने बम्बई में क्रिकेट-मैच देखा है। हेलेन में बुद्धि की कांति है, गंभीरता है, गरिमा है, उमंग है। उसमें आत्म-अभिव्यक्ति की ज़बरदस्त लालसा है। हेलेन डाक्टर है। लेकिन प्रस्तुत कहानी में उसका डाक्टर-रूप सामने आया ही नहीं है। जनता की सेवा अपने जीवन का लक्ष्य बताती है; किन्तु जनता की सेवा करती प्रस्तुत कहानी में बतायी नहीं गयी है। उसके पास अपार सम्पत्ति है। पैसे को उन्मुक्त बहाती है। सर्वत्र वह देखती है 'जिसके पास धन है उसे हर चीज़ का अधिकार है।' फिर, प्रस्तुत कहानी में हेलेन क्या करती है? उसका उद्देश्य क्या है? कहानी में उसके कार्य-कलाप क्रिकेट-खिलाड़ियों के सम्पर्क में रह कर मौज-मस्ती उड़ाना बताया गया है। इसके लिए उसने अवसर की सृष्टि स्वयं

की है। वह हिन्दुस्तान की एक नयी क्रिकेट-टीम तैयार करना चाहती है; जो समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लए वह क्रिकेट-खिलाड़ियों के साथ देश का दौरा करती है। सारा खर्च स्वयं वहन करती है। क्रिकेट-खिलाड़ियों के साथ स्वतंत्रतापूर्वक होटलों में ठहरती है। उसके दौरे का यह कार्यक्रम दो महीने चलता है - 1 जनवरी से 1 मार्च तक।

इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी में युवती हेलेन अपने डाक्टरी पेशे से हट कर, मात्र क्रिकेट-गेम और क्रिकेट-खिलाड़ियों के इर्द-गिर्द घूमती है। क्रिकेट-खिलाड़ियों में सर्वप्रथम बॉलर मिस्टर ज़फ़र के सम्पर्क में वह आती है। मि. ज़फ़र पेशे से स्कूल मास्टर है। लखनऊ जाते समय उसकी हेलेन से भेंट होती है। हेलेन की हमदर्दी से चकित होता है। चकित तो पाठक भी होते हैं! लगता है हाँ, मात्र लगता है कि दोनों में मुहब्बत हो गयी है। मि. ज़फ़र के लिए हेलेन एक पहेली बन जाती है। वह अन्य क्रिकेट-खिलाड़ियों बृजेन्द्र, सादिक आदि से भी लगभग वैसा ही व्यवहार करती है। इससे मि. ज़फ़र को ईर्ष्या होती है। आखिरकार, अलौकिक शक्ति-सम्पन्न नयी क्रिकेट-टीम तैयार हो जाती है। सर्वप्रथम वह ऑस्ट्रेलिया की टीम को हराती है। इतना काम पूरा करके हेलेन प्रस्थान करती है। चलते समय क्रिकेट-खिलाड़ियों के समक्ष वह एक प्रकार से भाषण देती है। कहती है 'हम एक भी मैच न हारें। यही मेरे जीवन का लक्ष्य है। किसी लक्ष्य को पूरा करने के लिए जो काम किया जाता है उसी का नाम ज़िन्दगी है। क्रिकेट सिर्फ़ मनोरंजन नहीं है।... अगर हम किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए जीना और मरना सीख जाएँ तो चमत्कार कर दिखाएँ।' लेकिन, हेलेन के जाने के बाद इन क्रिकेट-खिलाड़ियों का सारा ज़ोश समाप्त हो जाता है। प्रस्तुत कहानी के केन्द्र में बेतक़ल्लुफ़ आचरण करती मात्र एक युवती है। कहना न होगा, प्रेमचंद की यह युवती मात्र काल्पनिक है। वह अपने असाधारण कौशल से, अपने रूप-सौन्दर्य से, क्रिकेट-जगत के अपने अनुभव से, अपनी दौलत से क्रिकेट-खिलाड़ियों को रिझाती है, उन्हें उत्साहित करती है। हर खिलाड़ी अपने को हेलेन का कृपा-पात्र समझता है और उसकी मर्जी का गुलाम बन जाता है। माना कहानी रोचक बन पड़ी है; किन्तु अस्वाभाविक-अव्यवहारिक पक्ष ने उसे अविश्वसनीय बना दिया है। प्रेमचंद रोचक किस्से लिखने में माहिर थे। लेकिन, उनके लेखन में जगह-जगह बड़े महत्त्वपूर्ण प्रसंग एवं विचार आते हैं; जो रचना को साहित्यिक दर्जा तो प्रदान करते ही हैं; सामाजिक हित का भी निर्वाह करते हैं। इस कारण उनकी कहानियाँ सोद्देश्यता की कसौटी पर खरी

उतरती है।

(48) कुत्सा

‘कुत्सा’ साधारण कोटि की रचना है। लेखक ने राष्ट्रीय-सामाजिक कार्यकर्ताओं की कुत्सा को इस तथाकथित कहानी में उधाड़ा ज़रूर है; पर वह मात्र मौखिक - सूचनापरक ढंग से। कहानी का प्रवक्ता-पात्र इस कुत्सा-भावना से एक दस-वर्षीय अबोध बालिका को, झूठ बोल कर भी, दूर रखने का उपक्रम करता है। वह एक भोली-भाली बालिका के हृदय में कटुता, द्वेष और प्रपंच का विष बोना नहीं चाहता। वह स्वयं एक राष्ट्रीय संस्था का मंत्री रह चुका है। उसके विचार हैं ‘राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को स्वार्थ और लोभ से ऊपर रहना चाहिए। ऊँचा और पवित्र आदर्श सामने रखकर ही राष्ट्र की सच्ची सेवा की जा सकती है।’ इस रचना में, पद्मादेवी, उर्मिलादेवी, श्यामादेवी और भगवतीदेवी नामक कार्यकर्त्रियाँ पुरुष कार्यकर्ताओं की तीखी आलोचना करती हैं। एक ओर शराब की दूकान पर धरना दिया जाए; और फिर उसी दूकान से कार्यकर्ता शराब मँगा कर पिएँ! ‘जाति के सेवक; मगर आचरण ऐसा कि शोहदों का भी न होगा।’ ऐसे कार्यकर्ताओं को देशद्रोही बताया गया है। कार्यकर्त्री भगवती देवी की पुत्री-बालिका से इन छद्म राष्ट्रीय-सामाजिक सेवकों की कुत्सा-क्षुद्रता को छिपाना प्रवक्ता-पात्र का उद्देश्य रहा। वह समझता है कि उसने भले ही झूठ बोला; किन्तु एक बालिका के निर्मल हृदय को कुत्सा के पंक में गिरने से बचा लिया। ‘कुत्सा’ शीर्षक यह लघु-विस्तारी रचना कहानी का आभास-मात्र देती है।

(49) कुसुम

‘कुसुम’ शीर्षक कहानी प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियों में परिगणनीय है; भले ही आलोचना-लोक में इसकी चर्चा कम हुई हो। प्रस्तुत कहानी स्त्री-पुरुष संबंधों / पति-पत्नी संबंधों पर आधुनिक दृष्टिकोण से लिखी गयी है। इसमें सुखमय दाम्पत्य जीवन की नींव का रहस्य बताया गया है; और वह है अधिकार-साम्य।

कहानी के पात्र हैं कहानी का प्रवक्ता-पात्र (मैं), उसका मित्र नवीन, नवीन की बेटी कुसुम और बेटी का पति। कुसुम का मायका लखनऊ है, पति

मुरादाबाद में रहता है और मित्र नवीन आगरा का निवासी है। लेकिन प्रमुख पात्र कुसुम है। 'कुसुम' मात्र कुसुम की कहानी है। कुसुम की सृष्टि करके प्रेमचंद ने एक अत्यधिक सशक्त नारी-पात्र समाज को दिया है। एक ओर उसमें अद्भुत सहनशीलता है तो दूसरी ओर प्रखर विद्रोह-भावना। मनुष्य (पति) की नैतिक गिरावट से वह कोई समझौता नहीं करती। वह ऐसे लोगों को डाकू और बदमाश कहती है। नारी की अस्मिता का दूसरा नाम है कुसुम। कुसुम के विचारों में प्रौढ़ता है; ज्ञान-विस्तार है। समाज, धर्म, नीति आदि विषयों पर उसके विचार परिष्कृत हैं। वह बहस-पटु है। लेखिका है। गृह-प्रबन्ध में भी कुशल है। उसका विवाह तो हुआ; किन्तु उसके पति ने उससे कोई संबंध नहीं रखे। सुहागरात भी नहीं मनायी। संवादहीनता की स्थिति के कारण पति-गृह में उसका रहना कम ही हो सका। ससुर से कोई शिकायत नहीं। पति को, मायके से कुसुम पाँच पत्र भेजती है। लेकिन सभी अनुत्तरित रहते हैं। इन पत्रों में कुसुम ने पुरुष-पिटू समाज के अनुरूप पति का महिमा-गान किया है। पति को परमेश्वर मानकर पूजना चाहा है। वह मानती है - पति से पृथक पत्नी का कोई अस्तित्व नहीं। वह अपने पति से दया की याचना करती है। उसकी लालसा है कि कम-से-कम उसकी मृत्यु पर उसका पति ही संबंधित अंतिम संस्कार सम्पन्न करे। निष्ठुर और निर्दय व्यवहार के बावजूद वह अपने पति पर श्रद्धा रखती है। पति की सेविका बनने में सुख अनुभव करती है। कुल-मर्यादा की रक्षा करना अपना प्रथम पवित्र कर्तव्य समझती है। लेकिन इन पत्रों से उसका पति तनिक भी प्रभावित नहीं होता। उसने एक बार भी नहीं बताया कि आखिर उसका दोष क्या है! अपने अपराध से कुसुम नितान्त अनभिज्ञ है। यह है, कुसुम का प्रथम रूप। वह रूप जैसा कि एक दकियानूस पति अपनी पत्नी का देखना चाहता है। लेकिन कुसुम-पति की नाराज़गी का कारण कुछ और ही है; जिसे वह अब-तक छिपाता रहा।

कुसुम के पिता नवीन पेशे से वकील हैं। ज़हीन हैं। उन्होंने कवि-हृदय पाया है। कंठ-स्वर भी मधुर है। पुत्री कुसुम का दुखी वैवाहिक जीवन देखकर उन्हें बड़ी चिन्ता है। वे अपने मित्र, कहानी के प्रवक्ता-पात्र से मिलने और समस्या का समाधान खोजने लखनऊ जाते हैं। सम्पूर्ण व्यथा-कथा सुनने के बाद, यह प्रवक्ता मित्र-पात्र लड़के से मुरादाबाद जाकर मिलता है। पति की नाराज़गी का कारण विदित होता है कि उसके ससुर ने उसे विलायत (इंग्लैण्ड) भेजने की उसकी अभिलाषा पूरी नहीं की।

कुसुम-पति की इस इच्छा को कुसुम-पिता अब पूरी करने को तैयार है; यद्यपि उसके पास इतना धन नहीं। लेकिन, इस स्थल पर कुसुम विद्रोह कर उठती है। कुसुम-पति अपने पुरुषार्थ से नहीं; ससुर पर भार बनकर विलायत जाना चाहता है। वह स्वार्थी, नीच प्रकृति का, पामर और दम्भी बताया गया है। कुसुम का आत्माभिमान जाग उठता है। वह इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है। अब पति-गृह कृतई जाना नहीं चाहती। स्वतंत्र रहने का निश्चय करती है। स्वावलम्बी जीवन अपनाती है।

ऐसी है, प्रेमचंद की यह कुसुम ! यदि बहुएँ कुसुम बन जाएँ तो उनके दाम्पत्य-जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन सम्भव हैं। प्रेमचंद की दृष्टि में पति-पत्नी में अधिकार-साम्य अनिवार्य है। पति की नाज़ायज़ माँगों को ठुकराकर ही समाज को सुधारा जा सकता है। पत्नी का स्वतंत्र जीवन-यापन करना कहीं श्रेयस्कर है। इसके लिए भले ही उसे कठिन संघर्ष क्यों न करना पड़े।

(50) कैदी

‘कैदी’ शीर्षक कहानी का संबंध रूस देश से है। इसका परिदृश्य ज़ार-युग की कट्टरता और अत्याचार से प्रभावित है। ज़ारों के शासन-काल में रूस की जनता दुखी व त्रस्त थी। ऐसे माहौल में, दो पात्र प्रेमी युगल आइवन ओखोटस्क (क्लाडियस आइवनाफ़ / मोशियो आइवन) और हेलन परस्पर प्रेम करते-करते, राजनीतिक संग्राम में कूद पड़ते हैं और अपने जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं। वस्तुतः ‘कैदी’ आइवन-हेलन की प्रेम-कहानी ही है। इसमें स्त्री-पुरुष का पारस्परिक विश्वास, क्षणिक टूट कर भी, अटूट बना रहता है। आइवन-हेलन दोनों ने खतरनाक भूमिकाएँ सम्पन्न की हैं। अपने जीवन को संकट में डाल कर रूस से ज़ारशाही का खात्मा करने का बीड़ा उठाया है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को वे प्राथमिकता देते हैं; अपने प्रेम और विवाह को नहीं।

आइवन और हेलन सहपाठी थे। आइवन मास्को के एक सम्भ्रांत और रईस कुल का था। उसने ऊँची शिक्षा प्राप्त की। खिलाड़ी भी था। वह निर्भीक, उदार, सहृदय, साहसी व स्वच्छ हृदय का शीलवान इंसान था। दुर्बलों का रक्षक था। सैर करने में उसकी रुचि थी। सैलानी था। शराब का प्रेमी था।

युवती हेलन रूपवती थी। कल्पनाशील थी। कविता, नृत्य और संगीत

की प्रेमी थी। आइवन के ठीक विरुद्ध उसका स्वभाव था। आइवन फ़िज़ूलखर्ची था तो हेलन कृपण। हेलन आइवन के प्रति आकर्षित हुई। 'कदाचित्त उनकी विभिन्नता ही स्वाभाविक आकर्षण बन गयी।' आइवन ने विवाह का प्रस्ताव रखा; जिसे हेलन ने स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रवादियों के प्रति हेलन का झुकाव विशेष रूप से था। उसकी आत्मा देश की दुर्दशा से विकल थी। उक्रायेन प्रांत के गवर्नर रोमनाफ़ के अत्याचारों के विरुद्ध उसने आइवन को भी उत्साहित किया। आइवन भी रोमनाफ़ की दमन नीति के विरुद्ध था; किन्तु क्रांतिमय राजनीति से उसे हार्दिक प्रेम नहीं था। रईस का लड़का था। शीघ्र ही राजनीतिक संग्राम छिड़ गया।

रोमनाफ़ राष्ट्रवादियों का कट्टर दुश्मन था। अत्याचारी था। चतुर था। देश में उसने मार्शल-लॉ जारी किया। लेकिन अपने व्यक्तिगत जीवन में रसिक, कला-प्रेमी व शील-विनय की मूर्ति था। हेलन प्रेमाभिनय से, धोखे से रोमनाफ़ को क़त्ल करने की योजना बनाती है। रिवाल्वर से निशाना लगाने का दायित्व आइवन के ज़िम्मे सौंपती है। हेलन रोमनाफ़ की क्रूरता का मनोवैज्ञानिक पहलू समझती है। उसकी धारणा है कि किसी 'मायाविनी' के प्रेम में असफल होने के कारण उसका रस-स्रोत सूख गया है।

हेलन रोमनाफ़ से मिलती है पुलिस की निराधार शिकायत लेकर। बनावटी बातें करती है। और क्रमशः अनुभवी अफ़सर रोमनाफ़ को अपने रूप की मदिरा से उन्मत्त कर देती है। लेकिन, आइवन के प्रति निष्ठावान रहती है। अपने कर्तव्य-पालन निमित्त ही रोमनाफ़ से प्रेमाभिनय करती है। सुधा से विष का काम लेती है। राष्ट्र उसके लिए सर्वोपरि है। रोमनाफ़ का हेलन जैसी रमणी से कभी साविका नहीं पड़ा था। हेलन के माध्यम से वह अपना राजकीय उद्देश्य भी पूरा करना चाहता था। हेलन से उग्र युवकों की जानकारी प्राप्त कर सकने की उसे उम्मीद थी।

आख़िर, योजना कार्यान्वय का दिन आया। लेकिन, अफ़सोस, आइवन का निशाना चूक गया और वह पकड़ा गया। चौदह-वर्ष की कैद हुई। हेलन यदि सरकारी गवाह न बनती तो शायद वह बच जाता। आइवन हेलन के इस अप्रत्याशित आचरण विश्वासघात से बड़ा निराश हुआ। उसने समझा कि काम-तृप्ति हेतु हेलन ने ऐसा किया। आइवन चौदह-वर्ष बाद जेल से मुक्त होता है। हिंसा - भाव से उन्मत्त हेलन से मिलने आता है। लेकिन उस समय तक हेलन

की मृत्यु हो चुकी होती है। रोमनाफ़ ने आइवन को हेलन के संबंध में विस्तार से बताया। अंत समय तक हेलन आइवन की याद करती रही। क्षमा-याचना की उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी - इसका उसे अंतिम समय तक खेद रहा। आइवन हेलन की मृत्यु से दुखी होता है और सिज़दे में अपना सिर झुका देता है। इसी क्षण उसकी भी मृत्यु हो जाती है। हेलन के प्रति उसका प्रेम सच्चा था। हेलन का चिर-बिछोह वह सहन नहीं कर सका।

इस प्रकार, प्रस्तुत कहानी सच्चे प्रेम-प्रेमाभिनय और राष्ट्र-प्रेम की कहानी है। सही अर्थों में यह कहानी कैदी आइवन की नहीं; प्रेमिका हेलन की है। ज़ाहिर है, कहानी मात्र काल्पनिक है। उसके कथानक एवं पात्रों की कोई ऐतिहासिक भूमि नहीं। प्रेमचंद कहानी गढ़ने में माहिर थे। 'कैदी' की कथा को भी उन्होंने अपने ढंग से गढ़ा है। उसे अधिकाधिक रोचक बनाने की चेष्टा की है। हेलन सरकारी गवाह क्यों बनी; इस संबंध में न हेलन ने कुछ बताया, न रोमनाफ़ ने, न लेखक ने ! इसे सुविचारित न मानकर; अचानक ही माना जाएगा। अन्यथा; इस स्थल पर हेलन के अन्तर्द्वन्द्व को अवश्य चित्रित किया जाता। आइवन के जेल में जाने के बाद, हेलन का रोमनाफ़ से क्या रिश्ता रहा; इसका भी कोई संकेत कहानी में नहीं है। प्रेमियों और श्रृंखलाकारियों की दुहरी मानसिकता प्रस्तुत कहानी के पात्र धारण किये हुए हैं। कहानी के पात्रों के नाम-भर रूसी हैं; रूसी परिवेश और रूसी-जीवन का बोध यह कहानी नहीं कराती।

(51) कोई दुख न हो तो बकरी ख़रीद लो

एक फ़ारसी कहावत 'कोई दुख न हो तो बकरी ख़रीद लो' पर प्रस्तुत कहानी लिखी गयी है। कहानी आत्म-प्रधान शैली में है। दूध की किल्लत से लोग प्रायः परेशान रहते हैं। प्रस्तुत कहानी का प्रवक्ता-पात्र, अपने मित्र चड्ढा साहब के साथ साझे में गाय ख़रीदता है। लेकिन साझे वाली बात बनती नहीं। चड्ढा साहब का तबादला भी हो जाता है। गाय बेच दी जाती है। यह पात्र फिर बकरी ख़रीदता है। बकरी की परवरिश करते उसकी नाक में दम आ जाता है। अंत में, वह बकरी एक गड़रिये को दे देता है और सदा को उसे भूल जाता है। प्रस्तुत कहानी मात्र विनोदपूर्ण कहानी है। बकरी पालना कोई आसान काम नहीं है। दुख-ही-दुख है उसकी देखभाल करने में। इन दुखों का बड़ा ही रोचक और

विनोदपूर्ण चित्रण प्रेमचंद इस कहानी में करते हैं। यही इस कहानी की विशेषता है। कहानी में मित्र के अलावा मित्र की पत्नी, काछी, काछी की पत्नी, गड़रिया आदि का समावेश है। प्रवक्ता-पात्र की पत्नी और उनका नौकर हैं ही। कहानी में हमारे पारिवारिक जीवन का यथार्थ चित्रित है। बकरी पालने की एक मामूली-सी बात को प्रेमचंद किस प्रकार एक रोचक कहानी का आकार प्रदान करते हैं; यह प्रस्तुत रचना में द्रष्टव्य है। पात्रों के कार्य-कलापों और सम्भाषणों में स्वाभाविकता देखने को मिलती है। शुद्ध और निखालिस दूध प्राप्त करने की समस्या आज भी घर-घर में है। इसके लिए, प्रस्तुत कहानी का प्रवक्ता-पात्र कैसे-कैसे उपाय करता है; उनके हास्य-मिश्रित विवरणों से कहानी का शरीर निर्मित हुआ है। प्रेमचंद की सहज विनोदपूर्ण शैली और उनके जीवन-अनुभव ने एक साधारण-सी बात को साहित्यिक-कलात्मक कहानी का दर्जा प्रदान किया है।

(52) कौशल

‘कौशल’ शीर्षक कहानी स्त्रियों के आभूषण-प्रेम की कहानी है। कहानी में मात्र दो पात्र हैं पं. बालकराम शास्त्री और उसकी पत्नी माया। पं.बालकराम पाठशाला-अध्यापक हैं। धनाभाव स्वाभाविक है। अन्यथा भी वे आलसी प्रकृति के हैं। उनकी रुचि के दो ही विषय हैं भोजन और विश्राम। माया को स्वर्ण-हार की लालसा है। लेकिन, पं. बालकराम शास्त्री के पास इतनी धनराशि कहाँ? समय गुज़रता गया।

एक दिन माया पड़ोस की स्त्री का स्वर्ण-हार पहन आती है। अपने पति को दिखाती है। पति कहता है ‘ यह हार वापस कर दो, भोजन करो और आराम से पड़ी रहो।’ लेकिन माया हार पहने-पहने सो जाने का बहाना करती है। रात में अचानक शोर मचाकर कहती है ‘ चोर! चोर!’ पंडित जी माया के नाटक को सच समझते हैं। हार के चोरी चले जाने से दुखी होते हैं। बीस तोले सोने का हार कम-से-कम छह-सौ रुपयों का तो था ही।

पंडित जी एक तो अध्यापक थे; दूसरे ब्राह्मण। उन्होंने टाट उलटा नहीं। हार लौटाने से इंकार नहीं किया। आलस्य छोड़कर धनोपार्जन में दत्तचित्त हो गये। उन्हें ब्राह्मण के वे कर्म भी करने पड़े; जिन्हें वे घटिया समझते थे। यथा भागवत-कथा कहने जाना, जन्म-कुंडलियाँ और वर्ष-फल बनाना, मंदिर में दुर्गाजी

का पाठ करना आदि। लगातार परिश्रम करके पंडित जी हार बनवाने में सफल हुए। नया हार देखकर माया अत्यधिक प्रसन्न हुई और अपना सम्पूर्ण नाटक अपने पति को बता दिया। उसने अपने इस नाटक को 'कौशल' की संज्ञा दी है। नये स्वर्ण-हार को पति की निशानी मान कर सहर्ष धारण करती है। पंडित जी बोले ' इस 'कौशल' के लिए मुझे आत्म-स्वातंत्र्य का बलिदान करना पड़ा।' वास्तव में, पं. बालकराम शास्त्री जैसे चरित्रवान पुरुषार्थी व्यक्ति के लिए यह हार बहुत महँगा पड़ा।

प्रस्तुत कहानी ऊपर से देखने पर तो मात्र विनोदपूर्ण कहानी है; किन्तु वह स्त्री की, पत्नी की मानसिकता को भली-भाँति उजागर करती है। भारतीय गृहणियों अपने पतियों से स्वर्ण-आभूषणों की अपेक्षा रखती हैं। उन्हें पाकर विशेष गर्व अनुभव करती हैं। यह बात शिक्षित-अशिक्षित प्रायः सभी स्त्रियों में पायी जाती है। अत्याधुनिक स्त्रियाँ तक आभूषण धारण करती देखी जाती हैं। प्रस्तुत कहानी में माया का आभूषण-प्रेम किसी समस्या को जन्म नहीं देता। वह उसे कुरीति की श्रेणी तक नहीं पहुँचाता। इसीलिए माया का नाटक विनोद बन कर रह जाता है।

(53) क्षमा

'क्षमा' कहानी मुसलमान-ईसाई संघर्ष की कहानी है। इसका संबंध योरोप के एक देश स्पेन से है। ईसाइयों को अपदस्थ करके स्पेन में मुसलमानों का राज्य स्थापित है। मुसलमानों और ईसाइयों में परस्पर झगड़ा बरकरार है। दोनों एक दूसरे के खून के प्यासे हैं। ईसाइयों में मुख्य पात्र दाऊद है और मुसलमानों में शेख हसन।

दाऊद पीटर का बेटा है। सौदागर है। विद्वान और साहसी है। शरणागत ईसाइयों का उदारतापूर्वक पालन-पोषण करता है। तर्क और विनय से उन्हें धर्म पर अचल रहने की प्रेरणा देता है। धर्म-परिवर्तन नहीं करने देता। मुसलमान धर्म-बल से नहीं; शस्त्र-बल से उसे पराजित करना चाहते थे। एक दिन मुसलमान सेनाओं ने दाऊद को घेर लिया। प्राण-रक्षा हेतु भागकर वह गुरनाता (इसलामी राजधानी) पहुँचा और छिप कर वहाँ रहने लगा। बाग में सैर करते समय उसका एक अरबी मुसलमान जमाल से झगड़ा हो जाता है। दाऊद की इसे मान्यता पर कि इसलाम का प्रचार तलवार के बल पर हुआ है, सेवा के बल पर नहीं; जमाल

भड़क उठता है। वह अपनी मान्यता 'इसलाम की शक्ति आंतरिक भावतृत्व और साम्य है, तलवार नहीं' बताता है। द्वन्द्व युद्ध में दाऊद जमाल को कटार से मार डालता है और अरबों की रक्त-पिपासा का शिकार बनता है। मुसलमान जातीय अपमान का बदला लेने पर उतारू हो उठते हैं। दाऊद अपने प्राण बचाने के लिए फिर भागता है और एक बूढ़े अरब के फूस के मकान में एक रात शरण लेता है। संयोग से, यह बूढ़ा अरब और कोई नहीं जमाल का पिता शेख हसन है। शेख हसन सच्चा व पक्का मुसलमान है। कुरान ने उसे यह पाठ सिखाया है कि शरणागत की रक्षा करना मुसलमान का फर्ज है। इससे खुदा-पाक मदद करते हैं। जब उसे पता चलता है कि यह शरणागत उसके एकमात्र बेटे जमाल का हत्यारा है तो उसके हृदय में भीषण अन्तर्द्वन्द्व होता है। कर्तव्य उसके हाथ बाँधे हुए है। रसूल-पाक की हिदायत जो अपनी पनाह में आये; उस पर हाथ न उठाओ का वह कायल है। प्रथम तो वह मानव-प्रकृति के अनुरूप प्रतिशोध भावना से संचालित होता है; किन्तु जब वह निष्पक्ष-तटस्थ चिन्तन करता है तो उसके समक्ष वास्तविकता जाग उठती है। आत्म-मंथन करते वह सोचता है 'मुसलमानों ने ईसाइयों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं। उनकी स्वाधीनता हर ली है। विजय का दर्प है उन्हें। इसलाम के नाम पर बट्टा नहीं लागाऊंगा।' इस प्रकार, वह इसलाम के सर्वोच्च आदर्श क्षमा और दया को अपनाता है। दाऊद को अपनी ऊँटनी देता है और उसे किसी सुरक्षित स्थान पर भाग जाने का सुअवसर प्रदान करता है। शेख हसन के इस सद्व्यवहार से दाऊद के विचारों में गहरा परिवर्तन होता है। वह मुसलमानों का आदर करने लगता है। इसलाम का नाम इज्जत से लेता है।

प्रस्तुत कहानी भले ही स्पेन देश की हो; पर सर्वत्र धर्म के वास्तविक रूप को उद्घाटित करती है। इस कहानी की मूल भावना सर्वदेशीय-सर्वकालिक है। धर्म पर आधारित मुसलमानों और ईसाइयों की मानसिकता का यथार्थ अंकन इस कहानी की विशेषता है। अंत में विजय, वास्तव में मानवता की होती है; किसी धर्म-विशेष की नहीं। पर, धर्मान्ध इस मानवता को आज भी समझ नहीं पाते और अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता का ही दिढ़ोरा आज भी पीटते हैं। 'कोई अच्छा है तो सिर्फ इसलिए कि वह मुसलमान है या ईसाई है। मनुष्य है; इसलिए नहीं। प्राणी पहले मुसलमान या ईसाई है; फिर मनुष्य! मुसलमान या ईसाई होना ही अच्छे इंसान की निशानी है।' प्रेमचंद की यह कहानी अपने महत् उद्देश्य के कारण आज भी प्रासंगिक है। दो कट्टर धर्मावलम्बी पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने मानवता का

महान् संदेश दिया है इस कहानी के द्वारा। निःसंदेह, शेख हसन अद्वितीय है; लेकिन उसका आचरण अस्वाभाविक नहीं। प्रस्तुत कहानी के दोनों पात्र प्रेमचंद के आदर्श पात्रों में हैं। समाज में, धर्म के प्रति स्वस्थ मानसिकता-निर्माण में 'क्षमा' कहानी का महत्त्व निर्विवाद है।

(54) खुचड़

खुचड़ अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो किसी के काम में खाहमखाह दोष निकाले। छिद्रान्वेषण करने वाला। प्रस्तुत कहानी में ऐसे खुचड़ पात्र बाबू कुन्दनलाल हैं; जो कचहरी में मुलाज़िम हैं। उनका दूसरा विवाह रामेश्वरी से हुआ है। 'खुचड़' इन दो पात्रों पति-पत्नी की कहानी है। पत्नी यदि सामान्य पात्र है तो पति विशिष्ट। रामेश्वरी पति के निर्देशानुसार कार्य करती है; और पति को प्रसन्न रखने के लिए; उनके इशारों पर चलने की चेष्टा करती रहती है; तो भी उसके पति बाबू कुन्दनलाल उसके हर काम में कोई-न-कोई कमी निकाल ही देते हैं। वे अपनी पत्नी को नित्य सदुपदेश देने के लिए विवश हैं। बिना उपदेश दिये वे रह नहीं सकते! रामेश्वरी की समझ में नहीं आता कि वह क्या करे; पति से कैसे पेश आये। वह कहती है 'न जाने किस स्वभाव के आदमी हैं। आज एक बात काटते हैं; कल उसी को काटते हैं जैसे कोई झक्की आदमी हो।' अतः वह निश्चय करती है कि अब 'मैं अपनी मन से अपनी अक्ल से कोई काम नहीं करूंगी। जो ये कहें, वही करूँ। न जौ-भर कम, न जौ-भर ज़्यादा।' एक प्रकार से उसने पति से असहयोग करने की ठान ली।

अन्ततोगत्वा, बाबू कुन्दनलाल को अपनी ग़लती समझ में आती है। वे कहते हैं 'आज से मैं कान पकड़ता हूँ, तुम्हारे बीच में नहीं बोलूंगा। ... अगर तुम किसी बात में मेरी सलाह पूछोगी तो दे दूंगा; वरना मुँह न खोलूंगा।' रामेश्वरी स्वयं कहती है 'मैं अपमान नहीं सह सकती।' कुन्दनलाल अपनी भूल के लिए सच्चे दिल से क्षमा-याचना करते हैं। इस प्रकार, रामेश्वरी पति के खुचड़ स्वभाव से निजात पाती है। आगे से दोनों पति-पत्नी शांतिपूर्वक-प्रेमपूर्वक रहेंगे; इसका बोध पाठकों को होता है।

बाबू कुन्दनलाल और घर-स्वामिनी रामेश्वरी में छोटी-छोटी बातों को लेकर जो रोज़ विवाद होते थे; वे प्रसंग ही प्रस्तुत कहानी को आकार देते हैं। ये

प्रसंग कुँजड़िन, बिल्ली, भिखारी, पति के मित्रों की दावत, दूर के रिश्तेदारों की आवभगत, महरी आदि से सम्बद्ध हैं। ये सारे वर्णन रोचक हैं। इनसे पाठकों का भरपूर मनोविनोद होता है।

कहानी का धरातल विशुद्ध पारिवारिक है। पति-पत्नी की मानसिकता में अन्तर है; दोनों की अपनी-अपनी मानसिक बनावट है। लेकिन यह स्पष्ट है कि पति का व्यक्तित्व सामान्य नहीं है। छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति के पीछे जो भी मनोविज्ञान काम करता हो; पर उनके स्वभाव में यह प्रवृत्ति निरन्तर अभिव्यक्ति पाती है।

कहानी-लेखन का कौशल प्रेमचंद में अप्रतिम था।

(55) खुदाई फ़ौजदार

‘खुदाई फ़ौजदार’ एक धनवान सेठ की कहानी है। महाजन का नाम नानकचंद है। उसके मात्र पत्नी है केसर। संतान कोई नहीं। अतः केसर माया भोगने की धुन में रहती है। नानकचंद की अपार धन-सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कोई नहीं। लेकिन सेठ नानकचंद कृपण प्रकृति का है। दया-उपकार से दूर है। मज़बूत किवाड़ों के सुरक्षित मकान में रहता है। राइफलें भी रखता है। लेकिन चौकीदार मात्र एक रख छोड़ा है। ऐसे धनिक लोगों को परलोक-सुधार की चिन्ता रहती है। स्वभाव में धर्मनिष्ठता आ जाती है। नानकचंद जी का व्रत, ब्राह्मण-भोज, जमुना-स्नान आदि का क्रम चलता रहता है। धर्मशाला बनवाने का भी उनका विचार है। लेकिन अपने असामियों थवई और बेलदारों का शोषण करने में वह नहीं चूकता। केवल सूद में उनसे काम करवाता है।

अचानक, सेठ नानकचंद की दौलत पर डाकुओं और ठगों की कुट्टुष्टि पड़ जाती है। वे धमकियों-भरे तीन खत उन्हें भेजते हैं। उनकी माँग पच्चीस हज़ार रुपयों की है। इन पत्रों को पढ़ कर नानकचंद डरता ज़रूर है, पर विपत्ति का सामना करने का पक्का इरादा रखता है। वह अपने को कायर नहीं समझता। पुलिस में रिपोर्ट करने का भी उसका विचार है; क्योंकि उसने सदा पुलिस अधिकारियों का मान-सम्मान किया है। उन्हें जब-तब रसद पहुँचायी है। माना उसकी पत्नी केसर को पुलिस पर विश्वास नहीं। वह पुलिस को चोर-डाकुओं से मिला हुआ मानती है।

जैसा कि प्रायः देखा जाता है; डाकू अक्सर पुलिस की वर्दी में आते हैं। ख़तरे में आदमी का दिल वैसे ही कमज़ोर हो जाता है; वह डाकुओं के इस छद्म को तुरन्त ताड़ नहीं पाता। वही दशा सेठ नानकचंद की हुई। एक नक़ली कान्स्टेबिल ने जब गुमनाम पत्रों की बात की; तभी सेठ जी को सतर्क हो जाना चाहिए था; क्योंकि उन्होंने पत्रों का राज़ किसी को भी बताया नहीं था। पर, पुलिस की वर्दी से वे धोखा खा गये। उनके शक की सूई इस तरफ़ घूमते-घूमते रह गयी। माल सरकारी खज़ाने में जमा कर देने का तथाकथित पुलिस का प्रस्ताव सेठ जी ने स्वीकार कर लिया और अपनी मोटर में ही अपनी सारी दौलत लाद कर उन डाकुओं के साथ चल पड़े। रास्ते में वास्तविकता प्रकट हुई। डाकुओं ने सेठ जी को मोटर से नीचे ढकेल दिया और माल उड़ाकर चम्पत हो गये। जिन पुलिसकर्मियों को सेठ नानकचंद खुदाई फ़ौजदार समझ रहे थे; वे ही डाकू निकले।

कहानी की घटनाएँ अस्वाभाविक तो प्रतीत नहीं होतीं; किन्तु सेठ नानकचंद जैसे चतुर व्यक्ति का, मूर्खों जैसा आचरण कहानी को सत्य-कथा की कोटि में नहीं ला सकता। प्रेमचंद जी ने संकट-काल में आदमी के मनोविज्ञान का उल्लेख किया है और बताया है कि शायद होश-हवास में मनुष्य ऐसा नहीं करता। एक घबराए हुए व्यक्ति का मनोविज्ञान प्रस्तुत कहानी के मूल में है। धनिक वर्ग की मानसिकता सेठ नानकचंद में द्रष्टव्य है। धनिक चाहे संतानहीन हो; सब-कुछ समझकर भी धन-मोह से वह मुक्त नहीं हो पाता। वह यह भी नहीं सोच पाता कि मरने के बाद उसकी दौलत का क्या होगा। माना कि पत्नी केसर इस दृष्टि से सजग है; तभी तो वह मात्र माया भोगने में रुचि रखती है। प्रेमचंद के विशाल कथा-सागर में समाज के प्रत्येक क्षेत्र के पात्र विद्यमान हैं।

(56) खुदी

खुदी अर्थात् अपना स्वरूप, अपनी सत्ता का ज्ञान / बोध। यह बोध कहानी की प्रमुख पात्र मुन्नी को होता है। दूसरा पात्र; जिसकी भूमिका महत्वपूर्ण है एक परदेसी है। मुन्नी एक अनाथ लड़की है। जब वह पाँच वर्ष की थी; उसके माता-पिता या तो मर गये या उसे राम-भरोसे छोड़कर परदेश चले गये। गाँव के लोगों को एक पेड़ के नीचे खेलती मिली। 'वह सबकी थी; उसका कोई न था'। सब बुला-बुला कर उसे खाने को देते। मुन्नी के लिए यह समय चैन का समय था।

जब वह कुछ बड़ी व समझदार हुई तो सब अपने-अपने काम उससे करवाना चाहते। लोगों की खुशी-नाखुशी से उसका जीवन प्रभावित होने लगा। कभी-कभी खाना भी नहीं मिलता। वह सोचती ' जो सबका होता है; वह किसी का नहीं होता।' क्रमशः मुन्नी जवान हुई। सारे गाँव की प्रेमिका बनी वह; पर उसका कोई प्रेमी नहीं। सच्चा साथी उसे एक भी नहीं मिला।

अचानक, एक मुसाफ़िर गाँव से गुज़रता है। कमज़ोर, दीन-हीन। सत्तू खाकर पेड़ के नीचे लेट जाता है। मुन्नी का इस परदेसी से मिलना होता है। मुन्नी को लगा; इसका दिल चोट खाया हुआ है। वह इस परदेसी की ओर आकर्षित होती है। उसके पहलू में उसे सच्चा दिल दिखा। परदेसी ने गाँव में झोंपड़ी बनायी। वफ़ा की उम्मीद से मुन्नी उसके साथ रहने लगी और उसी की हो गयी। लेकिन चौथे ही दिन, परदेसी लापता हो जाता है। अतीत में उसे जो बेवफ़ाई मिली; उससे घबरा कर उसने सोचा कि कहीं मुन्नी का प्रेम भी कच्चा धागा न निकले।

मुन्नी को परदेसी के लौट आने का विश्वास था। वह मज़दूरी करती और उसी झोंपड़ी में सुरक्षित पड़ी रहती। अनेक प्रेमियों के प्रस्ताव उसने ठुकरा दिये। इस झोंपड़ी में वह सत्तर वर्ष अकेली रही। एक की होकर। उसके चेहरे पर सदा दीप्ति रही। प्रेमचंद लिखते हैं - ' खुदी जब जागती है तो दिल की कमज़ोरियाँ उसके पास आते डरती हैं।'

'खुदी' एक आदर्श औरत / पत्नी की कहानी है। उसका चरित्र कभी स्वलित नहीं होता। अनाथ रह कर भी वह अपने जीवन को अपनी तरह जीती है। उसकी अहंता सदैव जाग्रत रहती है। परदेसी का आचरण विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। कहानी में उसकी भूमिका भी कम है। मुन्नी को अंधकार में रख, गाँव से चम्पत हो जाना विश्वासघात की श्रेणी में आता है। उसकी इस मनःस्थिति का कारण जो भी रहा हो; किन्तु मुन्नी के प्रति उसके बर्ताव का कोई औचित्य दृग्गोचर नहीं होता। कहानी के अंत में भी यदि वह लौट आता और प्रायश्चित्त करता तो मानवीय संवेदना की रक्षा हो जाती। मुन्नी से उसका कोई विधिवत् विवाह तो हुआ नहीं था; किन्तु मुन्नी ने सच्चे हृदय से उसे अपना पति मान लिया था। पति के प्रति एकनिष्ठ प्रेम-संबंध मुन्नी के आचरण को एक आदर्श और आध्यात्मिक स्वरूप देते ज़रूर हैं; किन्तु वह असामान्य और असाधारण ही कहा जाएगा। ऐसे पात्रों की मानसिकता समाज के लिए इतनी व्यावहारिक नहीं। मुन्नी का आदर्श हमारी कल्पना का आदर्श ही बन कर रह जाता है।

(57) खून सफेद

फ़ारसी में एक कहावत है - खून सुफ़ेद होना अर्थात् प्रेम व आत्मीयता की भावना का न रहना; निटुर हो जाना। प्रस्तुत कहानी में धर्मध्वजी पुरातनपंथी जड़ हिन्दू समाज का खून तो सफ़ेद बताया ही गया है; पिता का भी पुत्र के प्रति खून, एक सीमा तक, कोई कम सफ़ेद नहीं माना जा सकता। पिता समाज की ज़्यादाती का मुक़ाबला नहीं कर पाता। तत्कालीन समाज और ग्रामीण वातावरण में ऐसा सम्भव भी नहीं था। इस दृष्टि से, प्रस्तुत कहानी अप्रत्यक्ष रूप से समाज-सुधार की प्रेरणा देती है। कहानी का परिवार एक किसान का है। जादोराय, उसकी पत्नी देवकी और उसकी तीन संतानें - दो पुत्र साधोराय व माधोसिंह और एक पुत्री शिवगौरी। वर्षा के अभाव के फलस्वरूप दुर्भिक्ष फैल जाता है। जादोराय की तकावी तक तत्कालीन प्रशासन माफ़ नहीं करता। वह किसान से मज़दूर बनने के लिए बाध्य होता है और गाँव छोड़ कर लालगंज सपरिवार चला जाता है - मज़दूरी की खोज में। समाज में सर्वत्र स्वार्थ प्रबल है; कोई किसी से सहानुभूति प्रदर्शित नहीं करता। ऐसे संकट-काल में आर्थिक दृष्टि से समृद्ध ईसाई धर्म-प्रचारक मानवता की सेवा करने और अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने विशेष रूप से निकल पड़ते हैं। प्रस्तुत कहानी में भी ऐसा ही बताया गया है। पादरी मोहनदास ने तीन दिन लालगंज में अपना डेरा डाला। जादोराय का पाँच वर्षीय भूखा बेटा साधोराय (लल्लू) पादरी के साथ चला जाता है। चौदह वर्ष बाद लौटता है; इस अपेक्षा से कि उसके परिजन उसे अपनाएंगे। वह उनका पूर्ववत् प्रेम पा सकेगा। साधो से जो भी अपराध हुआ, अनजान में हुआ; जिसके लिए वह प्रायश्चित-हेतु प्रस्तुत है। लेकिन; धर्मध्वजियों का समाज - जिसका नेतृत्व गाँव का एक दकियानूस निर्दयी बूढ़ा जगतसिंह करता है - उसे जाति-च्युत करने पर उतारू है। गाँवों में तो हिन्दू-धर्म की व्यवस्था का ठेका ऐसे ही जड़-मूर्खों ने ले रखा है। साधो को लगता है कि बिरादरीवालों का ही नहीं; उसके पिता का भी खून सफ़ेद हो गया दीखता है। वस्तुतः जादोराय ने मात्र नीति-वश जगतसिंह की व्यवस्था स्वीकार की थी; मन से नहीं। बिरादरी वालों के मात्र तोष के लिए। लेकिन साधो ने इस नीति को समझा नहीं। हाँलाकि साधो की माँ स्पष्ट कहती है कि चाहे बिरादरी छूट जाए; वह अपने पुत्र को नहीं छोड़ेगी। अंत में, साधो वहीं लौट जाता है; जहाँ से वह तंग होकर आया था; क्योंकि उसे घर में ही अछूत बन कर रहना

स्वीकार न था।

‘खून सफ़ेद’ का कारण एक हिन्दू का ईसाई धर्म में दीक्षित होना ज़रूर है; पर प्रस्तुत कहानी इस प्रसंग को लक्ष्य में रख कर नहीं लिखी गयी है। बल्कि एक स्थल पर तो कहा गया है कि पादरी ने पहले साधो को समझाया कि वह घर लौट जाए। मुसीबतज़दा भूखे लोगों को ईसाई धर्म अपना लेने के लिए कोई मुहिम भी पादरी-वर्ग चलाता नहीं दीखता। पादरी विशुद्ध मानवीय आधार पर भूखे साधो को कुछ खाद्य पदार्थ देता है।

प्रस्तुत कहानी के केन्द्र में हिन्दू-समाज की कुरीतियाँ हैं; अंधविश्वास हैं। आज भी बिरादरी का भय समाज में कोई कम व्याप्त नहीं है। अतः प्रस्तुत कहानी समाज-सुधार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहानी मानी जाएगी। निर्धन अशिक्षित ग्रामीणों की मानसिकता में बदलाव आये; ऐसा इस कहानी से स्पष्ट घोषित होता है। साधोराय का पिता धर्म के ठेकेदारों से डरता अवश्य है; पर उनके प्रति उसका अवज्ञा-भाव भी छिपा नहीं रहता। ‘खून सफ़ेद’ समाज में परिवर्तन की भूमिका निश्चय ही तैयार करती है।

(58) खौफ़े रुसवाई

खौफ़े रुसवाई अर्थात् बदनामी का डर। प्रस्तुत कहानी का संबंध कलकत्ते के एक बैरिस्टर बाबू धीरेन चौधरी, उनकी पत्नी सरला और बाबू धीरेन की एक माशूका से है। धीरेन चौधरी के एक दिली दोस्त जोतिन्द्रो सेन का समावेश मात्र कथानक-संयोजन हेतु हुआ है। कहानी का परिवार व परिवेश बंगाली ज़रूर है; पर कहानी सामान्य है; कोई बंगाली समाज को लक्ष्य कर नहीं लिखी गयी है। इसी प्रकार बाबू धीरेन चौधरी बैरिस्टर ज़रूर हैं; पर कहानी का संबंध उनके पेशे से नहीं है। ‘खौफ़े रुसवाई’ एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति की कहानी है; जो पत्नी के होते हुए भी, एक अन्य औरत से गुप्त संबंध रखे हुए है। भेद प्रकट हो जाने के डर से धीरेन न्यायालय में अपने पर लगे एक ग़लत आरोप को नकारने में डरता है। उसे जलावतन मंजूर है। एक अन्य औरत से उसके संबंध हैं; यदि यह बात समाज में प्रकट हो गयी तो उसकी बदनामी होगी।

एक अंग्रेज़-अफ़सर पर, सायं चार बजे, बमगोला चलाने के संदेह में, पुलिस द्वारा उसके घर की तलाशी ली जाती है। इस समय वे अदालत में मौजूद

नहीं थे; दूसरी औरत की मुहब्बत में गिरफ्तार थे। पत्नी सरला पति पर लगे झूठे आरोप से बेचैन है। अचानक धीरेन की टेबिल पर उनकी प्रेमिका का लिखा एक पुर्जा उसे मिलता है; जिससे साफ़ प्रकट होता है कि वारदात के समय धीरेन उस प्रेमिका के घर पर थे। सरला अपने खंडित सुहाग का अनुभव कर दुखी होती है। उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्व होता है। पति की खुशी के लिए वह पति को छोड़ देने का विचार मन में लाती है। पति को बचाना अपना फर्ज समझती है। पति-मित्र जोतिन्द्रो सेन से वह परामर्श करती है और योजनानुसार उस प्रेमिका से सम्पर्क करती है। माशूका पुर्जा मैजिस्ट्रेट के यहाँ पेश कर देती है और इस प्रकार सबूत के आधार पर धीरेन आरोप-मुक्त हो जाता है। धीरेन सरला के समक्ष बड़ा शरमिन्दा होता है और क्षमा-याचना करता है। पुनः माशूका के दरवाजे पर न जाने का वादा करता है। सरला का कथन है ' मोहब्बत सच्ची है तो समाज का डर क्यों ?' धीरेन का कथन है ' समाज का डर; खुदा के खौफ से भी ज़्यादा है।'

प्रस्तुत कहानी में महत्वपूर्ण भूमिका सरला की है। इस प्रकार यह कहानी एक पत्नी की व नारी-हृदय की कहानी ठहरती है। ऐसी स्थिति अनेक परिवारों की है। पत्नी की प्रतिक्रिया क्या हो; यह प्रस्तुत कहानी में द्रष्टव्य है। समाज के नैतिक मूल्यों पर विचार करने के लिए हम बाधे होते हैं। ऐसा आचरण यदि पत्नी करती तो क्या उसके पति धीरेन बाबू उसे सहन करते ? सरला एक पति-परायण स्त्री है। उसके संस्कार उसे पति के प्रति विद्रोह की प्रेरणा नहीं देते। धीरेन का प्रायश्चित्त-भाव भी उसे संतुलित बनाये रखता है। लेकिन यह मानना होगा कि खंडित सुहाग-बोध से ग्रस्त एक नारी की मानसिकता का प्रतिनिधित्व सरला नहीं करती। भेद चूँकि मैजिस्ट्रेट ने भी गुप्त रखा; इस कारण धीरेन की प्रतिष्ठा समाज में बनी रही। इससे धीरेन-सरला को संतोष भले ही रहा हो; किन्तु दोनों पात्र ग्लानि-भाव से छुटकारा नहीं पा सके होंगे यह मनोविज्ञान-सम्मत है। उनका परिवार टूटने से अवश्य बच जाता है। प्रेमचंद ने अपनी कल्पना से जो स्थिति उत्पन्न की; वह समाज में जब-तब देखने में आती है। उसका समाधान भी सरला द्वारा सरल ढंग से प्रस्तुत कहानी में लक्षित है। अंत में, सरला खामोश बैठी सोचती भर है। धीरेन ने इस गुथी को यों सुलझाने का आग्रह किया ' मुहब्बत के सदके, तुम इन बातों को भूल जाओ।' आदमी की कमज़ोरी समझ कर, ऐसे आचरण को यदि पति-पत्नी भूलने लग जाएँ तो अनेक परिवारों का विघटन बच जाए। पर्दे के अन्दर चाहे कुछ भी हुआ करे; वास्तविकता प्रकट होने पर ऐसा आचरण आदमी सहन नहीं कर

पाता। यदि सहन करता है तो भी संबंधों में गाँठ पड़ना स्वाभाविक है। नर-नारी के यौन संबंधों का मनोविज्ञान जटिल और रहस्यपूर्ण है उसे इतनी सुगमता से रफ़ा-दफ़ा नहीं किया जा सकता। यह बहुत-कुछ व्यक्ति की मानसिक बनावट पर भी निर्भर करता है। बहुत से मनुष्य अपनी पारिवारिक-सामाजिक प्रतिष्ठा को सर्वोच्च समझते हैं और ऐसे आचरण को विवश-भाव से झेलते हैं; भले ही उनका दाम्पत्य जीवन तहस-नहस हो जाता हो। पर, ऐसे रहस्य को आजीवन छिपाये रख कर घर-समाज में वे उज्ज्वल बने रहते हैं। प्रेमचंद प्रस्तुत कहानी में इस सीमा तक नहीं जाते। कहानी कहना-भर उनका एकमात्र उद्देश्य है। लेकिन, उनकी प्रस्तुत कहानी पति-पत्नी के उपर्युक्त मनोविज्ञान की ओर इंगित करती ही है। प्रेमचंद मानव-हृदय की अतल गहराइयों में प्रवेश नहीं करते। विषम-विकट भूमिकाओं में भी उनके पात्र स्वस्थ बने रहते हैं; भले ही यथार्थ में ऐसा सदैव दृग्गोचर न होता हो। प्रस्तुत कहानी जिस स्थल पर समाप्त होती है; वहाँ से यह कश-म-कश शुरू होती है। अतः इस पक्ष पर, इस कहानी के संदर्भ में और विस्तार से कहना युक्तियुक्त नहीं।

(59) गूमी

‘गूमी’ एक लघुकथा है। विनोदपूर्ण भी; उद्देश्यपूर्ण भी। बाबू भागीरथ प्रसाद नामक एक पात्र ने जिस रोचक नाटक का आयोजन किया; उसे कहानी का प्रवक्ता-पात्र (मैं) प्रस्तुत करता है। इस पात्र के पास नाई सूचना लाता है कि बाबू भागीरथ प्रसाद के यहाँ गूमी हो गयी है। नाई ने यह नहीं बताया कि कौन नहीं रहा! भागीरथ प्रसाद के यहाँ बाल-बच्चा होने वाला था। यह अनुमान लगाना स्वाभाविक था कि प्रसव-कर्म के दौरान शायद पत्नी न रही हो। भागीरथ प्रसाद के यहाँ यह तीसरा बालक होने वाला था। शव-यात्रा की तैयारी से शोकाकुल मित्र जब बाबू भागीरथ प्रसाद के घर पहुँचते हैं; तब भागीरथ प्रसाद पान खाते हुए, मित्रों के मध्य, इलायची की तश्तरी लिए प्रकट होते हैं और कहते हैं कि उनके आनन्द की मुत्यु हो गयी है। तीसरे बालक का जन्म उनके लिए शोक की बात थी। विपत्ति सूचक थी। वे उसका पालन अच्छी तरह से नहीं कर सकते थे; इस कारण। मित्रों से कहते हैं ‘अब ऐसी मूर्खता (सन्तानोत्पत्ति की) फिर न करूंगा।’ गूमी के इस रहस्य को जान कर मित्र क़हक़हे लगाते हैं। बाबू भागीरथ

प्रसाद भी शिशु-जन्म के उपलक्ष्य में उनकी प्रसन्न-भाव से दावत करते हैं।

परिवार-नियोजन का कार्यक्रम तो अब चला है; लेकिन प्रेमचंद ने लोगों का ध्यान इस ओर काफ़ी पहले से आकर्षित किया; यह तथ्य उनकी सतर्क दृष्टि का द्योतक है। कहना न होगा, प्रेमचंद की यह लघुकथा आज पहले से अधिक प्रासंगिक है। परिवार-नियोजन विभाग को इसका अधिकाधिक प्रचार करना चाहिए।

विनोदपूर्ण प्रसंग खोज निकालने में प्रेमचंद अद्वितीय थे। बड़े रोचक अन्दाज़ में उन्होंने यह कहानी प्रस्तुत की है। इस प्रकार प्रेमचंद की रचनाएँ, समाज-सुधार की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

(60) ग़रीब की हाय

‘हाय’ अर्थात् किसी को मानसिक और शारीरिक पीड़ा पहुँचाने पर; पीड़ित व्यक्ति के मुख से निकलने वाली शाप-सूचक ध्वनि। प्रस्तुत कहानी में एक सतायी गयी विधवा ब्राह्मणी मूँगा की हाय एक क्रूर और भ्रष्ट परिवार को तबाह कर देती है। यह परिवार, पचास-वर्षीय मुंशी रामसेवक का है; जो चाँदपुर नामक गाँव का मात्र नाम का रईस व कानूनदाँ मुख्तार है। स्वयं कर्जदार है। विधवाओं-वृद्धों की धनराशि जो अमानत खाते रखता है; हड़प जाता है। कर्ज लेकर लौटाना नहीं जानता। उसकी पत्नी नागिन और पुत्र रामगुलाम क्रूरता में रामसेवक से आगे ही हैं। ये तीनों मिल कर विधवा मूँगा के दो-सौ पचास रुपये ही हड़प नहीं लेते; उसे तरह-तरह से सताते हैं। पंचायत ने भी रामसेवक की ईमानदारी पर संदेह नहीं किया। मूँगा इस परिवार के अत्याचारों का सह नहीं पाती और पागल हो जाती है। उसमें पाशविक उग्रता जाग उठती है। रामसेवक से कहती है ‘ तेरा लहू पिऊंगी।’ मुंशी के दरवाज़े पर धरना देती है और वही दम तोड़ देती है। रामसेवक मूँगा-मृत्यु / ब्रह्म-हत्या से भयभीत अवश्य होता है; ईश्वर के न्याय से डरता है। समाज-द्वारा भी अपमानित होता है। गाँव वाले उसका सामाजिक बहिष्कार करते हैं। गर्भवती नागिन मूँगा-मृत्यु की दहशत में ज्वर-सन्निपात ग्रस्त होकर मर जाती है; और कोई भी गाँव वाला उसकी लाश उठाने तक को तैयार नहीं हुआ। किसी ने रामसेवक के समक्ष मातमपुरी तक नहीं की। रामसेवक के मन-मस्तिष्क पर इस सबका इतना प्रभाव पड़ा कि वह बद्रीनाथ चला गया और साधु बन गया। उदंड

रामगुलाम चने के खलिहान में आग लगाता पुलिस द्वारा पकड़ा गया और चुनार के रिफार्मेटरी स्कूल में भेज दिया गया। इस प्रकार, गरीब विधवा मूंगा की हाथ रामसेवक के परिवार को खत्म कर देती है।

प्रस्तुत कहानी सामाजिकों को गरीबों को सताने से, अन्याय करने से एवं क्रूर कुकर्म करने से रोकती अवश्य है; किन्तु क्या यथार्थ में किसी को ऐसी हाथ लगती है? वास्तविकता यह है कि ऐसे लोग खूब चैन से रहते हैं। गरीब कमजोर वर्ग तबाह हो जाता है। ईश्वरीय न्याय का सहारा लेना; मात्र झूठी तसल्ली का अंतिम तर्क है। लेकिन यह भी ज़रूर है; ईश्वर का अदृश्य डर आदमी को तमाम बुरे काम करने से रोकता रहता है। रामसेवक-नागिन पर बुरे कर्म करने का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सामाजिक लांछना भी उन्हें भोगनी पड़ती है। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंद अन्याय व असत्य की विजय नहीं दिखाते। यथार्थ में ऐसे लोग भले ही गुलछरें उड़ाते हों; किन्तु प्रस्तुत कहानी इतना विश्वास उत्पन्न करती है कि एक-न-एक दिन ऐसे लोग अपने किये का कुफल भोगेंगे। आकस्मिक रूप से, ईश्वरीय न्याय के इक्के-दुक्के उदाहरण मिलते भी हैं; पर इससे संतोष कर बैठा नहीं जा सकता। गरीबों को न्याय सुलभ कराने के प्रयत्न आज किये जा रहे हैं। मुंशी रामसेवक भी अपने हड़प-कर्म में सफल नहीं हो पाते यदि पंचायत गंभीरतापूर्वक प्रकरण पर गौर करती। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में समाज और व्यक्ति के हितों पर बराबर ध्यान दिया है। 'गरीब की हाथ' भी एक ऐसी ही कहानी है।

(61) गिला

गिला अर्थात् उलाहना / किसी के बरताव की शिकायत। प्रस्तुत कहानी में यह शिकायत है पत्नी को पति से। 'गिला' घरेलू जीवन की कहानी है। प्रमुख पात्र पत्नी है। परिवार में दो बच्चे और दो बच्चियाँ हैं। एक नौकर (घूरे) है। पर, पूर्ण कहानी पत्नी ही कहती है। उसकी पति से शिकायत है कि वे अपने घर-परिवार की ओर, अपनी पत्नी-बच्चों की ओर ध्यान नहीं देते; सामाजिक सेवा के पीछे दीवाने हैं। घर उपेक्षित रहता है। बाहर वालों के लिए मरते हैं। सारी उदारता बाहर वालों के लिए सुरक्षित है। पत्नी की दृष्टि में पति भोंदू है। अव्यावहारिक है। 'यश के लोभ ने जैसे बुद्धि हर ली है।' पत्नी की दृष्टि में पति का विनीत व परोपकार भाव उनकी जड़ता और निरीहता का प्रतीक है।

पति से पत्नी को जो शिकायतें हैं; वे कुछ निम्नलिखित हैं :

वे पत्नी के प्रति प्रेम का व दायित्व का निर्वाह नहीं करते। अरसिक हैं। पत्नी के प्रति उदासीन रहते हैं।

नौकरी करने में भी असफल हैं। किसी अफसर से मेल-जोल नहीं। अफसरों को सलाम करना नीति-विरुद्ध मानते हैं। दफ्तर में 'घिस्सू'-'पिस्सू' समझे जाते हैं।

उनके मित्र भी घटिया और स्वार्थी हैं। एक-न-एक मेहमान रोज़ यमराज की भाँति सिर पर सवार रहता है। दरिद्र भट्टाचार्यों से इनकी पटती है। मँगतों को घर का सामान दे डालते हैं। दानशील इतने कि जाड़ों में मेहतर को अपना कोट दे डाला; स्वयं सर्दी में ठिठुरते रहे।

नौकर के प्रति इतने उदार हैं कि उसके काम स्वयं कर डालते हैं। कुटुम्ब में कई भाई-भतीजे हैं; एक भाई तहसीलदार हैं। लेकिन वे कभी इनकी बात-तक नहीं पूछते। स्वयं कुटुम्ब-सेवा का दावा करते हैं। बच्चों की भी उपेक्षा करते हैं। बच्चे बे-नकेल ऊँट बने हुए हैं। उनका मत है 'शासन बालकों के मानसिक विकास में बाधक होता है।'

कन्या-विवाह में बाधाएँ आती हैं; क्योंकि आपने दहेज़ न देने का निश्चय कर रखा है। अनेक विवाह-प्रथाओं के विरोधी हैं। कन्या-दान के विरोधी हैं।

पत्नी की दृष्टि में उनके इस सेवा-भाव के पीछे, यश-लोभ और व्यावहारिक अज्ञानता है। वे घर और समाज में मिस-फिट हैं। इन समस्त शिकायतों का बड़ा रोचक वर्णन पत्नी के माध्यम से प्रेमचंद करते हैं। इस सबके बावजूद, पति-पत्नी में प्रगाढ़ प्रेम है। इसके लिए उनका लम्बा साथ उत्तरदायी है। प्रकृति ने कुछ ऐसी क्षमताएँ-व्यवस्थाएँ उत्पन्न करदी हैं कि परिवार की गाड़ी सुचारु ढंग से चल रही है।

वस्तुतः प्रस्तुत कहानी पति का गौरव-गान है। शिकायत और आलोचना द्वारा पत्नी एक प्रकार से, अनजान में, अपने पति की महानता का ही बखान करती है। उसका पति मानवीय मूल्यों का धनी है; भले ही वर्तमान समाज में वह भोंदू समझा जाए। एक पात्र की विशेषताओं को अभिनव कलात्मक ढंग से उजागर करने में प्रेमचंद ने पूर्ण सफलता हासिल की है। पति की मानसिक बनावट का अंकन ही कहानी का प्रमुख प्रतिपाद्य है। सर्वत्र आलोचना के व्याज प्रशंसा है। तभी पत्नी अंत में कहती है 'शायद, आज मैं इनके दोषों को गुणों से बदलने

पर भी तैयार न हूंगी।’

(62) गुप्त-धन

‘गुप्त-धन’ में दो परिवार हैं एक बाबू हरिदास व उसके बेटे प्रभुदास का; जिनका ईंटों का पजावा है; दूसरा एक वृद्धा व उसके बेटे ठाकुर मगनसिंह का। मगनसिंह अभी छोटा है। दीन, शरीर कृश, दुर्बल। न चंचलता, न शरारत, न खिलाड़ीपन। ओठों पर कभी हँसी नहीं। उसकी वृद्धा माता पर घर का सारा भार है। वृद्धा किसी पुराने रोग से ग्रस्त है। किसी समय यह कुल सम्पन्न था। शककर का कारखाना था। भाइयों की स्पृहा व द्वेष के कारण सब समाप्त हो गया।

मगनसिंह बाबू हरिदास के पजावे पर कौड़ियाँ बाँटने का काम करता है। उसकी कर्तव्यशीलता से प्रसन्न होकर हरिदास ने उसे मजूर से नौकर की श्रेणी प्रदान की। काम पर पहुँचने में न देर करता; न नागा। एक मुंशी ने उसे पढ़ना-लिखना सिखाया। मगनसिंह बाबू हरिदास का विश्वास-पात्र था। मगनसिंह ने बाबू हरिदास को बताया कि यह मात्र प्रचार है कि मेरे घर में रुपये गड़े हैं। यदि ऐसा होता तो अम्मा इतना कष्ट क्यों उठातीं। अचानक मगनसिंह की माँ बीमार पड़ जाती है। मगनसिंह तीन दिन गैरहाज़िर रहता है। बाबू हरिदास मगन के घर हालचाल जानने पहुँचते हैं। पुरखों-वंशधरों की धाती और बीजक की जानकारी देते हुए, वृद्धा उनसे कहती है ‘खुदवा कर मगन को दे दीजिए। आपके सिवा मुझे किसी पर विश्वास नहीं था। संसार से धर्म उठ गया। किसकी नीयत पर भरोसा किया जाय।’ वृद्धा की मृत्यु हो जाती है।

बाबू हरिदास मंदिर के चबूतरे के नीचे से धन निकालने के लिए गुपचुप स्वयं खुदाई शुरू कर देते हैं। तृष्णा के कारण उनकी नीयत बदल गयी। वृद्धा से विश्वासघात करते हैं। उन्हें ईश्वरीय दंड मिलता है मृत्यु हो जाती है। उनके मरने के बाद उनके पुत्र प्रभुदास ने वह स्थान बारूद से खुदवाया। संदूक में दस-हज़ार पुरानी मोहरें निकलीं। प्रभुदास को भी ईश्वरीय दंड मिला। ज्वर आया और मृत्यु हो गयी। मृत्यु-पूर्व उसने मगन के कान में कुछ कहा संदूक की ओर इशारा किया।

इस प्रकार, ‘गुप्त-धन’ ईश्वरीय न्याय पर आधारित कहानी है। धन देखकर मनुष्य की नीयत बिगड़ जाती है। वह अधर्म करने पर उतारू हो जाता है।

है; उतना ही अविश्वसनीय ईश्वरीय दंड ! ऐसी कहानियाँ, वर्तमान युग में भी यह छाप तो छोड़ती हैं कि अधर्म का फल अच्छा नहीं होता; लेकिन न पहले, न अब मनुष्य अपने लोभ-भाव को छोड़ता नहीं देखता। माना कि सभी व्यक्ति ऐसे नहीं होते। कुछ चरित्रवान भी होते हैं। अधर्म कर्म करने के बाद मनुष्य की मानसिकता में फर्क आता ज़रूर है। वह किसी अनहोनी से संतुष्ट भी रहने लगता है; भले ही प्रकट रूप में वह अपनी इस मनोदशा का आभास न दे। प्रेमचंद मानव मनोविज्ञान के ज्ञाता थे। माना कि प्रस्तुत प्रसंग में किसी सूक्ष्म व गहन मनोवैज्ञानिक चिन्तन के लिए अवकाश नहीं। लेकिन यथार्थ के नाम पर प्रेमचंद अधर्म की विजय नहीं बता सकते थे। उन्हें सामाजिक स्वास्थ्य का सदैव ध्यान रहता था। बाबू हरिदास और प्रभुदास के आचरण में उन्होंने किसी आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं की। उनका व्यवहार मानवीय दुर्बलता का द्योतक होते हुए भी; स्वाभाविकता लिए हुए है।

(63) गुरु-मंत्र

‘गुरु-मंत्र’ लघुकथा है। विनोदपूर्ण; किन्तु सोद्देश्य। इसमें गौंजा-भाँग पीने वाले निठल्ले छद्म साधुओं का खाका खींचा गया है। कथा में दो पात्र हैं। पं. चिन्तामणि शास्त्री और उनके मित्र पं. मोटेराम शास्त्री। पं. चिन्तामणि को निमंत्रण मिलने लगभग बंद हो गये हैं। घर में कलह अलग मची रहती है। अतः उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। साधु बनकर निकल जाना चाहते हैं। उनके मित्र पं. मोटेराम शास्त्री उन्हें कड़क कर हाँक लगाने का गुरु-मंत्र सिखाते हैं। साधु का सारा आदर-सत्कार उसकी प्रभावशाली हाँक पर ही निर्भर है। नमूने के तौर पर वह कुछ हाँकें प्रस्तुत करता है :

गुदड़ी बाबा की हाँक : ‘मरें तो पाँचों मरें।’

सिद्ध भगत की हाँकें : ‘खाओ, पीओ, चैन करो।’ ‘पहनो गहना, पर बाबाजी के सोटे से डरते रहना।’

नंगा बाबा की हाँक : ‘दे तो दे, नहीं दिला दे, खिला दे, पिला दे, सुला दे।’

ये हाँकें बता कर ; फिर साधुओं की भाषा का ज्ञान पं. चिन्तामणि को देता है। तू, माई, बाबा शब्दों का उचित व्यवहार सिखाता है। पं. चिन्तामणि शास्त्री ने भी अपनी मौलिक हाँक लगायी ‘न देगा तो चढ़ बैटूंगा।’ इस प्रकार,

साधु-विद्या में दीक्षित व पारंगत हो जाने के बाद, वे साधुओं का सत्संग करने गौंजे-भाँग की एक दूकान पर पहुँचे। वहाँ के साधुओं की हाँकें सुनीं

एक महात्मा की :

‘चल-चल, जल्दी लेके चल, नहीं तो अभी करता हूँ बेकल।’

दूसरे साधु की :

‘अ-रा-रा-रा-धम, आय पहुँचे हम, अब क्या है ग़म।’

तीसरे महात्मा की :

देस बंगाला, जिसको देखा न भाला, चटपट भर दे प्याला।’

इन हाँकों को सुन कर चिन्तामणि ने भी हाँक लगायी :

‘न देगा तो चढ़ बैठूंगा।’

साधु चिन्तामणि की हाँक सुन कर उपस्थित साधुओं ने उसका आदर किया। उसे गौंजे की चिलम सुलगाने का भार सौंपा गया। पं. चिन्तामणि ने गौंजा कभी पिया नहीं था। दम नहीं लगा सके। साधुता के कच्चेपन की पोल खुल गयी। इस पर उपस्थित साधुओं ने उसे धिक्कारा ‘साधु बना है, मूर्ख !’ और ज़ाहिर है, उसे अपनी बिरादरी से खारिज कर दिया।

आदि से अंत तक हास्य-विनोद से भरपूर यह लघुकथा निकृष्ट और धूर्त साधुओं पर तीखा व्यंग्य करती है। साधु के चोले में, भोली अंधविश्वासी जनता को; विशेष रूप से गौंजों की जनता को, ठगने का काम ऐसे छद्म साधु करते प्रायः देखे जाते हैं। साधु के बाने को अपनी आजीविका और ऐश का साधन ऐसे लोगों ने बना रखा है। धर्म-प्राण लोगों में सच्ची धार्मिक जागरूकता का पनपना बेहद ज़रूरी है; जिससे वह साधुओं और ठगों में अन्तर कर सकें। इसके लिए, अशिक्षित और अंधविश्वासी लोगों को अपनी मानसिकता में बुनियादी परिवर्तन लाना होगा। समाज-सुधार की दिशा में ऐसी कलात्मक कथा लिखकर प्रेमचंद युगधर्म का निर्वाह ही करते दिखायी देते हैं।

(64) गुल्ली-डंडा

‘गुल्ली-डंडा’ प्रेमचंद की उत्कृष्ट कहानियों में है। कहानी का शीर्षक गुल्ली-डंडा ज़रूर है, कहानी में गुल्ली-डंडे का खेल दो-दो बार खेला भी जाता है; लेकिन कहानी का संबंध सामाजिक और पदेन मर्यादाओं से अधिक है। तथाकथित

निम्न-जाति (चमार जाति) के एक पात्र में उच्च-कोटि की मानवता के दर्शन प्रस्तुत कहानी में होते हैं। गया चमार का व्यक्तित्व पाठकों को अभिभूत कर लेता है। मानवीय संवेदना को जाग्रत करने वाली ऐसी कलात्मक रचनाएँ बहुत कम देखने में आती हैं। प्रेमचंद ने बड़े सधे हुए हाथों से इस कहानी को आकार दिया है।

कहानी उत्तम-पुरुष (मैं) में लिखी गयी है। कहानी में मात्र दो पात्र हैं। कहानी का प्रवक्ता पात्र 'मैं' और उसका एक हमजोली कालादेव गया नामक चमार। 'मैं' थानेदार का पुत्र है। कहानी का परिवेश गाँव का है। बचपन में दोनों गुल्ली-डंडा खेलते हैं। गया को इस खेल में महारथ हासिल है। वह जम कर जीतता है। थानेदार के पुत्र को खूब पदाता भी है। उसे बीच में खेल छोड़ कर जाने नहीं देता। कड़ी गाली देता है। चाँटें जमाता है। डण्डा भी। दो बालकों का बड़ा जीवन्त खेल प्रेमचंद यहाँ चित्रित करते हैं।

थानेदार का पुत्र इंजीनियरी पास करता है। ऊँचा अफ़सर बनता है। साहबी ठाठ है। रोब है। अधिकार हैं। बीस वर्ष बाद अपने गाँव आता है। गया डिप्टी साहब का साईस है इन दिनों। इतने अंतराल के बाद, एक एकांत स्थान में, दोनों गुल्ली-डंडा खेलकर अपनी पुरानी यादें ताज़ा करते हैं। लेकिन दोनों में आज अन्तर है। 'एक ठहरा टके का मज़दूर; एक बड़ा अफ़सर।' स्वाभाविक है, गया को खेलने में झिझक और हिचकिचाहट महसूस होती है। इंजीनियर-अफ़सर खेल में बेक़ायदगियाँ करता है। पर, यह सब देखकर गया प्रतिवाद नहीं करता। अजेय खिलाड़ी गया आज हार जाता है।

इंजीनियर-अफ़सर को अपनी जीत की खुशी नहीं होती; क्योंकि वह जानता है, 'गया उसके साथ खेला नहीं; केवल खेलने का बहाना किया। उसने मुझे दया का पात्र समझा। मात्र मेरा मन रखने के लिए वह हार गया। अफ़सरी मेरे और उसके बीच में दीवार बन गयी है। उसके व्यवहार में अब लिहाज़ और अदब है साहचर्य नहीं। वह बड़ा हो गया है; मैं छोटा हो गया हूँ।' इसका प्रमाण उसे तब और मिलता है जब अगले दिन पुराने खिलाड़ियों के मैच में गया असाधारण रूप से उत्कृष्ट खेल का प्रदर्शन करता है। लड़कपन में जो बात थी, आज उसने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। समकक्षता में भेद नहीं पाया जाता; जबकि पदेन रिश्ते अन्तर पैदा कर देते हैं। बचपन के दो हमजोलियों के बीच संबंधों में बड़प्पन का प्रदर्शन गया करता है; जो पद-धन के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है, पर मानवता के क्षेत्र में उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है। उसका आचरण पाठकों को

द्रवित कर देता है। प्रेमचंद गया की सृष्टि करके जीवन-वास्तविकता ही प्रस्तुत नहीं करते; वरन् मार्मिक क्षणों को जाग्रत कर मानवीय संवेदना को झकझोरते भी हैं। गुल्ली-डंडे के एक साधारण से खेल के माध्यम से जीवन-तथ्यों को साकार कर देना प्रेमचंद की कला का अद्वितीय उदाहरण है।

(65) गैरत की कटार

‘गैरत की कटार’ एक हसीन नाजुक औरत नईमा की कहानी है। एक ऐसी औरत जिसके लिए जीवन का उद्देश्य मात्र भोग-विलास है। जो वैभव और ऐश्वर्य की पुजारिन है। उसकी जिन्दगी में दो मर्द आते हैं। एक हैदर; दूसरा सूबेदार नासिर। एक समय वह हैदर की माशूका थी; फिर नासिर की मुहब्बत की गोद में चली जाती है। हैदर नईमा के खून का प्यासा हो जाता है। नासिर एक हफ्ते के लिए किसी मोर्चे पर जाता है। मौका पाकर हैदर बदला लेने, नंगी तलवार लिए नईमा के सोने के कमरे जा पहुँचता है। पर, उसके हाथ नहीं उठ सके। आत्म-आलोचन करते समय उसे दोष अपना ही दीखता है। उसने अनुभव किया कि उसी के जुल्मों ने मुहब्बत और वफा की जड़ काटी। नईमा जाग उठती है। तुरन्त स्थिति को ताड़ लेती है। वह कौशल से काम लेती है। हैदर से छल-फरेब करती है। प्रेम का अभिनय करती है। अपनी अंतिम इच्छा प्रकट करती है कि हैदर एक बार फिर उसे अपनी मुहब्बत की बाँहों में ले ले। और शराब पिला कर बेसुध कर देती है। हाथ-पैर बाँध देती है। दगा का बदला लेती है। नईमा हैदर के आचरण का विश्लेषण करती हुई कहती है कि उसकी दुर्गति के लिए वह ही जिम्मेदार है। उसने उसे बीवी नहीं; माशूका बना कर रखा।

फर्ज़ का सबक नहीं पढ़ाया। वह यह भी बताती है कि नासिर मात्र उसके हुस्न और अदा का बंदा है। उसके दिल में उसके प्रति इज़्ज़त नहीं हैं। उसने अस्मत खोकर अस्मत की कद्र जानी है। प्रेम खोकर प्रेम का मूल्य पहचाना है। अंत में, नईमा हैदर की निंदा करती है। कहती है, तुम्हारी नासिर से होड़ थी। उसके मुक़बिले तलवार के जौहर दिखाने थे। पर, तुमने बेकस औरत पर दगा का वार करना चाहा। तुम गैरत की मौत भी पाने के हक़दार नहीं। बेवकूफ़। तुमने ‘इज़्ज़त के साथ गैरत भी खो दी।’ लेकिन नईमा हैदर के जीवन का अंत नहीं

करती। नासिर के क्रोध से बचाने के उद्देश्य से उसे भगा देती है। उसे अपने किये का कोई पछतावा नहीं।

प्रस्तुत कहानी किसी उच्चतर उद्देश्य को लेकर नहीं लिखी गयी है। प्रमुख रूप से 'गैरत की कटार' नईमा की ही कहानी है। पर, नईमा जैसी औरतों की समाज में क्या भूमिका हो सकती है? व्यक्तिगत जीवन और प्रेम-लोक में ऐसी औरतों का क्या योगदान? गैरत (आन, हया, मर्यादा, प्रतिष्ठा) का हैदर और नईमा जैसे पात्रों से क्या वास्ता? प्रेम का वहाँ कोई अर्थ नहीं; जहाँ मात्र वासना-पूर्ति जीवन का लक्ष्य हो। लगता है, प्रेमचंद ने प्रस्तुत कहानी का सृजन मात्र कहानी लिखने-कहने के निमित्त किया है। कहानी के कथानक में पाठकों का मन रमता है; मात्र इतनी ही सार्थकता इस कहानी की है।

(66) गृह-दाह

'गृह-दाह' सौतेली माँ की कहानी है; जो सौत-बेटे को सहन नहीं कर पाती। लाला देवप्रकाश ने, पहली पत्नी निर्मला की गंगा-जल-क्रीड़ा में मृत्यु हो जाने के बाद; देवप्रिया से दूसरी शादी की। उनका पुत्र सत्यप्रकाश नयी माँ-आगमन से प्रसन्न था; किन्तु उसके बाल-स्वप्न भंग हो गये। विमाता की आँखों में वह खटकता था। पिता के व्यवहार में भी परिवर्तन आ जाने से; उसे प्रेम करने वाला घर में कोई नहीं बचा। विद्यालय से उसका नाम भी कटवा दिया गया। अनुज ज्ञानप्रकाश से उसने कभी ईर्ष्या नहीं की। विमाता से त्रस्त सत्यप्रकाश सोलह वर्ष की आयु में नौकरी करने कलकत्ते प्रस्थान करता है। वहाँ डाकघर में अपढ़ों के पत्रादि लिखने का काम करता है; फिर एक छोटी-सी दूकान खोल लेता है। कलकत्ते में रहते उसने घर का पूरा ध्यान रखा। बड़ी कठिनाई से धन-संचय कर, ज्ञानप्रकाश को उपहार में घड़ी भेजी। ज्ञानप्रकाश के विवाह की चर्चा पर अपनी जमा धनराशि पाँच-सौ रुपये नव-वधू के आभूषण-हेतु भेजे। लेकिन देवप्रिया उसके अनुज-प्रेम से तनिक भी द्रवित नहीं हुई। उसके प्रेम को स्वाँग बताती। इधर सत्रह वर्षीय ज्ञानू पहले अग्रज के विवाह पर अड़ गया। वह माता-पिता के अग्रज के प्रति अन्याय से सजग था। भाई उसकी दृष्टि में देवपुरुष था। तीन वर्ष बाद उसने 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त की और एक विद्यालय में अध्यापक हो गया। सत्य से मिलने कलकत्ता गया। माँ के निधन (विष से आत्महत्या) और पिता के

अस्पताल में भर्ती होने की सूचना देता है। घर के चौपट हो जाने पर सत्यप्रकाश बहुत दुखी होता है। दोनों भाई प्रातःकाल घर के लिए चल पड़ते हैं।

‘सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है?’ प्रस्तुत कहानी का प्रतिपाद्य है। प्रेमचंद लिखते हैं ‘मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है।’ ज्ञानप्रकाश अनुभव करता है कि हमारा पारिवारिक जीवन सम्पूर्णतः अन्यायमय है। कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। माया में फँस कर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। ज्ञानप्रकाश को गार्हस्थ्य जीवन से घृणा हो जाती है। विमाता देवप्रिया में अधिक कठोरता का समावेश करके ही प्रेमचंद अपने प्रतिपाद्य को जानदार बनाते हैं। पति अक्सर दूसरी पत्नी के इशारों पर नाचने लगता है। पहली पत्नी की संतान के प्रति वह तटस्थ नहीं रह पाता। मूल समस्या विमाता को संतुलित करने की है। गृह-दाह उसी के कारण होता है। पति यदि विमाता के मनोविज्ञान को ठीक-ठीक समझे और तदनुसार आचरण करे तो विमाता के हृदय में शायद सौत-संतान के प्रति कटुता न पनपे। एक अनाथ बालक की मानसिकता प्रस्तुत कहानी में सविस्तर चित्रित है। ऐसे बालक समस्त प्रकार के सामाजिक-स्तर वाले परिवारों में होते हैं। अभिजात वर्गीय समाज में ऐसे बालकों को होस्टल में भेज दिया जाता है। प्रस्तुत मध्यवर्गीय परिवार की कहानी में ऐसा बालक स्वयं घर से चला जाता है। कम उम्र में ही प्रौढ़ता का परिचय देता है।

(67) गृह-नीति

‘गृह-नीति’ सास-बहू के रिश्तों की कहानी है। त्रिकोण हैं सास, बेटा और बहू। यह समस्या घर-घर की समस्या है। यदि सास विधवा है और उसके मात्र एक ही बेटा है तो पारिवारिक विघटन भी सम्भव नहीं। सास-बहू के झगड़ों-विवादों के कारण पारिवारिक क्लेश प्रायः देखने में आते हैं। इन झगड़ों की जड़ में कौन-से मनोवैज्ञानिक कारण हैं? बेटा किसका साथ दे माँ का कि पत्नी का? जाहिर है, जब-तक तीनों में समझ उत्पन्न नहीं होती घर में शांति स्थापित नहीं हो सकती। फिर भी, इसमें दो मत नहीं; महत्त्वपूर्ण भूमिका बेटे को ही निभानी पड़ेगी।

माँ भी कभी बहू होती है। उसने जिस प्रकार अपनी सास की सेवा की;

लगभग वैसी ही सेवा की अपेक्षा माँ अपनी बहू से करती है। पर, हर बहू की मानसिकता एक-सी नहीं होती। हर बहू की अपनी शिक्षा-दीक्षा होती है। अपने पारिवारिक संस्कार होते हैं। मायके की आर्थिक स्थिति होती है। नये परिवेश में अपने को समायोजित करने में बहू के लिए कठिनाइयों का सामना करना स्वाभाविक है। बदलते हुए ज़माने की रफ़्तार की अनदेखी करने से भी संतुलन बिगड़ता है। आज की बहू और पुराने ज़माने की बहू में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। आज की सासें भी पहले जैसी नहीं। अतः सास-बहू के संबंध परस्पर विवेक और सद्भाव पर ही कायम रह सकते हैं। सहनशीलता किसी एक पक्ष के लिए नहीं।

प्रस्तुत कहानी में बहू / बेटे के प्रति सास / माँ के विचार द्रष्टव्य हैं :
बहू के प्रति सलीका-तमीज़ नहीं। बे-अदब। कमाऊ पति का दर्प। कभी बात नहीं पूछती। निर्लज्ज, बदज़बान, टर्री, फूहड़ छोकरी। गधी। घमण्डी। कुलच्छनी। पहर दिन चढ़े सोकर उठती है। रानी बन कर आयी है।
बेटे के प्रति जोरू का गुलाम। बेटे की शह पर दिमाग़ चढ़ा। कौन-सी जड़ी सुँघा दी। पत्नी का पक्ष लेते हो। बूढ़ी सास खाना पकाए; जवान बहू उपन्यास पढ़ती रहे।

बहू अपने को लौंडी नहीं; जीवन-सांगिनी की अधिकारिणी समझती है। अपनी तुलना दामाद से करती है; जबकि दामाद तो चंद दिनों के लिए ही अपनी ससुराल जाता है। दोनों की पारिवारिक स्थिति में बुनियादी अन्तर है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चिन्तन बेटे / पति का है
सास यदि बहू को लड़की की तरह प्यार करे। पुराने ज़माने की रस्मों का अब लोप। पति-पत्नी अब दोनों बराबर। माताएँ अपने लड़कों के ऐबों पर पर्दा डालती हैं; पर उनका हृदय बहुओं के प्रति क्यों कठोर? बहू का तिरस्कार-अपमान न किया जाए। बहुओं को घुड़कियाँ, गालियाँ, कटुता ही; स्नेह और प्यार नहीं। पत्नी की बात पति सुनेगा ही।

प्रस्तुत कहानी में एक विशेष पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। कन्या और वर दोनों का आर्थिक स्तर समान होना ज़रूरी है। कन्या अपने घर से यदि कम काम करती हुई आती है और उसका पति उसके पिता की तुलना में आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर है तो वह पति-गृह में अपनी सास की बराबर काम नहीं कर पाती। यहीं असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। 'जिस जलवायु में हम पलते हैं; उसे

एकबारगी नहीं बदल सकते।' लेकिन वर पक्षवाले अपनी असली आर्थिक हालत छिपाते हैं और अपने से अधिक समृद्ध घर की कन्या से (धन की अपेक्षा से) विवाह करना पसंद करते हैं।

निःसंदेह, सास-बहू के संबंधों का मनोवैज्ञानिक पहलू सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। बहू यदि अपनी सहज बुद्धि से काम ले तो सास पर शासन करना उसके लिए कठिन नहीं।

प्रस्तुत कहानी में, पति छद्म प्रदर्शन द्वारा पत्नी में परिवर्तन लाता है। वह पत्नी को बताता है कि उसकी माँ उसकी (अपनी बहू की) कैसी-कैसी और कितनी-कितनी प्रशंसा कर रही थीं। अपने बारे में अच्छा-अच्छा सुनकर पत्नी द्रवित होती है और क्रमशः बदलने लगती है। वह स्वेच्छा से ठेठ बहू बनने का विचार व्यक्त करती है। पति का असत्य-कथन परिवार के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है।

प्रेमचंद ने पारिवारिक जीवन के अनेक पक्षों पर सार्थक कहानियाँ लिखी हैं। पारिवारिक यथार्थ उनकी इन कहानियों में सजीव हो उठा है। उनके विचार संतुलित और सामयिक हैं। पारिवारिक-सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रेमचंद के कहानी-लेखन की उपादेयता सिद्ध है।

(68) घमण्ड का पुतला

जैसा कि कहानी के शीर्षक से बोध होता है, 'घमंड का पुतला' एक घमंडी व्यक्ति के चरित्रांकन से संबंध रखती होगी। लेकिन, वस्तुतः यह पात्र घमंडी नहीं; स्वाभिमानी है। लोग स्वाभिमानी व्यक्ति को प्रायः घमंडी समझ लेते हैं। प्रयोग में 'घमंड' और 'गर्व' शब्दों में किंचित अंतर है। घमंडी व्यक्ति में दर्प होता है; वह शेखीबाज़ होता है। अपने को औरों से श्रेष्ठ समझने का उसका भाव थोथा होता है। जो उसे अहंकारी और उच्छृंखल बनाता है। लेकिन, चलन में 'गर्व' शब्द हेय नहीं; सम्मानित शब्द है। हमें अपने देश पर गर्व होना चाहिए। जब हम अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हैं; अपने सिद्धांतों और आदर्शों का निर्वाह करते हैं तो हमारे हृदय में एक संचारी भाव सहज ही उत्पन्न होता है जो 'गर्व' है। यह भाव हमारे इरादों को मज़बूत बनाता है। हम क्षति सह लेते हैं; किसी से सहायता की याचना नहीं करते। यह गुण स्वाभिमानी और स्व-सिद्धांत प्रेमी व्यक्तियों में ही

मिलता है; जो कृत्रिम नहीं होता। माना, हमें हर प्रकार के गर्व-भाव से मुक्त रहना चाहिए। ऐसा होने पर, व्यक्ति महानता का स्पर्श करने लगता है। वह इस प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले आन्तरिक गर्व-भाव का अनुभव कर प्रसन व संतुष्ट होना नहीं चाहता; उसका प्रकटीकरण करना नहीं चाहता उसे 'मनुष्यता' समझकर शिरोधार्य करता है।

'घमंड का पुतला' कहानी में, ऐसा पात्र ज़मींदार कुँअर सज्जन सिंह है। वस्तुतः 'घमंड का पुतला' मात्र एक पात्र कुँअर सज्जन सिंह की कहानी है। वह मात्र उसके स्वाभिमानी व्यक्तित्व को उजागर करने के निमित्त रचित है। उसका संबंध किसी 'ज़मींदार' के चरित्रांकन से नहीं। यह मात्र आकस्मिक है कि कुँअर सज्जन सिंह 'ज़मींदार' हैं।

'घमंड का पुतला' में प्रमुख पात्र मात्र दो हैं मिस्टर वागले (मजिस्ट्रेट) और सज्जन सिंह (ज़मींदार)। मिस्टर वागले का अर्दली 'फुटबॉल' नामक एक पात्र और है; लेकिन कहानी में उसकी उपस्थिति नगण्य है।

मजिस्ट्रेट मिस्टर वागले गाँव में लश्कर के साथ दौरा करते हैं। स्थानीय औरों की तरह ज़मींदार सज्जन सिंह उनकी आवभगत नहीं करता। मजिस्ट्रेट के अमले के लिए रसद का प्रबंध नहीं करता। उसका स्पष्ट कथन है, “ **किसी का नौकर नहीं हूँ।**” लश्कर वाले उसे ढीठ, घमंडी और हेकड़ कहते। सज्जनसिंह लम्बा-तड़ंगा व्यक्ति है। गले में रुद्राक्ष माला पहनता है। चेहरे पर रौब-दाब झलकता है। खानदानी रईस है। समझदार है; दूरदर्शी है। लेकिन अशिष्ट नहीं। मजिस्ट्रेट से जब उसकी संक्षिप्त भेंट होती है; तब वह अपने शिष्टाचार-प्रदर्शन में कमी नहीं आने देता। उन्हें गद्दी की सैर कराता है। उनके इस व्यवहार से मजिस्ट्रेट उनका भक्त बन जाता है, और उन्हें दिलचस्प आदमी कहता है।

ज़मींदार सज्जन सिंह का चरित्र और गौरव, सरयू में आयी बाढ़ के दिनों में, लोगों के सामने प्रकट होता है। बाढ़ के कारण व्यापक तबाही होती है। सरकारी सहायता पहुँचायी जाती है। लेकिन सज्जन सिंह ने कमीशन को अपना नुकसान दर्ज नहीं कराया। उन्होंने खुशामद करना सीखा ही न था। अपने असामियों की लगान स्वयं माफ़ करता है। ऐसी आन अन्यत्र दुर्लभ है।

कथा में, एक प्रसंग राष्ट्रकवि शंकर का, अयोध्या में, जनता द्वारा आयोजित बधाई-समारोह का है। एड्रेस पढ़ने का काम मजिस्ट्रेट मि. वागले को सौंपा गया था; जिसमें राष्ट्रकवि शंकर को 'आध्यात्मिक गुरु' संबोधित किया गया

था। संबोधन के इन शब्दों को सुनकर कुँअर सज्जन सिंह सभा से बहिर्गमन कर जाते हैं। उनकी इस अशिष्टता के संबंध में मि. वागले ने जब उनसे पूछा तो उनका उत्तर था, “ मैं शंकर की कविता का प्रेमी हूँ, शंकर की इज्जत करता हूँ, शंकर पर गर्व करता हूँ, शंकर को अपने और अपनी कौम के ऊपर एहसान करने वाला समझता हूँ, मगर उसके साथ ही उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरु मानने या उनके चरणों में सिर झुकाने के लिए तैयार नहीं हूँ।” स्पष्ट है, उनके इस आचरण में भी ‘घमंड’ का भाव समझना युक्तियुक्त नहीं।

कुँअर सज्जन सिंह उत्कृष्ट चरित्र के सम्मुख सिर झुकाते हैं ऊँचे मनसबदार, प्रतापी राजा, देशप्रेमी-दार्शनिक कवि के आगे नहीं। कथा में, उन्हें एक साधु के पदों पर सिर झुकाते बताया गया है। ‘वैराग्य’ के सामने कुँअर सज्जन सिंह का नत-मस्तक होना; उनके गर्व का प्रमाण है। “सच्चा गर्व सच्ची प्रार्थना से कम नहीं।”

मजिस्ट्रेट मि. वागले का निष्कर्ष द्रष्टव्य है “ मैं आज तक तुम्हारी (तथाकथित घमंड के पुतले ज़मींदार कुँअर सज्जन सिंह की) आत्मा के बड़प्पन से बिलकुल बेख़बर था। आज तुमने मेरे हृदय पर उसको अंकित कर दिया कि वैभव और प्रताप, कमाल और शोहरत यह सब घटिया चीज़ें हैं। वासनाओं में लिपटे हुए लोग इस योग्य नहीं कि हम उनके सामने भक्ति से सिर झुकायें, वैराग्य और परमात्मा से दिल लगाना ही वे महान् गुण हैं जिनकी इयोढ़ी पर बड़े-बड़े वैभवशाली और प्रतापी लोगों के सिर झुक जाते हैं।”

कथा के महत्त्वपूर्ण पात्रों में मजिस्ट्रेट मि. वागले की भूमिका स्पष्ट है। वे ही कथा के ‘प्रवक्ता-पात्र’ हैं। मि. वागले विवेकशील व्यक्ति हैं। वे अपने पद का दुरुपयोग नहीं करते। अपने अर्दली को नक़द दाम देकर चीज़ें खरीदने का आदेश देता है। उन्हें ख़्याल आता है, “ इन मुफ़्तख़ोरे चपरासियों के कहने पर एक प्रतिष्ठित आदमी को अपमानित करना न्याय नहीं है।”

‘घमंड का पुतला’ के दोनों प्रमुख पात्र विशिष्ट हैं। एक ज़मींदार है; दूसरा मजिस्ट्रेट। दोनों की मानसिकता भी विशिष्ट है सामान्य नहीं। वह उनके कर्मों के अनुसार नहीं। दोनों में मनुष्यता सर्वोपरि है। इन आदर्श पात्रों का सृजन करके प्रेमचंद ने कोई काल्पनिक पात्रों का सृजन नहीं किया है। दोनों के आचरण व व्यवहार में अस्वाभाविकता नहीं। समाज में ऐसे व्यक्ति मिलना दुर्लभ अवश्य हैं;

पर असम्भव नहीं। लगता है, दोनों पात्रों में स्वयं प्रेमचंद की आत्मा प्रविष्ट हुई है। प्रेमचंद ही ज़मींदार और मजिस्ट्रेट बन कर कथा में अवतरित हैं।

(69) घर-जमाई

घर-जँवाई अर्थात् वह दामाद जिसे सास-ससुर अपने घर रख लें। प्रस्तुत कहानी का घर-जमाई पात्र 25 वर्षीय हरिधन है। सास बूढ़ी है। उसकी पत्नी गुमानी की मनोवृत्तियाँ बालपन की-सी हैं। वह हरिधन के प्रति अनुरक्त दिखायी नहीं देती। मायके (पीहर) में ही रमी हुई है। सास के घर रहते हरिधन को दस वर्ष हो गये। अब उसे कोई खाने तक को नहीं पूछता; क्योंकि अब वह दरिद्र है। एक समय था, जब उसके पास हार थे; जायदाद थी। तब ससुराल में उसकी कद्र थी। हरिधन अपनी सौतेली माँ के कारण ससुराल चला आया था। पिता के निधन के बाद अपने हिस्से की जायदाद बेचकर रुपयों की थैली लेकर जब ससुराल लौटा तो उसका दूना आदर-सत्कार होने लगा। धीरे-धीरे उसकी यह धनराशि समाप्त हो गयी। और तभी से उसके बुरे दिन आ गये। हरिधन घर के तमाम काम-काज जी-तोड़ करता; किन्तु धन न कमाने के कारण ससुराल-पक्ष का कोई भी सदस्य उसका आदर नहीं करता। उसे अपमान और तिरस्कार सहना पड़ता। उसका बड़ा साला कहता, “ **पहुनाई में किसी के दिन कटे हैं।**”

आखिर, एक दिन उसका आत्माभिमान जाग्रत होता है। वह अपने गाँव वापस चला जाता है। अपने बचपन के सखा मँगरू से अपनी विमाता के बारे में उसे जानकारी मिलती है। मँगरू कहता है, “ **पहले तो तुम्हारा घर ही है। उसे सँभालो! छोटे-छोटे बच्चे हैं, उनको पालो। तुम नई अम्माँ से नाहक डरते थे। बड़ी सीधी है बेचारी। बस, अपनी माँ ही समझो। तुम्हें पाकर तो निहाल हो जाएगी।**”

हरिधन अपने घर में प्रवेश करता है। विधवा विमाता के सद्-व्यवहार से प्रभावित होता है। विमाता के रूप में मानो अपनी माता के दर्शन करता है। अब वह किसी का आश्रित नहीं। द्वार का भिक्षुक नहीं; घर का रक्षक है। दूसरे दिन ही, “ **फिर कंधे पर हल रखकर खेत को चल देता है।**”

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंद गाँव वालों की मानसिकता को प्रमुखता देते हैं। लेकिन घर-जमाई बनना किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को कभी गवारा नहीं हो

सकता। कथा का परिवेश ग्रामीण है। दोनों परिवार खेती करते हैं। वर और कन्या पक्ष वाले दोनों परिवारों की आर्थिक स्थिति विपन्न नहीं। लेकिन कमाई न करने वाले घर-जमाई को ससुराल वाले सहन नहीं कर पाते। वह उन्हें बोझ प्रतीत होता है। धन है तो आदर है। रिश्ते और संबंधों का कोई अर्थ नहीं; कोई मूल्य नहीं। पत्नी गुमानी तक अपने पति हरिधन को नहीं पूछती। कथा में गुमानी की भूमिका नगण्य है। कथा के अंत में, हरिधन अपनी विमाता को बताता है, “**तुमने सुना काकी, गुमानी ने घर कर लिया।**” गुमानी के इस आचरण का औचित्य लेखक ने नहीं बताया। लघु-विस्तारी रचना में इतना सब चित्रित करना सम्भव भी नहीं था। वस्तुतः घर-जमाई मात्र हरिधन की कथा है। गुमानी का घर कर लेना ग्रामीण समाज में अजूबा नहीं। हरिधन को भी अचरज नहीं होता। वह गुमानी जैसी पत्नी से सदा के लिए छुटकारा पाकर प्रसन्न ही होता है। कहता है, “**बहुत अच्छा हुआ। ला, महावीर जी को प्रसाद चढ़ा आऊँ। मैं तो डर रहा था, कहीं मेरे गले न आन पड़े। भगवान् ने मेरी सुन ली। मैं वहाँ से यही ठानकर चला था, अब उसका मुँह न देखूंगा।**” ग्रामीण परिवेश का चित्रण करने में प्रेमचंद का मन खूब रमता है।

(70) घासवाली

‘घासवाली’ एक तथाकथित नीची जाति चमार वालों की कथा है। प्रेमचंद दलित-वर्ग के सदा पक्षधर रहे। ‘घासवाली’ एक चमारिन (मुलिया) के व्यक्तित्व एवं सचरित्र पर लिखित रचना है।

मुलिया विवाहिता है। उसका पति महावीर इक्का चलाकर अपने तीन सदस्यों (स्वयं, माँ और पत्नी) के परिवार का गुज़ारा चलाता है। कुछ कमाई मुलिया भी करती है बाज़ार में घास बेचकर।

‘घासवाली’ भी ग्रामीण परिवेश की कहानी है। गाँवों में मज़दूर और ज़मींदार ही पाये जाते हैं। ‘घासवाली’ में भी ज़मींदार ठाकुर चैनसिंह है। सम्पूर्ण कहानी मुलिया और चैनसिंह के विचारों और कार्य-कलापों से सम्बद्ध है। ‘घासवाली’ में जहाँ ग्रामीण जीवन का यथार्थ वर्णित है; वहाँ मुलिया और चैनसिंह के माध्यम से उच्चस्तरीय मानवीय आदर्श भी। मुलिया और चैनसिंह की मानसिकता आदर्श भावना से प्रेरित व निर्मित है। चैनसिंह की मानसिकता मुलिया के सचरित्र से

बदलती है। प्रेमचंद के आदर्शवादी दृष्टिकोण को अव्यावहारिक बताया जा सकता है; पर अस्वाभाविक नहीं। मुलिया का सती-सावित्री जैसा व्यवहार और परिवर्तित चैनसिंह में ज़मींदारी क्रूरता का लोप दोनों अविश्वसनीय नहीं। विशुद्ध मानवीय धरातल पर मुलिया और चैनसिंह के संबंधों को रेखांकित किया गया है। वहाँ न मुलिया चमारिन है; न चैनसिंह ज़मींदार। दोनों पात्रों की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ अपेक्षित मानवता का प्रकाश विकीर्ण करती हैं।

मुलिया सुन्दर है अप्सरा-सी। ग़रीब चमारिन होते हुए भी चरित्रवान है; पतिव्रता है। घास काटने-बेचने जाती है। **“ नीची आँख किए अपनी राह चलती।”** पति के प्रति कपट नहीं करती। **“ विश्वास का बदला खोट से नहीं देती।”** मर्यादा का विचार उसे उत्कृष्ट बनाता है। मुलिया के मुख से जो विचार व्यक्त हुए हैं; वे वस्तुतः रचनाकार प्रेमचंद के विचार हैं। मानो मुलिया के अन्तःकरण में बैठ-पैठ कर स्वयं प्रेमचंद बोल रहे हैं। मुलिया उन्हीं की सृष्टि है। दलित वर्ग के प्रति अपार प्रेम और सहानुभूति का भाव प्रेमचंद में समाहित है।

ठाकुर चैनसिंह युवक ज़मींदार है; लेकिन मुलिया के विरोध-प्रदर्शन के बाद से ज़मींदार की तरह व्यवहार व आचरण नहीं करता। उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है। अन्यथा भी, कथा में ठाकुर चैनसिंह अत्याचारी व क्रूर चित्रित नहीं किया गया है। मुलिया का वह बस हाथ पकड़ता है। उसकी ही नहीं; एक सामान्य धारणा चली आती रही है, **“ नीची जातों में रूप-सौन्दर्य का इसके सिवा और काम ही क्या है कि वह ऊँची जाति वालों का खिलौना बने।”** पूर्व में उसका ऐसा अनुभव भी रहा **(ऐसे कितने ही मार्के उसने जीते थे!)** आज मुलिया का क्रोध व अभिमान देखकर वह लज्जित होता है और उसका हाथ छोड़ देता है। आगे से वह दयालु, गंभीर, सहनशील आदमी हो गया। **“जवानी का नशा जाता रहा; केवल जवानी रह गयी।”** नशा **“घमंड, निर्दयता, स्वार्थ, शेखी, विषय-वासना, कटुता, पशुता, विकार, पतन की ओर ले जाने वाला।”** कामिनी मुलिया के शब्द उसका उद्धार कर देते हैं। प्रेमचंद ‘जवानी’ की व्याख्या करते हैं, **“ जवानी जोश, बल, दया, साहस, आत्म-विश्वास, गौरव, जीवन को पवित्र, उज्ज्वल व पूर्ण बनाने वाली।”**

वस्तुतः प्रस्तुत कहानी, जितने अंशों में, मुलिया की कहानी है; उतने ही अंशों में ठाकुर चैनसिंह की। मुलिया के पति महावीर और मुलिया की सास की भूमिकाएँ नगण्य हैं।

‘घासवाली’ कहानी में भी प्रेमचंद आदर्श पात्रों को उपस्थित करते हैं। मुलिया और चैनसिंह वहाँ मात्र पात्र हैं। उनका सामाजिक स्तर कोई अर्थ नहीं रखता। ‘घासवाली’ किसी चमारिन व किसी ज़मींदार की कथा नहीं है। उनकी मानसिकता विशिष्ट है। विशुद्ध मानवीय धरातल पर ‘घासवाली’ के ये पात्र परस्पर व्यवहार करते हैं। कथा काल्पनिक अथवा अस्वाभाविक दृग्गोचर नहीं होती। चैनसिंह की वासना; सम्मानपूर्ण प्रेम में परिवर्तित होती हैं। सच्चे अर्थों में वह मुलिया और उसके परिवार का शुभचिन्तक बन जाता है।



परिशिष्ट :

प्रेमचन्द-विरचित कहानियों का वैशिष्ट्य

प्रेमचन्द के उपन्यासों में तो समस्यामूलक तत्त्व प्रमुख है, किन्तु उनकी कहानियों में गौण।

कहानी लघु-विस्तारी होती है। उसमें किसी समस्या-विशेष की व्याख्या सम्भव नहीं।

कहानी में समस्या का समावेश अवश्य सम्भव है, पर उसके विश्लेषण तथा समाधान के लिए वहाँ अवकाश नहीं। विश्लेषण अथवा समाधान से कहानी में शिथिलता आना स्वाभाविक है। कहानी में समस्या का समावेश विस्तृत फलक पर नहीं होता और न कहानीकार किसी समस्या-विशेष के सभी पक्षों को एक ही कहानी में स्पर्श कर सकता है।

प्रेमचन्द ने कहानी-कला के सैद्धान्तिक विवेचन में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका संक्षेप इस प्रकार है “कहानी में व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अधिक रहता है...कहानी का आधार घटना नहीं, अनुभूति है .. सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।...कहानी केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदयस्पर्शी चित्रण है।... कहानियाँ कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान का पद ऊँचा समझा जाता है। कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती।” आदि।

प्रेमचन्द ने लगभग तीन-सौ कहानियाँ लिखीं। प्रकार (विषय एवं तत्त्व के अनुसार) और शैली की दृष्टि से उनके इस कर्तव्य में पर्याप्त विविधता है।

जहाँ समस्या-मूलक तत्त्व प्रधान होता है, वहाँ तात्त्विकता गौण हो जाती है अथवा उसका स्वरूप-परिवर्तन हो जाता है। वहाँ वस्तु-विन्यास, चरित्रांकन, देशकाल आदि तत्त्व कला की उस रूढ़ पद्धति पर नहीं मिलते, जिन पर प्रायः

तत्त्व-प्रधान कहानियाँ लिखी जाती हैं। किसी विषय को जब समस्यामूलक तत्त्व की परिधि में कहानीकार ले आता है तब उसकी कला किञ्चित् भिन्न और विशिष्ट हो जाती है। अतः समस्यामूलक अथवा समस्या-प्रधान कहानियों के मूल्यांकन का निष्कर्ष कला-प्रधान कहानियों के मूल्यांकन का निष्कर्ष नहीं बन सकता। सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से ही दोनों प्रकार की कहानियों की पारस्परिक श्रेष्ठता आँकी जा सकती है।

प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला समस्यामूलक तत्त्व से जब इतनी आवेष्टित है; तब उनकी कहानियाँ समस्यामूलकता से अछूती रह जातीं, यह सम्भव नहीं था।

प्रेमचन्द को इस बात का सर्वाधिक ध्यान था कि वे हिन्दी के लेखक हैं, अतः इस कारण लेखक के रूप में उनका दायित्व अन्य प्रांतीय भाषाओं के लेखकों की अपेक्षा गुरुतर है। हिन्दी उस समय देश की राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की प्रतीक थी। अतः प्रेमचन्द जैसे उत्तरदायी लेखक देश की तत्कालीन समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। युग का प्रभाव उनकी समस्यामूलकता का जनक है। प्रेमचन्द तत्कालीन वातावरण से सम्पृक्त रहकर ही सामूहिक भारतीय जनता की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समस्याओं से जुड़ सके। उनका साहित्य इसी कारण क्रान्ति की भूमिका निर्मित कर सका।

प्रेमचन्द ने अपनी प्रारम्भिक कहानियों में ही नहीं, अपितु उत्तरकालीन कहानियों तक में घर की समस्याओं को अवश्य विशेष स्थान दिया है। सम्मिलित कुटुम्ब का प्रश्न उनकी अनेक कहानियों में उपस्थित है ('बड़े घर की बेटी', 'शंखनाद' आदि) इन कहानियों में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण नैतिक से अधिक आर्थिक है। उनकी कहानियों के घर मध्यवर्ग अथवा निम्नवर्ग के हैं। संयुक्त परिवार के टूटने का मूल कारण आर्थिक है। घर के सदस्यों में पायी जाने वाली रुचि व स्वभाव-भिन्नता भी कौटुम्बिक कलह का कारण बनती है। पर, सम्मिलित कुटुम्ब में श्रम के अनुसार जहाँ भोग की व्यवस्था नहीं है वहाँ इस संस्था के टूटने में देर नहीं लगती। प्रत्येक सदस्य को अर्थार्जन करना ही चाहिए। आत्मीय सम्बन्धों के नाम पर प्रतिष्ठित कर्तव्य, त्याग, प्रेम आदि नैतिक मूल्य आर्थिक आवश्यकताओं के समक्ष प्रभावहीन हो जाते हैं।

विधवा-समस्या को भी प्रेमचन्द की कहानियों में स्थान मिला है। घर में समुचित सम्मान पाकर विधवाएँ सुखी और पवित्र जीवन व्यतीत कर सकती हैं। विधवा के विभिन्न रूप विधवा माँ, विधवा पुत्री, विधवा पुत्रवधू प्रेमचन्द की

अनेक कहानियों के विषय में रहे हैं ('स्वामिनी', 'आधार', 'बेटोंवाली विधवा', 'धिक्कार', 'बालक' आदि)।

प्रेमचन्द ने यौन-संबंधों को यौन समस्याओं को अपना प्रतिपाद्य नहीं बनाया। उनकी प्रेम कहानियाँ सामाजिक जीवन पर आधारित हैं। जाति-समस्या, कुल-मर्यादा, दहेज़-प्रथा, रूप-रंग आदि से वे जुड़ी हैं। भारतीय विवाह-पद्धति का परिष्कार करने का यत्न उन्होंने किया है।

प्रेमचन्द की कहानियों में अन्य महत्वपूर्ण समस्याएँ राजनीतिक जीवन से सम्बद्ध हैं। राजनीतिक आन्दोलनों के अनेक चित्र उनकी कहानियों में आये हैं। स्वराज्य, विदेशी वस्तुओं की होली, खादी और चरखा, मद्य-निषेध, भ्रष्ट प्रशासन, अदालतों का बहिष्कार, सत्याग्रह, पुलिस के अत्याचार आदि को समाविष्ट करके प्रेमचन्द ने तत्कालीन राजनीतिक जीवन की विभिन्न समस्याओं को प्रकाशित किया है।

प्रेमचन्द ने कहानियों के माध्यम से तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध भी लिखा। पाश्चात्य सभ्यता पर आधारित शिक्षा-प्रणाली के पक्षधर वे नहीं थे। पाश्चात्य सभ्यता पर आधारित शिक्षा-प्रणाली के दोष उनकी अनेक कहानियों में उद्घाटित हुए हैं ('लाल फीता', 'पशु से मनुष्य', आदि)।

वेश्या-समस्या, अछूतोद्धार ('ठाकुर का कुआँ', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'मंदिर' आदि), साम्प्रदायिक समस्या, कृषक-जीवन, देशी रियासतों की समस्या आदि अनेक समस्याओं को प्रेमचन्द ने कहानी-विधा की परिधि में समाविष्ट कर अपने अपूर्व रचना-कौशल का परिचय दिया है।

५

प्रेमचंद-विरचित कहानी 'कफ़न'

प्रश्न : डा. कमलकिशोर गोयनका

उत्तर : डा. महेन्द्रभटनागर

* आपने 'कफ़न' कहानी को सबसे पहले कब पढ़ा था ? क्या उसके पश्चात उसे पुनः बार-बार पढ़ने का अवसर मिला और क्या आपने पाया कि कहानी आपको बार-बार सोचने के लिए विवश करती है ?

'कफ़न' कहानी को सर्वप्रथम कब पढ़ा; ठीक से स्मरण नहीं। विभिन्न पाठ्य-क्रमों में निर्धारित होने के कारण अनेक बार पढ़ने-पढ़ाने का अवसर मिला। निःसंदेह, प्रस्तुत कहानी पाठक को सोचने के लिए बड़ी तीव्रता से विवश करती है हर बार पढ़ने के बाद ही नहीं; मात्र जब-तब उसका ज़िक्र चलने पर ही या उसकी गूँज-अनुगूँज ताज़ी होने पर ही। 'उसने कहा था' की तरह।

*क्या आप इससे सहमत हैं कि 'कफ़न' प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानी है ? जब आपने उसे सबसे पहले पढ़ा था तब क्या आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे जो आपके मन में इस कहानी को लेकर है ?

करुण-रस की कहानियों में 'कफ़न' प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इसका मनोवैज्ञानिक पक्ष सर्वाधिक सशक्त है। शिल्प की दृष्टि से भी यह उनकी श्रेष्ठ कहानियों में से है। प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ अनेक हैं। उनमें से किसी एक कहानी को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना प्रभाववादी बात ठहरती है। इससे कोई सार्थक

निष्कर्ष भी नहीं निकल सकता।

*** यदि यह मान लिया जाय कि 'कफ़न' कहानी प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानी है तब क्या आप यह चाहेंगे कि इस एक कहानी के आधार पर प्रेमचंद की कहानी-कला का मूल्यांकन किया जाय और उनकी शेष 289 कहानियों को अलग हटा कर रख दिया जाय ?**

प्रेमचंद के कहानीकार का अध्ययन करने के लिए उनकी समस्त प्रतिनिधि कहानियों को लक्ष्य बनाना होगा; क्योंकि प्रेमचंद का कहानी-जगत बड़ा विविध और व्यापक है उद्देश्य, विषय और शिल्प की दृष्टि से।

*** क्या आपके विचार में प्रेमचंद की अन्य कहानियों की तुलना में 'कफ़न' पूर्णतः भिन्न कहानी है ? क्या वह आपको इतनी भिन्न प्रतीत होती है कि प्रेमचंद की नहीं बल्कि एक नये प्रेमचंद की रचना प्रतीत होती है ?**

'कफ़न' की रचना-पद्धति, अभिव्यक्ति-प्रणाली, कथन-भंगिमा व भाषिक-चेतना प्रेमचंद की अन्य कहानियों से इतनी भिन्न नहीं। प्रेमचंद की कहानी-कला के चरम विकास का बोध 'कफ़न' पढ़ते समय होता है, किसी नये प्रेमचंद का नहीं।

*** इस कहानी की प्रेरणा के संबंध में आपको क्या कहना है ? क्या आप कह सकते हैं कि कफ़न के पैसों से शराब पीने वाले घीसू-माधव प्रेमचंद ने अवश्य ही समाज में देखे होंगे या उनकी कल्पना ने इन पात्रों की सृष्टि की है ? कृपया यह भी बताएँ कि क्या आपने स्वयं भी ऐसे पात्रों को समाज में देखा है जैसे प्रेमचंद के अन्य पात्र होरी, दातादीन, हलखू आदि देखने को मिल जाते हैं ?**

लगता है, इस कहानी की मूल प्रेरणा देशी शराब की किसी कलाली से प्रेमचंद को मिली होगी। अक्सर जब किसी ऐसे रास्ते से गुज़रना पड़ जाता है, जहाँ कलाली होती है, वहाँ घीसू-माधव जैसे पात्र खूब दृष्टिगोचर होते हैं। मात्र उनकी ज़िन्दगियों में झँकने की ज़रूरत है। यह 'कफ़न' कहानी का केवल सूत्र ही माना

जा सकता है। यथार्थ में, निर्धन-वर्ग के शराबियों को और भी अधिक अमानवीय और क्रूर अर्थात् बुद्धिहीन आचरण करते देखा जाता है; जिसके फलस्वरूप उनका दैनंदिन जीवन और दूभर होता जाता है।

*** कुछ विद्वानों की राय है कि 'कफ़न' से एक नयी यथार्थवादी चेतना आरम्भ होती है। क्या आप इससे सहमत है ? सहमति की स्थिति में कृपया यह बताएँ कि यह नयी यथार्थवादी चेतना कौन-सी है जो इससे पूर्व उनकी कहानियों में उपलब्ध नहीं है ?**

'यथार्थवादी चेतना' प्रेमचंद की परवर्ती अधिकांश रचनाओं में है। इस चेतना का उनमें क्रमशः विकास हुआ है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है रचना का परिप्रेक्ष्य, उसका संदेश और उसका प्रस्तुतीकरण; जो किसी साहित्य-स्रष्टा को महान बनाता है। 'कफ़न' जैसी एक लघु-विस्तारी रचना के माध्यम से प्रेमचंद ने दूषित सामाजिक-व्यवस्था के शरीर में पनपे कैंसर की जिस कौशल से पहचान और शल्यक्रिया की है; वह अद्वितीय है।

*** हिन्दी में 'कफ़न' पहली बार 'चाँद' के अप्रैल, 1936 के अंक में छपी थी। इससे पश्चात प्रेमचंद की सात कहानियाँ छपीं दो बहनें', 'रहस्य', 'कश्मीरी सेव', 'तथ्य', 'जुरमाना', 'यह भी नशा वह भी नशा', 'क्रिकेट मैच'। ये कहानियाँ 'हंस', 'माधुरी', 'जमाना' नामक पत्रिकाओं में अगस्त 36 से जुलाई, 37 तक छपी हैं। इनमें अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें लेखक की पूर्ववर्ती आदर्शवादी, नैतिकतावादी, मूल्यवादी जीवन-दृष्टि प्रमुख है। कृपया बतलाएँ कि 'कफ़न' वाली नयी यथार्थवादी चेतना 'कफ़न' तक ही क्यों सीमित रह गयी और उसके बाद लिखी गयी कहानियों में 'कफ़न'-पूर्व प्रेमचंद क्यों अवतरित हो गये ? इस तथ्य से क्या प्रेमचंद की विकासशील यथार्थवादी चेतना पर प्रश्न-चिन्ह नहीं लग जाता ?**

'कफ़न' वाली तथाकथित नयी यथार्थवादी चेतना प्रेमचंद के परवर्ती अधिकांश साहित्य में द्रष्टव्य है। 'कफ़न' लेखन के उपरान्त वह इतनी पुरजोर क्यों नहीं, इसे उनकी सीमा माना जाना चाहिए। उस युग के साहित्यकार से इससे अधिक की

अपेक्षा रखना युक्ति-युक्त व न्यायोचित नहीं। दूसरे, यह भी सही है कि परवर्ती रचनाओं में प्रेमचंद बदलते दिखाई देते ज़रूर हैं किन्तु लौट-फिर कर वे पुनः अपने मौलिक स्वरूप पर आ जाते हैं, जो वस्तुतः मानवतावादी है। अव्यावहारिक आदर्शवादी, जड़ नैतिकतावादी तथा थोथी मूल्यवादी जीवन-दृष्टि से उनका कभी कोई सरोकार नहीं रहा।

(दृष्टव्य : सन् 1957 में प्रकाशित मेरे शोध-प्रबन्ध 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' के 'प्रेमचंद की साहित्य-संबंधी मान्यताएँ; 'आदर्शवाद और यथार्थवाद', 'प्रेमचंद: जीवन-दर्शन' तथा मानवतावादी प्रेमचंद' नामक अध्याय।)

*** 'कफ़न कहानी में आपको सबसे अधिक कौन-सी चीज़ प्रभावित करती है ? घीसू और माधव की निष्क्रियता, पिता-पुत्र-बहू के परस्पर संबंधों में अमानवीयता एवं संवेदनहीनता, घीसू-माधव को निकम्मा, आलसी, अमानवीय बनाने वाली सामाजिक-व्यवस्था, पिता-पुत्र का कफ़न के रूपों से शराब पीना अथवा कहानी की दार्शनिक शब्दावली-धर्म, पाप, पुण्य, वैकुण्ठ, दान, मायाजाल और अंत में कबीर का दोहा आदि।**

'कफ़न' कहानी से सबसे अधिक प्रभावित करने वाली बात अमानवीय बनाने वाली सामाजिक-व्यवस्था है। तथाकथित धर्म और दर्शन से सम्बद्ध शब्दावली तो व्यंग्य प्रतीत होती है; जो लौकिक-जीवन की वेदना और करुणा को और गहराती है। अंत में कबीर की काव्य-पंक्ति व्यंग्य को मूर्त कर देती है सटीक बना देती है। इससे घीसू-माधव के प्रति हमारी संवेदना घनीभूत हो जाती है। उनके निरीह दयनीय जीवन की वास्तविकाता देख कर पाठक अश्रु-विगलित हो तीव्र व्याकुलता महसूस करते हैं।

*** कुछ समीक्षकों ने 'कफ़न' की संवेदना को मार्क्सवाद से जोड़कर देखा है। क्या आप इस कहानी को मार्क्सवादी-चेतना की कहानी कहना चाहेंगे ? यदि हाँ तो कृपया बताइए कि कहानी का कौन सा अंश, दृश्य, स्थिति आदि में से किसे मार्क्सवाद से जोड़ा जा सकता है ?**

'कफ़न' की संवेदना को मार्क्सवादी चेतना से जोड़कर देखने में कोई

आपत्ति नहीं। यह तो निष्कर्ष है, आरोपण है। प्रेमचंद ने मार्क्सवाद को ध्यान में रख कर तो कोई साहित्य-रचना की नहीं। उनका मानवतावाद यदि कहीं मार्क्सवादी-चेतना की परिधि में आता है, तो वह सहज ही आता है। 'कफ़न' कहानी के किसी अंश या द्रश्य या स्थिति को मार्क्सवादी-चेतना से जुड़ा बताना, अनावश्यक है। वस्तुतः कलात्मक रचना का विश्लेषण गणतीय-सूत्रों द्वारा नहीं किया जा सकता। रचना का सामूहिक प्रभाव ही उसके विश्लेषण का आधार बन सकता है। 'कफ़न' कहानी का समग्र प्रभाव मार्क्सवादी-चेतना को समोए हुए है।

*** (1) 'कफ़न' मूल रूप से उर्दू में लिखी एवं छपी थी और 'जमाना' के दिसम्बर, 35 के अंक में प्रकाशित हुई। इसके चार मास के बाद 'चाँद' में छपी। ऐसी स्थिति में क्या आप उसे उर्दू की मौलिक कहानी के रूप में स्वीकार करेंगे या हिन्दी की या दोनों की अथवा केवल मूल रूप में रची गयी भाषा में ? कृपया सतर्क उत्तर दीजिए ।**

(2) प्रेमचंद की हिन्दी और उर्दू की रचनाओं के संबंध में आपकी मूल नीति क्या होगी ? क्या आप उर्दू रचनाओं को भी हिन्दी की मौलिक रचनाएँ मानेंगे और चाहेंगे कि इसी रूप में हिन्दी की रचनाएँ उर्दू की मौलिक रचनाएँ मानी जाएँ। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह उर्दूकरण अथवा हिन्दीकरण पूर्ण रूप से प्रेमचंद ने नहीं किया है। उनके मित्रों, अनुवादकों का भी इसमें बड़ा योगदान है।

उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है अरबी-फ़ारसी से प्रभावित। यह प्रभाव मात्र शब्दावली और अभिव्यक्ति-स्वरूप पर है। अन्यथा दोनों भाषाएँ लगभग समान हैं। अभिव्यक्ति-स्वरूप तो हिन्दी में घुल-मिल गया है और वह रोचक और आकर्षक भी लगता है। इससे हिन्दी की कथन-भंगिमा समृद्ध हुई है, उसका लचीलापन बढ़ा है। किन्तु, अनेक शब्द हिन्दी के नहीं बन सके हैं। वैसे हिन्दी में हज़ारों शब्द फ़ारसी के हैं। फ़ारसी के माध्यम से आये अरबी के भी पर्याप्त शब्द हिन्दी में हैं। जहाँ-जहाँ उर्दू जाती है, ज़ाहिर है हिन्दी ही जाती है। इस्लाम के मज़हबी उन्माद ने उर्दू ज़बान को पाकिस्तान में जो फैलाया वह एक तरह से हिन्दी का ही फैलना हुआ। बुराई में भलाई इसे ही कहते हैं। हिन्दी-भाषी को आज पाकिस्तान के किसी

भी भाग में भाषा-संबंधी कोई बाधा शेष नहीं। चाहे वह बलूचिस्तान जाए, चाहे वह पश्तो-क्षेत्र की यात्रा करे, चाहे सिंधी-पंजाबी, कश्मीरी क्षेत्र में रहे।

‘कफ़न’ मूलरूप से उर्दू में लिखी गयी थी, अतः वह उर्दू की कहानी पहले है। प्रेमचंद चूँकि हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक बन चुके थे, अतः उनकी इस कहानी का हिन्दी-स्वरूप (अनुवाद नहीं) सहज ही हिन्दी का माना जाता है। दोनों का लेखक एक ही है। किसी अन्य व्यक्ति ने अनुवाद नहीं किया है। जहाँ अनुवादक भिन्न है, वहाँ उस रचना के भाषा-प्रवाह में अन्तर रेखांकित करना होगा। मान लीजिए, प्रेमचंद कन्नड़ के भी लेखक होते। ‘कफ़न’ यदि मूलरूप में उन्होंने कन्नड़ में लिखी होती, तो उसे कन्नड़ की कहानी माना जाता, जैसे आज उसे उर्दू की माना जाता है। कन्नड़ से उसका हिन्दी-स्वरूप उसे निश्चय ही हिन्दी-कहानी सिद्ध करता; क्योंकि लेखक एक ही व्यक्ति है। कन्नड़ और हिन्दी में पर्याप्त अन्तर है ; जबकि उर्दू और हिन्दी की गद्य-भाषा में बहुत कम। उर्दू के संदर्भ में तो बहुत-कुछ लिप्यन्तर की बात है। उर्दू-हिन्दी के स्वरूप विवेचन में जैसा कि स्पष्ट किया गया है, उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है। अन्यथा यों कह लीजिए कि संसार की परस्पर इतनी अधिक समानता वाली दो भाषाएँ और कोई नहीं, जितनी उर्दू-हिन्दी हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अंग्रेज़ी में लिखा, बँगला में भी। उनकी मूल अंग्रेज़ी-रचनाओं के उन्हीं के द्वारा किये गये बँगला-अनुवाद बँगला-साहित्य की अमूल्य निधि हैं बँगला-साहित्य के विकास में उल्लेखनीय हैं। उन रचनाओं ने बँगला-साहित्य को प्रभावित व विकसित किया है। जिस प्रकार प्रेमचंद की उर्दू-कहानियों के हिन्दी-स्वरूपों ने हिन्दी कथा-साहित्य को।

हिन्दी वाले उर्दू से परहेज़ नहीं करते; जितना मज़हबी उन्माद के कारण उर्दू वाले हिन्दी से करते हैं। यह एक कटु सत्य है कि उर्दू एक विशेष समुदाय के लोगों के मज़हबी उन्माद से जुड़ गयी है। उसके रहनुमा पाकिस्तान में बसते हैं। ग़ैर मुसलमान उर्दू के प्रति चाहे कितना ही प्रेम प्रदर्शित करें; चाहे उसका कितना ही प्रचार-प्रसार करें।

उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानना मज़हबी उन्माद से ग्रस्त उर्दू के पक्षधरों को बेहूदा लगता है। किन्तु हकीकत अपनी जगह है। उर्दू से कोई वास्ता न होते हुए भी हम उर्दू खूब समझते हैं, खूब बोलते हैं। कठिनाई मात्र कुछ शब्द-प्रयोगों के कारण है। उर्दू के पक्षधर भले ही हिन्दी-रचनाओं को न पचा सकें, किन्तु

हिन्दी-भाषा-भाषियों को उर्दू-साहित्य को हिन्दी-साहित्य में समाविष्ट कर लेना चाहिए। वह हमारे लिए हिन्दी की अनेक विभाषाओं से भी अधिक बोधगम्य है। यह ग्रहण अनुवाद द्वारा नहीं, गद्य-विधाओं में मात्र कुछ शब्दानुवादों द्वारा। ज़ाहिर है, काव्य में यह सम्भव नहीं। उर्दू के अलगाववादी चाहे कितना ज़ोर मारें, उर्दू को हिन्दी के मौलिक स्वरूप से अलग नहीं कर सकते।

*** आपको ज्ञात ही है कि प्रेमचंद का प्रथम उर्दू कहानी-संग्रह 'सोज़े-वतन' (1908) था जो ज़ब्त हो गया था और जिसके कारण उन्हें 'प्रेमचंद' नाम ग्रहण करना पड़ा। क्या आप इस उर्दू कहानी-संग्रह को हिन्दी-कहानी-संग्रह मानेंगे ? मान सकते हैं। जैसे आप उर्दू 'कफ़न' को हिन्दी-कहानी मानते हैं। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि हिन्दी-कहानी के विकास में इस उर्दू कहानी-संग्रह का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।**

'सोज़े वतन' की कहानियाँ 'कफ़न' के समान ही हिन्दी की कहानियाँ मानी जानी चाहिए। हिन्दी साहित्येतिहास में अथवा हिन्दी-कहानी से संबंधित आलोचना-साहित्य में यदि इसका उल्लेख नहीं होता तो यह दृष्टि दोषपूर्ण है। हिन्दी भी तो साम्प्रदायिकता से कोई कम ग्रस्त नहीं रही। संस्कृत का वर्चस्व समाप्त होने में तो समय लगेगा; किन्तु हिन्दी आज साम्प्रदायिक सीमाएँ तोड़ चुकी है। जन-भाषा के रूप में उसका अदम्य प्रवाह इसका प्रमाण है। संकीर्ण दृष्टि वाले हिन्दी-भाषी आज उपहास के पात्र हैं। उनका अनुकरण-अनुसरण करने वाले अत्यल्प हैं। दक्षिण-भारत भी यह तथ्य समझने लगा है। ईसाइयों और मुसलमानों ने हिन्दी के विकास में जो योगदान किया है; वह सर्वविदित है। वर्तमान में उत्तर भारतीय ईसाई समाज ने हिन्दी को पूरी निष्ठा से अपना लिया है। स्वाधीनता-पश्चात् भारत के शिक्षित बुद्धिजीवी मुसलमानों ने तो बड़ा उत्कृष्ट रचनात्मक साहित्य हिन्दी में लिखा है और निरन्तर लिख रहे हैं। आज हिन्दी भाषा को साम्प्रदायिक नज़रिये से नहीं देखा जाता।

‘गोदान’ : परिच्छेदानुसार रेखांकन

‘गोदान’ का प्रारंभ होरीराम नामक पाँच बीघा ज़मीनवाले एक निर्धन किसान और उसकी पत्नी धनिया के गार्हस्थिक वार्तालाप से होता है। वार्तालाप में होरी की व्यावहारिक कृषक-बुद्धि का परिचय तो है ही, किसान के कमज़ोर आर्थिक पक्ष को भी बड़ी गहराई से प्रस्तुत करता है। मूल समस्या लगान के बेबाक किए जाने तथा कर्ज़ (आने रुपये का सूद) की है। ‘गोदान’ का किसान-वर्ग महाजनों की शोषण-वृत्ति का शिकार है। होरी के परिवार में सोलह वर्षीय एक पुत्र गोबर और दो लड़कियाँ, क्रमशः बारह और आठ वर्ष की सोना और रूपा हैं। धनिया की उम्र छत्तीस के लगभग है पर चेहरे पर झुर्रियाँ, बाल पके हुए और देह ढली हुई। होरी चालीस से कम है पर, पिचका हुआ चेहरा व झुर्रियों-भरा माथा। होरी के जीवन की सबसे बड़ी साध मात्र एक पछाई गाय लेने की है (कामधेनु !)। इस परिच्छेद में होरी की भोला नामक पचास वर्षीय ग्वाले से भेंट होती है। ‘मेहरिया’ पाने की आशा से वह अपनी गाय होरी को अस्सी रुपये में देने को राज़ी हो जाता है। प्रथम परिच्छेद ही ‘गोदान’ का केन्द्र है।

दूसरे परिच्छेद में सेमरी गाँव (अवध प्रांत) के ज़मींदार रायसाहब अमरपाल सिंह से हम परिचित होते हैं। होरी का गाँव बेलारी भी इन्हीं के इलाके में है। ज़मींदार और मुख्तार किस प्रकार अपने असामियों को लूटते हैं इसका बोध इस परिच्छेद से पाठकों को होता है। ज़मींदारी प्रथा पर प्रेमचंद का ध्यान यहाँ भी केन्द्रित है। व्यवस्था-विरोध प्रमुख है, व्यक्ति ज़मींदार का नहीं। फिर भी, ज़मींदार रायसाहब की धूर्तता, सब असामियों से ‘शगुन’ करने आने की ताकीद वाली बात से तथा बेगारों के प्रति उनके दृष्टिकोण से प्रकाशित की गई है। इससे उनकी ‘राष्ट्रीयता’ और ‘राम-भक्ति’ व्यंग्य सिद्ध हाती है। उपन्यास की मूल समस्या किसान का आर्थिक शोषण को क्रमशः अनावृत किया गया है।

तीसरा परिच्छेद होरी-परिवार के अन्य सदस्यों से पाठकों को मिलवाता है, जिनमें है गोबर (पुत्र), सोना और रूपा (पुत्रियाँ)। भोला की विधवा पुत्री झुनिया से भी प्रथम साक्षात्कार इसी परिच्छेद में होता है। यह परिच्छेद मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है; यद्यपि बेगार, नजर-नजराना, डांडे, ग्रामीणों की

दरिद्रता, महाजनो के सूद आदि गोबर, होरी और भोला के संवादों का प्रमुख विषय यहाँ भी है। इस परिच्छेद में पारिवारिक जीवन के विविध पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। होरी की अपने भाइयों से हुई अलगोझे की घटना तथा विधवा युवती झुनिया के पुनर्विवाह का संकेत। टूटती हुई संयुक्त परिवार व्यवस्था का होरी स्वागत ही करता है। भोला-परिवार में 'महाभारत' मचे रहने का कारण विधवा ननद झुनिया और उसकी दो भावजों के बीच समायोजन न होने का है।

चौथे परिच्छेद का परिवेश पारिवारिक है। अलगोझे से भी होरी और उसके भाइयों (हीरा और सोभा) के परिवारों में पारस्परिक सौमनस्य नहीं आया। होरी के यहाँ गाय आने पर हीरा और उसकी पत्नी पुन्नी में ईर्ष्या-भाव सक्रिय हो उठता है। धनिया और हीरा में वाक्-युद्ध होता है। परिच्छेद के प्रारंभ में दमड़ी बंसार का प्रसंग किसान की मनोवृत्ति को प्रकाशित करता है। 'गोदान' का यह संपूर्ण परिच्छेद होरी के जीवन पर मार्मिक व्यंग्य है, जो पाठक तो समझते हैं, उपन्यास के पात्र नहीं। यहाँ भी होरी पर लगभग तीन सौ के कर्ज की और सूद की काली छाया है। वही मगरू साह, दातादीन पंडित, दुलारी विधवा सहुआइन आदि सूदखोर महाजन मौजूद हैं। पुन्नी और दमड़ी बंसार का संघर्ष, सजीव सम्पत्ति गाय का होरी के घर में शुभागमन, सोना-रूपा का बालोचित व्यवहार, धनिया और हीरा का वाक्युद्ध आदि सभी प्रसंग होरी की विवशता दयनीयता, उसकी अतीत और वर्तमान की आर्थिक विपन्नता तथा आशंकाग्रस्त भविष्य के सामने फीके नज़र आते हैं। बंसार और हीरा से संबंधित घटनाएँ 'गोदान' के मूल उद्देश्य को सघनता प्रदान करती हैं। होरी के माध्यम से प्रेमचन्द तत्कालीन कृषक जीवन और उसकी समस्याओं का सटीक और वास्तविक चित्र अंकित करते चलते हैं।

पाँचवाँ परिच्छेद गोबर-झुनिया की कथा की नींव डालता है। विधवा और अनुभवी झुनिया युवक गोबर की विवाहिता बनकर रहना चाहती है। गोबर तैयार हो जाता है। झुनिया के माध्यम से, एक धर्मध्वजी 'विप्र'-ग्राहक की वासनात् तसवीर अंकित करने का उद्देश्य तथाकथित धर्म और वर्ण-महत्त्व के गलित स्वरूप का उद्घाटन भी है। पारिवारिक जीवन के प्रमुख पक्ष पति-पत्नी सम्बन्धों पर मनोवैज्ञानिक और समाज-शास्त्रीय दृष्टि भी, गोबर-झुनिया वार्तालाप में लक्षित होती है।

छठे परिच्छेद में सर्वप्रथम पंडित ओंकारनाथ (दैनिक पत्र 'बिजली' के सम्पादक), श्यामबिहारी तंखा (वकील और बीमा कम्पनी के दलाल) और मिस्टर

बी. मेहता (दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक) सामने आते हैं रायसाहब के 'धनुष-यज्ञ' के कार्यक्रम में। मिस्टर मेहता के माध्यम से कृषकों से सम्बद्ध बेगार, नजराना, इजाफ़ा, लगान आदि का प्रसंग चलाया गया है। कुछ समय बाद मिस्टर खन्ना (बैंक मैनेजर और शक्कर मिल में मैनेजिंग डायरेक्टर), उनकी पत्नी कामिनी खन्ना और मिस मालती (लखनऊ की डॉक्टर) का आगमन होता है। इस परिच्छेद के वार्तालाप तत्कालीन वातावरण के विभिन्न प्रश्नों को बौद्धिक भूमि पर प्रस्तुत करते हैं। इससे तत्कालीन युग की मनःस्थिति का बोध होता है। जीवन के अनेक पक्ष यहाँ मौजूद हैं ज़मींदार और व्यावसायिक के साथ-साथ बुद्धिजीवी वर्ग के सम्पादक, प्रोफ़ेसर, वकील आदि तथा अत्याधुनिक विचारधारा की पोषिका एक विशिष्ट रमणी। धन पर आश्रित समाज और राज-व्यवस्था, विवाह-प्रथा और मुक्त भोग, तलाक आदि विषयों को यहाँ स्पर्श किया गया है। मिर्जा खुर्शेद (जूते के व्यापारी और कौंसिल के मेम्बर) भी आते हैं। शराब और 'अफ़गान' की घटनाओं द्वारा प्रेमचन्द जी ने तथाकथित शरीफ़ इज्जतदार बुद्धिजीवियों का अच्छा-खासा मज़ाक बनाया है। होरी की निडरता के साथ पुलिस के हथकण्डों का उल्लेख न्याय-व्यवस्था की भ्रष्टता का बोध कराता है। यह परिच्छेद बहुविध सामाजिक जीवन का चित्र अंकित करता है।

परिच्छेद सात में प्रहसन भी सोद्देश्य है। इस प्रहसन में एक मुकदमेबाज़ देहाती ज़मींदार का खाका उड़ाया गया है। यह प्रहसन बड़ा ही सजीव और सत्य है। इस प्रकार प्रेमचन्द हमारा ध्यान प्रचलित न्याय-व्यवस्था की विडंबनाओं के प्रति आकर्षित करते हैं। फिर, देहाती जीवन का आनन्द उठाने के लिए एक शिकार-पार्टी का आयोजन होता है। खन्ना, मालती, तंखा रायसहाब, मिर्जा खुर्शेद और मिस्टर मेहता इसमें शामिल होते हैं। पर, शिकार खेलने का सच्चा उत्साह मात्र मिस्टर मेहता और मिर्जा खुर्शेद में है। अन्यो की प्रेरणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। जंगल में मेहता-मालती का जो परिचय एक जंगली युवती से होता है, उसके माध्यम से भी प्रेमचन्दजी ने अपने जीवन-दर्शन (निःस्वार्थ सेवा) को अभिव्यक्ति दी है। मिर्जा खुर्शेद और मिस्टर तंखा की टोली द्वारा तथाकथित डेमोक्रेसी को बड़े-बड़े व्यापारियों और ज़मींदारों का राज्य बताया गया है। पुराने ज़माने के बादशाहों के आदर्श चरित्र का तथा आजकल ('गोदान' रचनाकाल 1936) के मंत्रियों द्वारा की जा रही 'लूट' का उल्लेख किया गया है। अतः इस परिच्छेद में भी सामयिक जीवन के विभिन्न पक्षों को स्पर्श किया गया है। शिकार-यात्रा मात्र मनोरंजन-यात्रा न

होकर सामाजिक और राजनीतिक जीवन से सम्बद्ध है। यह पद्धति सामान्य उपन्यास-लेखकों से भिन्न है।

आठवाँ परिच्छेद फिर किसान-वर्ग के परिवेश में है। महाजनों के नीचे गला दबे और सूद भरते किसान। महाजनों के किसानों की लूट के भीषण हथकण्डे। 'कर्ज' वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।' रायसाहब का कारकुन पण्डित नोखेराम किसानों से बाकी वसूलने आता है। निदान, किसान महाजनों और उनके एजेण्टों की शरण जाते हैं। बिना लिखी-पढ़ी के दो आने रुपये ब्याज पर कर्ज देने वाले अथवा एक साल का ब्याज पेशगी काटकर, पक्के कागज़ पर, रुपया कर्ज देने वाले (झींगुरीसिंह)। प्रेम और बिरादरी का पक्ष लिए गोबर-धनिया का विवाह-प्रसंग भी इस परिच्छेद में आकार ग्रहण करता है। पर, परिच्छेद की महत्वपूर्ण घटना है हीरा द्वारा गाय (सुन्दरिया) को विष दिया जाना तथा गाय का मर जाना।

नवाँ परिच्छेद होरी के चरित्र की मार्मिकता को उजागर करता है। उसके झूठ बोलने में भी सौन्दर्य है। पर, मुख्य प्रसंग धर्मध्वजियों (पण्डित दातादीन) से सम्बद्ध है। गौ-हत्या को लेकर 'धरम' दण्ड देने आता है। दूसरी ओर हलके के 'कर्तव्यशील' थानेदार भी सक्रिय हो उठते हैं। दारोगाजी की होरी द्वारा 'ताबेदारी' होती है। पटवारी अपना और अपने साथियों का हिस्सा तय करता है (बाँट-बखरा)। यहाँ यह तथ्य भली-भाँति प्रकट कर दिया गया है कि 'हत्यारे गाँव के मुखिया हैं।' अंत में, दारोगा द्वारा इन हत्यारों से जिस प्रकार पचास रुपये वसूले जाते हैं, वह प्रसंग हास्यपूर्ण होते हुए भी तत्कालीन पुलिस-शासन एवं व्यवस्था पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार घटनाएँ एवं पात्रों के कार्यकलाप विभिन्न समस्याओं की परिधि में ही घटित होते हैं।

दसवें परिच्छेद का मुख्य विषय है, गोबर का पाँच माह का गर्भ लिए विधवा झुनिया का होरी के घर में प्रवेश। वस्तुतः यह संपूर्ण परिच्छेद होरी के पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध है। छोटे भाई हीरा की पत्नी पुनिया के प्रति होरी की चिन्ता, होरी-धनिया का पुनः मेल-मिलाप, गोबर-झुनिया के शारीरिक सम्बन्धों का रहस्योद्घाटन आदि पारिवारिक प्रसंग इस परिच्छेद में समाविष्ट हैं। पर, इन सबके मूल में किसान की होरी की दरिद्रता का अंकन बड़े मर्मस्पर्शी और कलात्मक ढंग पर हुआ है। होरी का तारतार कम्बल और फटी हुई मिर्जई उसके दारिद्र्य को मूर्त कर देती है। दूसरे, झुनिया के आ जाने के कारण पारिवारिक

जीवन के एक विशिष्ट पक्ष को भी स्पर्श किया गया है। समाज के काँव-काँव करने का भय, भोज-भात के खर्च की चिन्ता आदि होरी के सामाजिक जीवन से सम्पृक्त हैं।

ग्यारहवाँ परिच्छेद पूर्व परिच्छेद के 'असाधारण काण्ड' का परिणाम है। गाँव वालों ने होरी को जाति-बाहर कर दिया। तथाकथित 'मरजाद' पर तीखा व्यंग्य धनिया के माध्यम से किया गया है। न्याय के नाम पर 'पंचायत' के भ्रष्ट आचरण का पर्दाफाश प्रेमचन्द यहाँ करते हैं। 'पंच-परमेश्वर' की भावना होरी में ज़रूर है, पर प्रेमचन्द में नहीं। पंचों के पतित वैयक्तिक जीवन को प्रेमचन्द निरावरण करना नहीं चूकते। पण्डित दातादीन, जो बिरादरी को भात और बाम्हनों को भोज चाहते हैं, धनिया-होरी की बदनामी और जग-हँसाई की चिन्ता जिन्हें सवार है उन्हीं का तिलक लगाने वाला, पोथी-पत्रा बाँचनेवाला, कथा-भागवत करने वाला, धर्म-संस्कार करनेवाला, नित्य स्नान-पूजा करनेवाला लड़का मातादीन एक चमारिन से फँसा हुआ है। ऐसे व्यक्ति का 'लोक-रीति' का ढिंढोरा पीटना स्वयं में कितना हास्यास्पद है। दूसरे पंच पटवारी लाला पटेश्वरी हैं पूर्णमासी को सत्यानारायण की कथा सुनने वाले, पर असामियों से बेगार करानेवाले और उन्हें लड़ाकार रकम मारनेवाले। तीसरे पंच हैं दो जवान पत्नियोंवाले पचास वर्षीय झिगुरीसिंह। उनकी पत्नियाँ कितनी भ्रष्ट हैं, यह उन्हें भले ही पता न हो, पर झुनिया को कुलटा कहनेवाले। चौथे पंच कारकून पण्डित नोखेराम हैं, जो भगवान के सामने से उठते ही मानवता खो बैठते हैं। छल-फरेब का सहारा लेनेवाले। ऐसे पंचों ने होरी पर सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज का डांड लगा दिया। प्रेमचन्द ने पंच-पिशाचों के निर्णय का ज़बरदस्त विरोध धनिया के माध्यम से करवाया है। बिरादरी के आतंक को तोड़ा है। बिरादरी जो होरी के जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाए हुए थी और उनकी नसें उसके रोम-रोम में बिंधी हुई थीं। धनिया पोते के जन्मोत्सव पर अपनी दोनों लड़कियों के साथ गला फाड़-फाड़कर सोहरे गाती है। समाज को, धर्मध्वजियों को खुली चुनौती देती है। यद्यपि होरी बाप-दादों की निशानी एकमात्र घर तक को गिरों रखकर डाँड चुकाता है, किन्तु धनिया बिरादरी के और पंचायत के परखचे उड़ाती हुई कहती है 'मेहरिया रख लेना पापा नहीं है। हाँ, रखकर छोड़ देना पाप है।' निःसन्देह, 'गोदान' का यह परिच्छेद बड़ा सशक्त और क्रांतिकारी है। यह एक प्रकार से ग्रामीण निर्धन जनता की सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। भ्रष्ट सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ता है। सामाजिक अन्याय के शिकार

ग्रामीणों को सही दिशा देता है तथा उनके जीवन को सुखी और बेहतर बनाने का मार्ग सुझाता है।

बारहवाँ परिच्छेद गोबर को मज़दूरी करने लखनऊ की ओर प्रस्थित कर देता है। वह समझ लेता है “खेती में जान खपाने के सिवा और क्या रखा है ?.. मज़दूरी करना कोई पाप तो नहीं है।” कोदई से उसकी मुलाकात मात्र एक रोचक प्रसंग है।

तेरहवें परिच्छेद में सास-बहू और पति-पत्नी के सम्बन्धों पर महत्त्वपूर्ण विचार उपलब्ध होते हैं, जिनके पुरस्कर्ता क्रमशः गोबर और प्रोफ़ेसर मेहता हैं। मिर्जा खुर्शेद द्वारा आयोजित कबड्डी का खेल वस्तुतः प्रेमचन्द की ज़िंदादिली का प्रतीक है। चुनाव और धन की चर्चा भी मिस्टर तंखा-मालती वार्तालाप में उल्लेखनीय है। प्रेमचन्दजी को जब और जहाँ अवसर मिलता है, व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श शुरू कर देते हैं। समस्या के प्रत्येक कोण पर उनकी दृष्टि रहती है।

चौदहवाँ परिच्छेद होरी की ग़रीबी को पुनः चित्रित करता है। वह कर्ज से लदा हुआ है। घर में अनाज का एक दाना नहीं। महाजन और उधार देते नहीं। हीरा-पत्नी पुनिया होरी का एहसान चुकाने की भावना से आदरपूर्वक अनाज दे जाती है। तदुपरांत भोला अपनी गाय के रुपये माँगने चला आता है और रुपया न मिलने पर बदले में दोनों बैल खोलकर ले जाता है। होरी धरम का पल्ला पकड़ता है, पर सदा की तरह मूर्ख बनता है।

पन्द्रहवें परिच्छेद में ‘वीमेन्स लीग’ के मंच से प्रोफ़ेसर मेहता की लम्बी तर्करीर प्रेमचन्द के समस्यामूलक उपन्यासकार को और स्पष्ट करती है। स्त्री और पुरुष के व्यक्तिगत और समाजगत पारस्परिक सम्बन्धों पर, प्रोफ़ेसर मेहता के भाषण के बहाने, सविस्तर विचार-विमर्श प्रस्तुत करते हुए उपन्यास लिखना प्रेमचन्द की कला का ही कौशल है। प्रेम, त्याग और कर्तव्य पर अभिव्यक्त प्रोफ़ेसर मेहता के विचार एक प्रकार से प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन से ही उद्भूत हैं। प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता को समझने के लिए उनके जीवन-दर्शन को पहले समझना अनिवार्य है, अन्यथा असंगतियाँ ही दिखाई देंगी। इस परिच्छेद में मिसेज़ खन्ना (गोविन्दी) का प्रवेश उपन्यास की वैचारिक भूमिका को और प्रशस्त करता है। मालती-गोविन्दी धुरी प्रस्तुत करके प्रेमचन्द अपने पाठकों को वैचारिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। उन्हें मानसिक ऊहापोह का अवसर देते हैं। मनुष्य की आदिम

मनोवृत्ति को वे झुठलाते नहीं हैं और यथार्थ से हटते नहीं। इस प्रकार यह पूरा परिच्छेद विचार-प्रधान बनकर रह गया है। यद्यपि कथा-विकास में ऐसे प्रसंग कोई योग नहीं देते, फिर भी उनका अस्तित्व उपन्यास की रोचकता को किंचित् भी कम नहीं करता, वरन् उसकी शक्ति ही बनता है। यह परिच्छेद मालती के पिता (मिस्टर कौल) और उसकी बहनों (सरोज और वरदा) से भी हमें परिचित कराता है।

सोलहवाँ परिच्छेद जहाँ एक ओर जमीदारों-ताल्लुकदारों के अर्थ-तंत्र को उद्घाटित करता है, वहाँ दूसरी ओर पत्रकारिता की वास्तविक कठिनाइयों और जिम्मेदारियों के साथ-साथ पीत-पत्रकारिता और सम्पादकीय हथकण्डों को भी प्रकाशित करता है। 'बिजली'-सम्पादक ओंकारनाथ का व्यंग्य-चित्र यद्यपि पूर्व-परिच्छेदों में अंकित हुआ है, पर यह पूरा परिच्छेद ही उनके पारिवारिक जीवन, उनकी आर्थिक स्थिति तथा उनकी दुर्बलताओं को प्रस्तुत करता है। ओंकारनाथ की पत्नी गोमती को पाठक प्रथम वार यहाँ देखते हैं। गोमती अपने पति ओंकारनाथ से अधिक बुद्धिवान और व्यावहारिक दिखाई देती है। उसका असन्तोष स्वाभाविक है। ओंकारनाथ के सनकीपन से वह भी परिचित है। इस परिच्छेद में प्रेमचन्द ने तत्कालीन प्रशासकीय व्यवस्था का जो चित्र अंकित किया है, वह आज भी अर्थयुक्त है। समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण, अफसरों की दावतें, रिश्वत, सरकारी चन्दे आदि का विवरण आज भी उतना ही यथार्थ है।

सत्रहवाँ परिच्छेद फिर होरी की दयनीय गरीबी से शुरू होता है। इस बार भी वहाँ खाने को कुछ नहीं। उसकी बच्ची रूपा भूखी है और रो रही है। बुरे दिनों का लाभ उठानेवाले नर-पिशाच पण्डित दातादीन छद्म-हितैषी बन कर आते हैं और आधे-साझे में होरी के खेत की बोआई करा देने की व्यवस्था करते हैं। चमारिन सिलिया उसकी रखैल है ही। झुनिया अपनी मीठी बातों को मँहँगे दामों में बेचना जानती है। मातादीन के प्रति उसका व्यवहार भी छद्म है यह सोना से हुए उसके वार्तालाप से स्पष्ट है। इसी परिच्छेद में मिस्टर खन्ना की शक्कर-मिल खुलने की सूचना मिलती है। कारिन्दे और दलाल किसानों की खड़ी ऊख मोल लेते हैं। होरी, शोभा, गिरधर सब अपनी-अपनी ऊख तुलवा देते हैं। पर, उनका सारा पैसा महाजन हड़प लेते हैं। सहुआइन दुलारी, मगरू साह, दातादीन, झिंगुरीसिंह, पटेश्वरी, नोखेराम आदि महाजन सब अपना-अपना पैसा वसूलने निकल पड़ते हैं। किसान-वर्ग की कर्ज-समस्या का बड़ा भयानक रूप इस परिच्छेद में चित्रित है। किसान मजदूरी करने को मजबूर होते हैं।

अठारहवाँ परिच्छेद मिस्टर खन्ना और गोविन्दी के पारिवारिक जीवन से संबद्ध है। धनवान होते हुए भी खन्ना-परिवार में सुख और शान्ति नहीं। खन्ना और गोविन्दी की विचारधाराएँ और जीवन-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। गोविन्दी 'अपमानित' होकर भी खन्ना की 'लौंडी' थी। खन्ना-गोविन्दी-कलह के मूल में मालती है। गोविन्दी को मालती-खन्ना के सम्बन्ध अरुचिकर हैं। खन्ना की दृष्टि में गोविन्दी मालती के पाँव की धूल भी नहीं। जबकि गोविन्दी की दृष्टि में मालती वेश्याओं से भी गयी-बीती है। खन्ना मालती का अपमान नहीं कर सकते गोविन्दी के दोनों कान पकड़कर जोर से ऐंठते और तीन तमाचे लगाते हैं। गोविन्दी मालती के इस परोक्ष शासन को सहन न कर सकी। दूसरे दिन, अपने बच्चे के साथ घर से निकल पड़ती है और चिड़ियाघर के लॉन पर जा पहुँचती है। रास्ते-भर वह विवाहित जीवन की दुर्दशा पर विचार करती है। स्वयं कमाकर खाने का निर्णय लेती है, जिससे पति के अधीन न रह सके। तभी प्रोफ़ेसर मेहता भी अचानक वहाँ आ जाते हैं। मेहता, जो प्रेमचन्द के विचारों के वाहक हैं, नारी, प्रेम, विवाह, दाम्पत्य, आदि पर जो विचार व्यक्त करते हैं, वे प्रगतिशील भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। इनसे प्रेमचन्द का स्वतन्त्र वैचारिक व्यक्तित्व भी आलोकित होता है। प्रेमचन्द किसी 'वाद' विशेष के अंध-भक्त नहीं थे। उनका अपना मैलिक चिन्तन था, जिसमें प्रगतिशील प्राणवान भारतीय संस्कृति और आधुनिक समाजवादी विचारधारा का अद्भुत मेल है। वे गोविन्दी को संतुलित करते हैं और उसे वापस घर पहुँचते हैं। प्रोफ़ेसर मेहता कहते हैं "क्षमा कीजिए, मैं तो एक पूरी स्पीच ही दे गया।" पर, यह कला समस्यामूलक उपन्यास-रचना की विशिष्ट कला है, जो सामान्य उपन्यास-कला के निकष से भिन्न है।

उन्नीसवें परिच्छेद में गोबर का नया रूप सामने आता है। उसे अब सामाजिक रूढ़ियों के निर्वाह की चिन्ता नहीं। लोक-निन्दा का भय नहीं। एक साल शहर में रहकर वह सीधा-सादा ग्रामीण युवक नहीं रहा। उसने कुछ धन भी कमा लिया है और अब एक छोटा-मोटा महाजन है। गया करने और गहने बनाने में उसकी रुचि नहीं। झुनिया को लेने अब वह गाँव जा रहा है। शराब की लत से मिर्जा खुर्द की दुर्गति का दृश्य भी यहाँ देखने को मिलता है। वे शराब के लिए गोबर से दो रुपये उधार माँगने आते हैं।

बीसवें परिच्छेद में सर्वप्रथम होरी-परिवार मजूर के रूप में दिखाई देता है। मालिक दातादीन है। दातादीन मजूरो से रगड़कर काम लेते थे। आहत-अभिमान

होरी उन्मत्त की भाँति काम करता है और थककर बेहोश हो जाता है। होश अपने के बाद जब वह घर चारपाई पर लिटा दिया जाता है, तभी गोबर गाँव में प्रवेश करता है। गोबर परिवार के सभी सदस्यों से मिलता है। ताज़ी स्थिति से परिचित होता है। दोनों चचाओं के घर राम-राम कर आने के बाद, मित्रों से मिलता है। झिगुरीसिंह और दातादीन को अपने बदले हुए तेवर दिखाकर भोला के घर पहुँचता है। भोला उसके सद्व्यहार और समृद्ध रूप से प्रभावित होता है और होरी की गोई उसे लौटा देता है। यह परिच्छेद परोक्ष रूप से धन के महत्त्व को उद्घोषित करता है। “जिसके पास पैसे हैं, वही बड़ा आदमी है, वही भला आदमी है” (झुनिया) “रूपये हो तो न हुक्का-पानी का काम है, न जात-बिरादरी का। दुनिया पैसे की है।” (गोबर) पैसे की ही बदौलत गोबर जंगी (भोला-पुत्र) के लिए ‘गोबरधन’ (गोवर्द्धन) बन जाता है।

इक्कीसवें परिच्छेद में होली के अवसर पर गोबर और उसके साथी नवयुवकों द्वारा गाँव के महाजनों की नक़ल का जो चित्रण है, वह मात्र हास्य के लिए नहीं है। इसमें महाजनों की खून चूसने की प्रक्रिया को मूर्त कर दिया गया है। बाद में दातादीन और नोखेराम के व्यवहार से महाजनी सभ्यता का नग्न रूप और प्रकट हुआ है। नये युग का प्रतीक गोबर उन्हें ललकारता है। अदालत की धमकी देता है। प्रेमचन्द ने इन परिच्छेद में किसानों द्वारा भारी ब्याज-दर पर लिए गए कर्ज चुकाने की समस्या को प्रमुखता दी है। धर्मभीरुता होरी को ऋण से मुक्त नहीं होने देती। मिथ्या धर्म धर्मभीरु किसानों का शोषण करता है। अज्ञानवश वे महाजनों की अनेक धाँधलियों के शिकार हो रहे हैं। परिच्छेद का शेष भाग संयुक्त परिवार की सूक्ष्मतरंग भावनाओं को छूता है। माँ-बेटे, सास-बहू, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि परिवार के समस्त रिश्तों को किस प्रकार परस्पर ठेस पहुँचाती है, दुर्भावना न होते हुए भी किस प्रकार परस्पर आरोप-आक्षेप, आलोचना-प्रत्यालोचना पारस्परिक सुख-शांति को, पारस्परिक माधुर्य को नष्ट कर देती है इस सबको यह परिच्छेद साकार करता है। परिवर्तित स्थितियों में पुत्र का अचरण किस प्रकार माता-पिता में गलतफहमियों को जन्म देता है। (गोबर द्वारा सहज ही, बहन सोना के मात्र दो घूँसे जड़ देने के फलस्वरूप, होरी-धनिया पर हुई प्रतिक्रिया तथा पत्नी झुनिया को शहर साथ ले जाने के आग्रह पर धनिया की सास-भावना का जाग उठना) यह दर्शाना भी उपन्यासकार को यहाँ अभीष्ट है। व्यक्तिगत स्वार्थ जब असंतुलित और कटु वार्तालाप में प्रकट होता है तो वह परिवार से अभिन्न संबंधों को भी तोड़

देता है। ताने-मेहने, गाली-गलौज और धुक्का-फ़ज़ीहत के बाद गोबर-झुनिया अपने पुत्र के साथ लखनऊ प्रस्थान करते हैं। गोबर धनिया को अपनी माता नहीं समझता। झुनिया द्वारा धनिया के चरण-स्पर्श करने के क्षण पर धनिया के मुँह से असीस का एक शब्द भी नहीं निकलता।

बाईसवाँ परिच्छेद आभिजात्य वर्ग की तथाकथित मित्रता पर प्रकाश डालता है। रायसाहब के प्रति तंखा और खन्ना के व्यवहार से। अभिजातवर्गीय समाज का खोखलापन भी इस परिच्छेद में द्रष्टव्य है। मेहता-मालती की महिला व्यायामशाला योजना भी इस वर्ग की छद्म प्रतिष्ठा को प्रकाशित करने में सहायक होती है। खन्ना जो प्रस्तावित 'महिला-व्यायामशाला' को व्यभिचारशाला' कहता है मालती के सामने परास्त हो जाता है। रायसाहब यदि धन को प्रतिष्ठा का मूल समझते हैं तो खन्ना भोग-विलास को जीवन की सार्थकता। अभिजातवर्ग की दुर्बलताएँ, उसके रंग-ढंग, उसकी आशा-आकांक्षाएँ, उसके तौर-तरीके आदि इस परिच्छेद में देखने को मिलते हैं।

तेईसवाँ परिच्छेद प्रमुख रूप से सिलिया-मातादीन (मतई) से सम्बन्धित है। ऋण और ब्याज से सम्बन्धित महाजनों के हौसले भी हैं, जो ग्रामीणों को कभी पनपने देना नहीं चाहते। वे अनुभव से जानते हैं, 'कानून और न्याय उसका है; जिसके पास पैसा है।' प्रेमचन्द जजमानी-प्रथा के सख्त विरोधी थे। धर्म को इसी प्रथा ने भ्रष्ट कर रखा है। धर्माडम्बर धारण और कर्मकाण्ड का पलन करने वाले ब्राह्मणों के प्रतीक दातादीन-मातादीन (पिता-पुत्र) हैं। जन्म से वे ब्राह्मण हैं; कर्म से नीच। मातादीन का चरित्र और आचरण तो चमारों से भी गये गुज़रा है। सिलिया चमारिन उसके समक्ष बहुत ऊँची है। जब तक धर्म के नाम पर पुरोहितों को भीख (दान-दक्षिणा) मिलती रहेगी, तब तक देश का उद्धार नहीं हो सकता। प्रेमचन्द ने चमारों द्वारा भतई की दुर्गति करवाके यह बात दिया है कि ऐसे धर्मध्वजियों-पाखण्डियों के साथ जनता को कैसा सलूक करना चाहिए। भतई का जनेऊ तोड़ डालना, उसके मुँह में हड्डी का टुकड़ा डाल देना, या तो चमारों को ब्राह्मण बनाओ नहीं तो भतई को चमार बना के छोड़ने की धमकी आदि घटनाएँ छुआछूत के चिह्न को मिटाने के उपक्रम हैं। अछूत-समस्या हमारे देश की आज भी एक ज्वलंत समस्या है। पुरोहितों का वर्ग आर्थिक कारणों से आज भी जीवित है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार उन्हीं के सहयोग से सम्पन्न होते हैं। इस आर्थिक लाभ को यह वर्ग छोड़ना नहीं चाहता। इस वर्ग ने अपनी सुरक्षा के सभी

प्रबन्ध कर रखे हैं, जिनमें 'परासचित' का विधान बेजोड़ है। प्रेमचन्द ने इस परिच्छेद में यह बहुत स्पष्ट कर दिया है कि जब तक पुरोहित वर्ग के धार्मिक ढोंग का पर्दाफाश नहीं होता, जब तक इस 'भिखमंगे वर्ग' को मिटा नहीं दिया जाता, तब तक धर्म के नाम पर धर्मभीरु जनता का शोषण होता रहेगा।

चौबीसवें परिच्छेद में होरी-पुत्री सोना-विवाह का प्रसंग है। सोना सत्रहवें साल में है, पर होरी का हाथ खाली है। अधिक वर्षा और दीमक के कारण सन और ज्वार की फसल नष्ट हो गयी है। कर्ज लेने अथवा खेत गिरवी रखने की नौबत है। झुनिया के कारण कुलीन वर मिलने में कठिनाई है। कन्या-ऋण से मुक्त होने के लिए होरी कुश-कन्या देना अपनी कुल-मर्यादा के विरुद्ध समझता है। निदान, वह बड़ी चतुराई से सहुआइन से दो-सौ रुपये कर्ज का बन्दोबस्त करता है। सोना का विवाह सोनारी के एक धनी किसान गौरी महतो के लड़के (मथुरा) से तय हुआ। सोना नहीं चाहती कि उसके विवाह के लिए कर्ज लिया जाए। वह सोनारी वालों से कह देना चाहती है "अगर तुमने एक पैसा भी दहेज लिया, तो मैं तुमसे ब्याह नहीं करूंगी।" अथवा "क्या गोमती यहाँ से बहुत दूर है ? डूब मरूंगी।" इस काम के लिए वह सिलिया को सोनारी भेजती है। मथुरा सोना का समर्थन करता है। बड़ी हुज्जत के बाद उसका पिता गौरी महतो दहेज की अपेक्षा नहीं करता और इस सम्बन्ध में होरी को, नाई के हाथ, पत्र भी भेज देता है। पर, धनिया 'कुल-मरजाद' का निबाह करना चाहती है। उससे जो कुछ हो सकेगा, देगी। इस प्रकार, यह परिच्छेद दहेज-प्रथा समाप्त करने के लिए सोना जैसी नवयुवती और मथुरा जैसे नवयुवक का निर्माण करता है। 'कुल-मरजाद' की निस्सारता पर परोक्ष रूप से प्रकाश डालता है। सन् '36 के आसपास सोना और मथुरा का अस्तित्व प्रेमचन्द की दूरदर्शिता का परिणाम है। ऐसे पात्रों का सर्जन करके वे दहेज-प्रथा के उन्मूलन का सही और कारगर मार्ग सुझाते हैं। समाज को बदलने के लिए ऐसी नवयुवतियों और ऐसे नवयुवकों को सामने आना होगा।

पच्चीसवें परिच्छेद में भोला की दूसरी शादी एक जवान विधवा नोहरी से होती है। इसे अनमेल विवाह कहा जाएगा। भोला-परिवार में अलगौझा होता है पिता-पुत्र में मारपीट होती है। भोला-नोहरी नोखेराम के यहाँ नौकरी करते और वहीं रहने लगते हैं। नोहरी-नोखेराम के अनुचित सम्बन्धों की आशंका सर्वत्र है। भोला भी अपने मुँह में कालिख लगी अनुभव करता है। उसे कोई सुख नहीं मिलता। पर, वह नोहरी को छोड़कर भी नहीं जा सकता। उसका पुत्र (कामता)

क्षमा-याचना कर चुका है। पचास वर्ष से अधिक के एक खंखड विधुर की जवान विधवा से शादी करवाके प्रेमचन्द इस परिच्छेद में अनमेल विवाह की असफला सिद्ध करना चाहते हैं।

छब्बीसवें परिच्छेद में लाला पटेश्वरी और महाजन मँगरू साह की धूर्तता का दृश्य है। वे होरी की ऊख नीलाम करवा देते हैं। होरी का यह हाल देखकर अब सहुआइन सोना के विवाह-खर्च के लिए दो-सौ रुपये कर्ज़ देने को राज़ी नहीं। सहसा नोहरी होरी को उधार देती है। बिना सूद के और बिना लिखा-पढ़ी के वह दो-सौ रुपये कर्ज़ देने का वचन देती है।

सत्तईसवाँ परिच्छेद गोबर-झुनिया के जीवन के अनेक चरण समेटे हुए है। झुनिया के दूसरा बच्चा पैदा होने वाला है। उसका पहला बच्चा (लल्लू) मर जाता है। गोबर ने खोंचे से निराश हाकर शक्कर-मिल में नौकरी कर ली है। उसे शराब का चस्का भी पड़ गया है। झुनिया को गालियाँ देता और पीटता है। लकड़ी की दूकान चलानेवाली पड़ोस की एक औरत (चुहिया) प्रसव-काल में झुनिया की सहायक होती है। झुनिया के पुत्र होता है। उधर शक्कर-मिल में हंगामा होता है। बजट में शक्कर पर ड्यूटी लगने के कारण मिल-मालिकों को मजूरी घटाने का बहाना मिलता है। मिर्जा खुर्शेद, 'बिजली'-सम्पादक पण्डित ओंकारनाथ आदि मज़दूरों से हड़ताल करवाते हैं। मिल-मालिक नई भर्ती करते हैं। इस पर दंगा हो जाता है। अनेक मज़दूर मारे जाते हैं। गोबर गम्भीर रूप से घायल हो जाता है। चुहिया, फिर गोबर-परिवार को सहायक होती है। झुनिया घास छीलकर कमाती है। गोबर धीरे-धीरे ठीक होने लगता है। वह झुनिया के प्रति अब उदार है। प्रायश्चित्त करना चाहता है। वस्तुतः यह परिच्छेद मज़दूर के अंतरंग जीवन का साक्षी है। मज़दूरों से कितना कड़ा काम लिया जाता है। थकान मिटाने के उद्देश्य से वे फिर, शराब पीना शुरू कर देते हैं। नेतागण हड़तालें करवाके अपनी नेतागिरी बरकरार रखना चाहते हैं। उन्हें मज़दूरों के सुख-दुख से कोई सरोकार नहीं। मज़दूर-आन्दोलन के कारण 'बिजली' की प्रतियाँ खूब बिकती हैं। पर, फौजदारी के मौके पर बिजली-सम्पादक भाग खड़े होते हैं। यह परिच्छेद एक प्राकर से गाँव के किसान और नगर के मज़दूर के जीवन का अन्तर भी दर्शाता है। झुनिया इस अन्तर को अनुभव करती है। नगरों में न रहने को जगह है, न कोई पारस्परिक आत्मीयता। चुहिया का होना तो आकस्मिक है। यदि वह न होती तो गोबर-परिवार का नामो-निशां न रहता। गोबर के माध्यम से मज़दूर-जीवन में प्रेमचन्द बड़ी गहराई से प्रवेश करते हैं। मज़दूर की दशा सुधारने के लिए यह परिच्छेद अनेक

विचार-बिन्दु प्रदान करता है।

अट्टाईसवाँ परिच्छेद शंकर-मिल के मालिक मिस्टर चन्द्रप्रकाश खन्ना के जीवन-परिवर्तन का परिच्छेद है। उनकी धर्मपत्नी गोविंदी और प्रोफ़ेसर मेहता उन्हें नव-जीवन का आलोक प्रदान करते हैं। वे तबाह हो जाते हैं। प्रोफ़ेसर मेहता उन्हें समझाते हैं “दौलत से आदमी को जो सम्मान मिलता है, वह उसका सम्मान नहीं, उसकी दौलत का सम्मान है।” गोविंदी के शब्दों में “जीवन का सुख दूसरों को सुखी करने में है, उनको लूटने में नहीं।” आज भी अनेक ग़रीब मज़दूरों की दशा प्रोफ़ेसर मेहता द्वारा चित्रित स्थिति के अनुरूप है “आपके मज़ूर बिलों में रहते हैं गंदे बदबूदार बिलों में जहाँ आप एक मिनट भी रह जाएँ तो आपको कै हो जाए। कपड़े जो पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खाएगा। ऐसे मज़ूरों का वेतन घटाना क्या न्यायोचित है ? मज़दूरों की ओर यदि पूँजीपतियों ने और सरकार ने ध्यान नहीं दिया तो मिलों के लोहे के गार्डर इसी प्रकार जलेंगे।” प्रेमचन्द की सारी सहानुभूति मज़दूरों के प्रति है।

उन्तीसवाँ परिच्छेद भोला-नोहरी प्रसंग से शुरू होता है “एक दिन गाँव में यह ख़बर फैली कि नोहरी ने मार जूतों के भोला की चाँद गंजी कर दी।” इधर मातादीन में परिवर्तन आता है (“समाज के नाते आदमी का अगर कुछ धरम है, तो मनुष्य के नाते भी तो उसका कुछ धरम है।” मातादीन)। वह सिलिया को दो रुपये देने होरी के पास आता है। सिलिया अब पुत्रवती है। मातादीन के व्यवहार से सिलिया बेहद प्रसन्न और तुष्ट है। प्रसन्नता के आवेश में वह रात में ही शुभ समाचार देने सोना के घर जाती है। वहाँ एकांत में मथुरा सिलिया को छेड़ना चाहता है, पर बाद में लज्जित होता है। सोना को कुछ सन्देह हो जाता है। वह सिलिया से तनिक भी प्रेम से नहीं मिलती। अन्त में सारी सच्चाई उगलवा लेती है। सिलिया विक्षिप्त-सी वापस लौटती है। मातादीन के परिवर्तित रूप से सिवा यह परिच्छेद कोई महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत नहीं करता। मथुरा-सिलिया प्रसंग जीवन की वास्तविकता का मात्र एक अंग है।

तीसवाँ परिच्छेद यद्यपि शंकर-मिल के मज़दूरों की समस्या से शुरू होता है, पर प्रमुख रूप से वह मालती-मेहता के सम्बन्धों पर लिखा गया है। मालती-मेहता देहात-प्रेमवश बेलारी गाँव पहुँचते हैं। वहाँ होरी को पहचान लेते हैं। डा. मालती बच्चों को देखती है, दवा देती है और गाँव की स्त्रियों को सफ़ाई का महत्त्व

समझाती है। ग्रामीणों को सूदखोर महाजनों के पंजों से बचाने के लिए प्रस्ताव रखती है कि सरकार उन्हें नाममात्र के ब्याज पर रुपये दे। रात में मेहता-मालती नौका-विहार करते हैं। यहाँ प्रेम और स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों पर उनकी विस्तार से और गहन चर्चा होती है। दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। मेहता दार्शनिक होते हुए भी मानवोचित और स्थूल दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जबकि मालती का दृष्टिकोण भावुकतापूर्ण और आदर्शवादी है। यद्यपि मालती की विलास-भावना प्रोफ़ेसर मेहता के प्रभाव में आने से ही दूर हुई है। मेहता के लिए प्रेम में बेवफ़ाई असहनीय है, जबकि मालती प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती है। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। मेहता श्रद्धा और सेवा को प्रेम का पर्याय नहीं मानते। प्रेम का यह सारा सैद्धान्तिक विवेचन पर्याप्त जटिल और उलझा हुआ है।

इकतीसवाँ परिच्छेद रायसाहब की पारिवारिक समस्याओं से सम्बद्ध है। वस्तुतः उनकी समस्या जितनी निजी है, उतनी ही सार्वजनिक। आधुनिक युग में शिक्षित पुत्र अथवा पुत्री के विवाह का प्रश्न कभी-कभी नई और परम्परागत विचारधाराओं का संघर्ष बन जाता है। रायसाहब की कन्या की शादी धूमधाम से हो जाती है। मुक़दमा वे जीत जाते हैं। निर्वाचन में सफल हो जाते हैं। 'राजा' की पदवी उन्हें मिलती है। पर, इतनी सफलताओं के बाद अब उनके मानसिक क्लेश का समय शुरू होता है। पुत्र इन्द्रपाल सिंह उनकी इच्छानुसार सूर्यप्रताप सिंह की सुपुत्री से विवाह करने से इंकार कर देता है और मालती की बहन सरोज से विवाह कर इंग्लैंड चला जाता है। प्रोफ़ेसर मेहता रुद्रपाल-सरोज विवाह का समर्थन करते हैं। तदुपरांत उनकी लड़की (मीनाक्षी) और दामाद (दिग्विजयसिंह) का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। दामाद ऐयाश और शराबी है। मीनाक्षी जो पहले हिन्दू बालिकाओं की तरह बेजबान थी, पति से गुज़ारे की डिग्री पाने के बाद हंटर लेकर उसके बँगले पर पहुँचती है, जहाँ शोहदे जमा थे और वेश्या का नाच हो रहा था। वहाँ पहुँचकर कुँवर साहब समेत सब शोहदों के हंटर लगाती है। वेश्या उसके पैरों पर गिर पड़ती है। दिग्विजयसिंह और मीनाक्षी दोनों एक दूसरे के खून के प्यासे बन गए। रायसाहब सब तरफ़ से निराश होकर उपासना और भक्ति की ओर झुके। पर उन्हें शांति नहीं मिली। मोह-मुक्त वे न हो सके। अस्वस्थ भी रहने लगे। इस परिच्छेद में मिस्टर तंखा जैसे स्वार्थी, धूर्त और चाटुकार की खूब कलाई खोली जाती है। दुष्ट तंखा रुद्रपाल का सलाहकार और पैरोकार बनकर रायसाहब पर हिसाबफहमी का दावा करता है। इस प्रकार रायसाहब के जीवन को विस्तार से चित्रित करके

यह बताया गया है कि मात्र धन और यश से मनुष्य की आत्मा को शांति नहीं मिल सकती। मीनाक्षी और रुद्रपाल के विवाह-प्रसंग वैवाहिक समस्या के अनेक पहलुओं को सामने रखते हैं।

बत्तीसवें परिच्छेद में मिर्जा खुर्शेद वेश्याओं की नाटक-मण्डली बनाते नजर आते हैं। 'गोदान' में वेश्या-समस्या के लिए कोई स्थान न हाने पर भी प्रेमचन्द इस प्रकार उसे समाविष्ट कर बैठे हैं। इस परिच्छेद में वर्णित सामग्री यदि इस उपन्यास में न होती तो भी उपन्यास की कथा अथवा रचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर, प्रेमचन्द का विभिन्न समस्याओं प्रति जो रुझान है, वह किसी-न-किसी रूप में उभर ही आता है। इस परिच्छेद में मिर्जा खुर्शेद और प्रोफ़ेसर मेहता वेश्या-जीवन और उसकी मूल समस्या पर बहस करते दिखाई देते हैं। प्रसंग चाहे मूल कृति से कितना ही असम्बद्ध हो, प्रेमचन्द को इसकी चिन्ता नहीं। मिर्जा साहब के द्वारा वे कहलाते हैं "रूप के बाज़ार में वे ही स्त्रियाँ आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर में किसी कारण से सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता, या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती हैं और अगर यह दोनों प्रश्न हल कर दिए जाएँ, तो बहुत कम औरतें इस भाँति पतित हों।" मानों वेश्या समस्या का हल उन्होंने खोज लिया है। वेश्याओं की नाटक-मण्डली की निरर्थकता सिद्ध करते हुए प्रोफ़ेसर मेहता कहते हैं "जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं।"

तैतीसवाँ परिच्छेद डा. मेहता और मालती के सम्बन्धों को निश्चित करता है। मेहता अब मालती के बँगले में रहने लगे हैं। उनके खर्च पर मालती का नियंत्रण है। गोबर माली बनकर मालती के यहाँ सपरिवार रहने लगा है। उसके पुत्र मंगल के चेचक निकलती है। दो सप्ताह में मंगल अच्छा हो जाता है। मालती की सेवा-सुश्रूषा देखकर मेहता उसके और निकट आते हैं और उससे अभिन्न हो जाना चाहते हैं। पर, मालती का निश्चय है, "मित्र बन कर रहना स्त्री पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है।" अन्त में मेहता मालती के चरण दोनों हाथों से पकड़कर उसका आदेश स्वीकारते हैं। दोनों एक मन होकर प्रगाढ़ अलिंगन में बँध जाते हैं। मेहता-मालती के यह मित्र-सम्बन्ध न तो वैयक्तिक समस्या का निदान हैं, और न ही स्त्री पुरुष के सह-जीवन का कोई व्यावहारिक आदर्श। यहाँ बँगले (मालती) और झोंपड़ी (गोबर) में भी कोई संघर्ष नहीं, वरन् मानवता का सर्वोत्तम उपलब्ध है।

चौतीसवाँ परिच्छेद सिलिया-मातादीन को एक कर देता है। सिलिया का दो

वर्ष का बालक (रामू) निमोनिया से मर जाता है। कई सौ रुपये खर्च करने के बाद मातादीन काशी के पण्डित की कृपा से पुनः ब्रह्माण बन चुका है। उसे शुद्ध गोबर और गोमूत्र पीना पड़ा। पर, इस प्रायश्चित्त-विधान से उसने धर्म-स्तम्भों को अच्छी तरह परख लिया। उसकी मानवता निखर गई। उसने जनेऊँ उतार फेंका और पुरोहिती को गंगा में डुबो दिया। सिलिया को सदा के लिए अपनाकर और उसके साथ अपना घर बसाकर कहता है “मैं ब्राह्मण नहीं, चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले, वही ब्राह्मण है ; जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।” यहाँ भी मानवता का सर्वोत्तम उपलब्ध है। जाति-वर्ग की दीवारें गिर जाती हैं। अनेक धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक बन्धन टूट जाते हैं। नये समाज की मजबूत नींव पर सिलिया-मातादीन का जीवन-सदन खड़ा होता है। दूषित परम्पराएँ, गलित रूढ़ियाँ और शोषण की प्रतीक सभी व्यवस्थाएँ भंग हो जाती हैं।

पैंतीसवाँ परिच्छेद होरी के जीवन की सबसे गहरी चोट है। तीन साल से लगान बाकी पड़ा हुआ था। पण्डित नोखेराम ने उसे पर बेदखली का दावा कर दिया है। उसकी तीन बीघे जमीन हाथ से निकलने वाली है। तभी दातादीन चालीस वर्षीय रामसेवक महतो (होरी से दो ही चार साल छोटा) से रूपा के विवाह का प्रस्ताव लेकर आता है। होरी प्रस्ताव स्वीकार करने को विवश है। रामसेवक द्वारा प्रेषित दातादीन से दो सौ रुपये काँपते हाथों से ग्रहण करता है और तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद आज अपने को बिलकुल परास्त अनुभव करता है। गोबर भी सपरिवार विवाह में सम्मिलित होने आता है। वह अपने पिछले दुर्व्यवहार का प्रायश्चित्त करना चाहता है। रामसेवक के मुख से किसानों और गाँवों की दयनीय स्थिति का विस्तार से वर्णन भी प्रेमचन्द इस परिच्छेद में करवाते हैं। रामसेवक का उद्देश्य भले ही धनिया-होरी को प्रभावित करना रहा हो, प्रेमचन्द का उद्देश्य तो निश्चय ही दोहरा है। सारे गाँव में “ऐसा एक आदमी भी नहीं, जिसकी रोनी सूरत न हो।”...चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिए कि पिसना और घुटना उनकी तकदीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग।

छत्तीसवें परिच्छेद में, ‘गोदान’ ही समाप्त नहीं होता, होरी की जीवन-लीला भी समाप्त होती है। सर्वप्रथम रूपा के विवाह में मालती के आने और रूपा के ससुराल में सुखी और संतुष्ट रहने की सूचना मिलती है। गोबर अकेला लखनऊ चला जाता है। होरी आठ आने रोज़ पर कंकड की खुदाई पर लग जाता है। उसकी

अभिलाषा है “अगर यह काम दो महीने भी टिक गया तो गाय-भर के रुपये मिल जाएंगे।” रात में वह और धनिया सुतली कातते हैं। उधर अचानक सुबह हीरा आ जाता है। पाँच साल पागलखाने में रहने के बाद हीरा होरी के कदमों में गिर पड़ता है। होरी अपार प्रसन्नता का अनुभव करता है। पर, उस रोज़ मज़दूरी करते होरी को लू लग जाती है। कै होती है और हाथ-पैर ठंडे होने लगते हैं। धनिया, हीरा और सोभा खटोले की डोली में होरी को घर लाते हैं। होरी की मृत्यु का बड़ा करुण चित्र प्रेमचन्द अंकित करते हैं। गाय की लालसा उसके मन में ही रह जाती है। अन्तिम समय में गोदान की आवाज़ें आती हैं। “धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रखकर दातादीन से बोली “महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।” ‘गोदान’ का अन्त ग्रामीण परिवेश में ही होता है। होरी के माध्यम से ‘गोदान’ भारतीय कृषक की जीवनगाथा है विस्तृत फलक होते हुए भी ‘गोदान’ ग्रामीण जीवन और ग्रामीण जनता के अभावों, संघर्षों, दुःख-दर्दों, चिन्ताओं और अभिलाषाओं का ‘महाकाव्य’ है।

५

प्रेमचंद : कथा-कोश / कहानी-तालिका

- 1 अंधेर / गुप्त धन (1) / क्र. 13 ..
- 2 अग्नि-समाधि / मानसरोवर (5) / क्र. 13 ..
- 3 अधिकार चिन्ता / मानसरोवर (6) / क्र. 19 ..
- 4 अनाथ लड़की / गुप्त धन (1) / क्र. 17 ..
- 5 अनिष्ट शंका / मानसरोवर (8) / क्र. 26 ..
- 6 अनुभव / मानसरोवर (1) / क्र. 20 ..
- 7 अपनी करनी / गुप्त धन (1) / क्र. 20 ..
- 8 अभिलाषा / मानसरोवर (4) / क्र. 8 ..
- 9 अमावस्या की रात /..सरोवर (6) / क्र. 14 ..
- 10 अमृत / मानसरोवर (1) / क्र. 19 ..
- 11 अलग्ग्योझा / मानसरोवर (1) / क्र. 1 ..
- 12 आसुओं की होली / मानसरोवर (5) / क्र. 12 ..
- 13 आखिरी तोहफ़ा / गुप्त धन (2) / क्र. 10 ..
- 14 आखिरी मंज़िल / गुप्त धन (1) / क्र. 6 ..
- 15 आखिरी हीला / मानसरोवर (1) / क्र. 22 ..
- 16 आगा-पीछा / मानसरोवर (4) / क्र. 10 ..
- 17 आत्म-संगीत / मानसरोवर (5) / क्र. 17 ..
- 18 आत्माराम / मानसरोवर (7) / क्र. 9 ..
- 19 आदर्श विरोध / मानसरोवर (8) / क्र. 24 ..
- 20 आधार / मानसरोवर (3) / क्र. 9 ..
- 21 आपबीती / मानसरोवर (6) / क्र. 17 ..
- 22 आवे-हयात / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 1 ..
- 23 आभूषण / मानसरोवर (6) / क्र. 9 ..
- 24 आल्हा / मानसरोवर (1) / क्र. 7 ..

- 25 आहुति / कफ़न / क्र. 10 ..
- 26 इज्जत का खून / गुप्त धन (2) / क्र. 2 ..
- 27 इस्तीफ़ा / मानसरोवर (5) / क्र. 24 ..
- 28 ईदगाह / मानसरोवर (1) / क्र. 2 ..
- 29 ईश्वरीय न्याय / मानसरोवर (5) / क्र. 19 ..
- 30 उद्धार / मानसरोवर (3) / क्र. 4 ..
- 31 उन्माद / मानसरोवर (2) / क्र. 9 ..
- 32 उपदेश / मानसरोवर (8) / क्र. 30 ..
- 33 एक आँच की क़सर / मानसरोवर (3) / क्र. 10 ..
- 34 एक्ट्रेस / मानसरोवर (5) / क्र. 18 ..
- 35 कजाकी / मानसरोवर (5) / क्र. 11 ..
- 36 कप्तान साहब / मानसरोवर (5) / क्र. 23 ..
- 37 कफ़न / कफ़न / क्र. 1 ..
- 38 करिश्मा-ए-इन्तिकाम / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 15 ..
- 39 कर्मों का फल / गुप्त धन (1) / क्र. 18 ..
- 40 कवच / गुप्त धन (2) / क्र. 24 ..
- 41 कश्मीरी सेव / कफ़न / क्र. 6 ..
- 42 क़ातिल / गुप्त धन (2) / क्र. 11 ..
- 43 क़ातिल की माँ / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 6 ..
- 44 क़ानूनी कुमार / मानसरोवर (2) / क्र. 22 ..
- 45 कामना-तरु / मानसरोवर (5) / क्र. 5 ..
- 46 कायर / मानसरोवर (1) / क्र. 17 ..
- 47 क्रिकेट मैच / गुप्त धन (2) / क्र. 29 ..
- 48 कुत्सा / मानसरोवर (2) / क्र. 11 ..
- 49 कुसुम / मानसरोवर (2) / क्र. 1 ..
- 50 क़ैदी / मानसरोवर (2) / क्र. 6 ..
- 51 कोई दुखी न हो.../गुप्त धन(2)/क्र.30 ..

- 52 कौशल / मानसरोवर (3) / क्र. 7 ..
- 53 क्षमा / मानसरोवर (3) / क्र. 20 ..
- 54 खुचड़ / मानसरोवर (4) / क्र. 7 ..
- 55 खुदाई खिदमतगार/मानसरोवर(2)/ क्र. 2 ..
- 56 खुदी / गुप्त धन (2) / क्र. 7 ..
- 57 खून सफ़ेद / मानसरोवर (8) / क्र. 1 ..
- 58 खौफ़े-रुसवाई /16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 7 ..
- 59 ग़मी / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 16 ..
- 60 गरीब की हाय /मानसरोवर(8) / क्र. 2 ..
- 61 गिला / मानसरोवर (1) / क्र. 25 ..
- 62 गुप्त धन / मानसरोवर (8) / क्र. 23 ..
- 63 गुरु-मंत्र / मानसरोवर (3) / क्र. 22 ..
- 64 गुल्ली डंडा / मानसरोवर (1) / क्र. 13 ..
- 65 ग़ैरत की कटार/ गुप्त धन (1) / क्र. 21 ..
- 66 गृह-दाह / मानसरोवर (6) / क्र. 11 ..
- 67 गृह-नीति / मानसरोवर (2) / क्र. 21 ..
- 68 घमण्ड का पुतला/गुप्त धन (1) / क्र. 22 ..
- 69 घर जमाई / मानसरोवर (1) / क्र. 10 ..
- 70 घासवाली / मानसरोवर (1) / क्र. 24 ..
- 71 चकमा / मानसरोवर (6) / क्र. 15
- 72 चमत्कार / मानसरोवर (2) / क्र. 4
- 73 चोरी / मानसरोवर (5) / क्र. 9
- 74 जादू / मानसरोवर (2) / क्र. 24
- 75 जिहाद / मानसरोवर (7) / क्र. 14
- 76 जीवन का शाप / मानसरोवर (2) / क्र. 18
- 77 जुगनू की चमक / कफ़न / क्र. 10

- 78 जुलमाना / मानसरोवर (6) / क्र. 3
79 जुलूस / मानसरोवर (7) / क्र. 4
80 जेल / मानसरोवर (7) / क्र. 1
81 ज्योति / मानसरोवर (1) / क्र. 14
82 ज्वालामुखी / मानसरोवर (8) / क्र. 10
83 झाँकी / मानसरोवर (1) / क्र. 12
84 ठाकुर का कुआँ / मानसरोवर (1) / क्र. 9
85 डामुल का कैदी / मानसरोवर (2) / क्र. 19
86 डिक्री के रूपए / मानसरोवर (3) / क्र. 26
87 डिमांसट्रेशन / मानसरोवर (4) / क्र. 6
88 ढपोर शंख / मानसरोवर (4) / क्र. 5
89 तगादा / मानसरोवर (4) / क्र. 3
90 तथ्य / कफन / क्र. 8
91 ताँगेवाले का बड़ / गुप्त धन (2) / क्र. 20
92 तावान / मानसरोवर (1) / क्र. 23
93 तिरसूल / गुप्त धन (2) / क्र. 14
94 तेंतर / मानसरोवर (3) / क्र. 13
95 त्यागी का प्रेमी / मानसरोवर (6) / क्र. 3
96 त्रिया-चरित्र / गुप्त धन (1) / क्र. 10
97 दण्ड / मानसरोवर (3) / क्र. 15
98 दफ्तरी / मानसरोवर (8) / क्र. 17
99 दरोगा जी / मानसरोवर (4) / क्र. 7
100 दिल की रानी / मानसरोवर (1) / क्र. 15
101 दीक्षा / मानसरोवर (3) / क्र. 19
102 दुनिया का सबसे अनमोल रत्न / गुप्त धन (1) / क्र. 1
103 दुर्गा का मंदिर / मानसरोवर (7) / क्र. 10

- 104 दुस्साहस / मानसरोवर (8) / क्र. 21
105 दूध का दाम / मानसरोवर (2) / क्र. 16
106 दूसरी शादी / गुप्त धन (2) / क्र. 25
107 देवी / गुप्त धन (2) / क्र. 27
108 देवी / गुप्त धन (2) / क्र. 6
109 दो कब्रें / मानसरोवर (4) / क्र. 4
110 दोनों तरफ़ से / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 8
111 दो बहनें / कफ़न / क्र. 9
112 दो बैलों की कथा / मानसरोवर (2) / क्र. 12
113 दो भाई / मानसरोवर (7) / क्र. 17
114 दो सखियाँ / मानसरोवर (4) / क्र. 18
115 धिक्कार / मानसरोवर (1) / क्र. 16
116 धिक्कार / मानसरोवर (3) / क्र. 16
117 धर्म-संकट / मानसरोवर (8) / क्र. 4
118 धोखा / मानसरोवर (6) / क्र. 12
119 नमक का दरोगा / मानसरोवर (8) / क्र. 29
120 नया विवाह / मानसरोवर (2) / क्र. 25
121 नरक का मार्ग / मानसरोवर (3) / क्र. 2
122 नशा / मानसरोवर (1) / क्र. 7
123 नसीहतों का दफ़्तर / गुप्त धन (1) / क्र. 8
124 नाग-पूजा / मानसरोवर (7) / क्र. 23
125 नादान दोस्त / गुप्त धन (2) / क्र. 4
126 निमंत्रण / मानसरोवर (5) / क्र. 2
127 निर्वासन / मानसरोवर (3) / क्र. 5
128 नेउर / मानसरोवर (2) / क्र. 20
129 नेकी / गुप्त धन (1) / क्र. 15

- 130 नैराश्य / मानसरोवर (3) / क्र. 14
131 नैराश्य लीला / मानसरोवर (3) / क्र. 6
132 न्याय / मानसरोवर (2) / क्र. 10
133 पंच परमेश्वर / मानसरोवर (7) / क्र. 12
134 पंडित मोटेराम की डायरी / कफ़न / क्र. 12
135 पछतावा / मानसरोवर (6) / क्र. 16
136 पत्नी के प्रति / मानसरोवर (7) / क्र. 2
137 परीक्षा / मानसरोवर (3) / क्र. 31
138 परीक्षा / मानसरोवर (6) / क्र. 12
139 पर्वत-यात्रा / गुप्त धन (2) / क्र. 23
140 पशु से मनुष्य / मानसरोवर (8) / क्र. 11
141 पाप का अग्निकुंड / मानसरोवर (6) / क्र. 8
142 पिसनहारी का कुआँ / मानसरोवर (5) / क्र. 15
143 पुत्र-प्रेम / गुप्त धन (2) / क्र. 1
144 पूर्व-संस्कार / मानसरोवर (8) / क्र. 20
145 पूस की रात / मानसरोवर (1) / क्र. 11
146 पैपुजी / गुप्त धन (2) / क्र. 28
147 प्रतिशोध / गुप्त धन (2) / क्र. 5
148 प्रायश्चित / मानसरोवर (5) / क्र. 22
149 प्रारब्ध / मानसरोवर (7) / क्र. 20
150 प्रेम का उदय / मानसरोवर (4) / क्र. 11
151 प्रेम की होली / कफ़न / क्र. 13
152 प्रेम-सूत्र / गुप्त धन (2) / क्र. 19
153 प्रेरणा / मानसरोवर (4) / क्र. 1
154 फ़तिहा / मानसरोवर (7) / क्र. 15
155 बंद दरवाज़ा / गुप्त धन (2) / क्र. 13

- 156 बड़ी बहन / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 9
157 बड़े घर की बेटी / मानसरोवर (7) / क्र. 11
158 बड़े बाबू / गुप्त धन (2) / क्र. 8
159 बड़े भाई साहब / मानसरोवर (1) / क्र. 5
160 बरात / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 2
161 बलिदान / मानसरोवर (8) / क्र. 7
162 बहिष्कार / मानसरोवर (5) / क्र. 8
163 बाँका ज़मींदार / गुप्त धन (1) / क्र. 16
164 बाबाजी का भोग / मानसरोवर (3) / क्र. 31
165 बालक / मानसरोवर (2) / क्र. 17
166 बासी भात में खुदा का साझा / मानसरोवर (2) / क्र. 15
167 बूढ़ी काकी / मानसरोवर (8) / क्र. 15
168 बेटी का धन / मानसरोवर (8) / क्र. 3
169 बेटों वाली विधवा / मानसरोवर (1) / क्र. 4
170 बैंक का दिवाला / मानसरोवर (7) / क्र. 8
171 बोध / मानसरोवर (8) / क्र. 8
172 बोहनी / गुप्त धन (2) / क्र. 12
173 बौडम / मानसरोवर (8) / क्र. 22
174 ब्रह्म का स्वाँग / मानसरोवर (8) / क्र. 13
175 भाड़े का टट्टू / मानसरोवर (3) / क्र. 30
176 भूत / मानसरोवर (4) / क्र. 14
177 मंदिर / मानसरोवर (5) / क्र. 1
178 मंदिर और मसज़िद / गुप्त धन (2) / क्र. 18
179 मंत्र / मानसरोवर (5) / क्र. 4
180 मंत्र/ मानसरोवर (5) / क्र. 21
181 मनावत / गुप्त धन (1) / क्र. 12

- 182 मनुष्य का परम धर्म / मानसरोवर (3) / क्र. 21
183 मनोवृत्ति / मानसरोवर (1) / क्र. 27
184 ममता / मानसरोवर (5) / क्र. 20
185 मर्यादा की वेदी / मानसरोवर (6) / क्र. 6
186 महातीर्थ / मानसरोवर (7) / क्र. 18
187 माँ / मानसरोवर (1) / क्र. 3
188 माँगे की घड़ी / मानसरोवर (4) / क्र. 19
189 माता का हृदय / मानसरोवर (3) / क्र. 11
190 मिलाप / गुप्त धन (1) / क्र. 11
191 मिस पद्मा / मानसरोवर (2) / क्र. 7
192 मुक्ति-धन / मानसरोवर (3) / क्र. 18
193 मुक्ति-मार्ग / मानसरोवर (3) / क्र. 25
194 मुफ्त का यश / मानसरोवर (2) / क्र. 14
195 मुबारक बीमारी / गुप्त धन (1) / क्र. 25
196 मूठ / मानसरोवर (8) / क्र. 12
197 मैकू / मानसरोवर (7) / क्र. 5
198 मोटर के छींटें / मानसरोवर (2) / क्र. 5
199 मोटेराम जी शास्त्री / गुप्त धन (2) / क्र. 22
200 मृतक-भोज / मानसरोवर (4) / क्र. 13
201 मृत्यु के पीछे / मानसरोवर (6) / क्र. 7
202 यह भी नशा, वह भी नशा / कफ़न / क्र. 14
203 यह मेरी मातृभूमि है / मानसरोवर (6) / क्र. 1
204 रसिक सम्पादक / मानसरोवर (1) / क्र. 26
205 रहस्य / कफ़न / क्र. 4
206 राजहठ / गुप्त धन (1) / क्र. 9
207 राजा हरदौल / मानसरोवर (6) / क्र. 2

- 208 राज्य-भक्त / मानसरोवर (6) / क्र. 18
209 रानी सारन्धा / मानसरोवर (6) / क्र. 4
210 रामलीला / मानसरोवर (5) / क्र. 3
211 राष्ट्र का सेवक / गुप्त धन (2) / क्र. 9
212 रियासत का दीवान / मानसरोवर (2) / क्र. 13
213 रूहे-सियाह / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 10
214 रोशनी / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 3
215 लांछन / मानसरोवर (5) / क्र. 10
216 लांछन / मानसरोवर (1) / क्र. 21
217 लाग-डॉट / मानसरोवर (6) / क्र. 13
218 लाटरी / मानसरोवर (2) / क्र. 23
219 लेखक / कफ़न / क्र. 2
220 लैला / मानसरोवर (3) / क्र. 17
221 लोकमत का सम्मान / मानसरोवर (7) / क्र. 22
222 वज्रपात / मानसरोवर (3) / क्र. 28
223 वफ़ा का खंजर / गुप्त धन (1) / क्र. 24
224 वासना की कड़ियाँ / गुप्त धन (1) / क्र. 26
225 विक्रमादित्य का तेगा / गुप्त धन (1) / क्र. 5
226 विचित्र होली / मानसरोवर (3) / क्र. 24
227 विजय / गुप्त धन (1) / क्र. 23
228 विद्रोही / मानसरोवर (2) / क्र. 8
229 विध्वंस / मानसरोवर (8) / क्र. 18
230 विनोद / मानसरोवर (3) / क्र. 32
231 विमाता / मानसरोवर (8) / क्र. 14
232 वियोग और मिलाप / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 14
233 विश्वास / मानसरोवर (3) / क्र. 1

- 234 विस्मृति / मानसरोवर (7) / क्र. 19
235 वेश्या / मानसरोवर (2) / क्र. 3
236 वैर का अंत / मानसरोवर (7) / क्र. 16
237 वैराग्य / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 4
238 शंखनाद / मानसरोवर (7) / क्र. 13
239 शतरंज के खिलाड़ी / मानसरोवर (3) / क्र. 27
340 शराब की दूकान / मानसरोवर (7) / क्र. 3
241 शान्ति / मानसरोवर (1) / क्र. 6
242 शान्ति / मानसरोवर (7) / क्र. 7
243 शादी की वजह / गुप्त धन (2) / क्र. 21
244 शाप / मानसरोवर (6) / क्र. 5
245 शिकार / मानसरोवर (1) / क्र. 18
246 शिकारी राजकुमार / मानसरोवर (8) / क्र. 6
247 शुद्धी / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 15
248 शूद्रा / मानसरोवर (2) / क्र. 26
249 शेख मखमूर / गुप्त धन (1) / क्र. 2
250 शोक का पुरस्कार / गुप्त धन (1) / क्र. 3
251 सचाई का उपहार / मानसरोवर (8) / क्र. 9
252 सज्जनता का दंड / मानसरोवर (8) / क्र. 28
253 सती / मानसरोवर (4) / क्र. 12
254 सती / मानसरोवर (5) / क्र. 6
255 सत्याग्रह / मानसरोवर (3) / क्र. 29
256 सद्गति / मानसरोवर (4) / क्र. 2
257 सभ्यता का रहस्य / मानसरोवर (4) / क्र. 16
258 समर-यात्रा / मानसरोवर (7) / क्र. 6
259 समस्या / मानसरोवर (4) / क्र. 17

- 260 सम्पादक मोटेराम शास्त्री / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 12
- 261 सवा सेर गेहूँ / मानसरोवर (4) / क्र. 15
- 262 सांसारिक प्रेम और देश प्रेम / गुप्त धन (1) / क्र. 4
- 263 सिर्फ एक आवाज़ / गुप्त धन (1) / क्र. 14
- 264 सुजान-भगत / मानसरोवर (5) / क्र. 14
- 265 सुभागी / मानसरोवर (1) / क्र. 19
- 266 सुहाग की साड़ी / मानसरोवर (7) / क्र. 21
- 267 सेवा मार्ग / मानसरोवर (8) / क्र. 5
- 268 सैलानी बन्दर / गुप्त धन (2) / क्र. 16
- 269 सोहाग का शव / मानसरोवर (5) / क्र. 16
- 270 सौत / गुप्त धन (2) / क्र. 26
- 271 सौत / मानसरोवर (8) / क्र. 27
- 272 सौभाग्य के कीड़े / मानसरोवर (3) / क्र. 23
- 273 स्त्री और पुरुष / मानसरोवर (3) / क्र. 3
- 274 स्मृति का पुजारी / मानसरोवर (4) / क्र. 20
- 275 स्वत्व-रक्षा / मानसरोवर (8) / क्र. 19
- 276 स्वप्न / 16 अप्राप्य कहानियाँ / क्र. 13
- 277 स्वर्ग की देवी / मानसरोवर (3) / क्र. 8
- 278 स्वाँग / गुप्त धन (2) / क्र. 15
- 279 स्वामिनी / मानसरोवर (1) / क्र. 8
- 280 हार की जीत / मानसरोवर (8) / क्र. 16
- 281 हिंसा परमो धर्म: / मानसरोवर (5) / क्र. 7
- 282 होली का उपहार / कफ़न / क्र. 11
- 283 होली की छुट्टी / गुप्त धन (2) / क्र. 3



समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद : अभिमत

डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

डा. महेन्द्रभटनागर ने प्रेमचंद के जीवन-दर्शन और मानवतावादी पक्ष का बहुत उत्तम विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि " प्रेमचंद मानवतावादी लेखक थे। गांधीवादी या साम्यवादी सिद्धान्तों से उन्होंने सीधी प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उन्होंने जो कुछ जाना, सीखा, लिया; वह सब अपने अनुभव मात्र से। इसीलिए उनके साहित्य में अपरास्त शक्ति है। गांधीवाद और साम्यवाद कोई मानवता के विरोधी नहीं हैं; अतः प्रेमचंद के विचारों में जगह-जगह दोनों की झलक मिल जाती है। लेकिन उनका मानवतावाद सर्वत्र उभरा दीखता है।" यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि प्रेमचंद पूर्णरूप से मानवतावादी थे। उनके उपन्यासों में और लेखों में जड़-सम्पत्ति मोह चाहे वह परम्परागत सुविधा के रूप में हो, ज़मींदारी या महाजनी वृत्ति का परिणाम हो, या उच्चतर पेशों से उपलब्ध हो - मानव की स्वाभाविक सद्गुणों को रुद्ध करता है। प्रेमचंद ने सचाई और ईमानदारी को मनुष्य का सबसे बड़ा उन्नायक गुण समझा है। प्रेम उनकी दृष्टि में पावनकारी तत्त्व है। जब वह मनुष्य में सचमुच उदित होता है तो उसे त्याग और सचाई की ओर उन्मुख करता है। महेन्द्रभटनागर जी ने बड़ी कुशलतापूर्वक प्रेमचंद की इस मानवतावादी दृष्टि का विश्लेषण किया है। उनका यह कथन बिल्कुल ठीक है कि " प्रेमचंद ने 'औद्योगिक नैतिकता' का वर्णन कर उद्योगपतियों की मनोवृत्ति के विरुद्ध जन-मत तैयार किया है।" उन्होंने उस मूक जनता का पक्ष लिया है जो दलित है, शोषित है, और निरुपाय है। पुस्तक में प्रेमचंद के उपन्यासों और लेखों से उद्धरण देकर उन्होंने इस बात का स्पष्टीकरण किया है। उनके निष्कर्ष स्वीकार योग्य हैं। प्रेमचंद के विचारों को उन्होंने बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता के साथ व्यक्त किया है। मुझे आशा है कि साहित्य-रसिक और समाज-सेवी इससे समान रूप से आनन्द पा सकेंगे। हमारे देश की बहु-विचित्र समस्याओं का इसमें उद्घाटन हुआ है और प्रेमचंद जैसे मनीषी का दिया हुआ समाधान इससे स्पष्ट हुआ है।

डा. विनयमोहनशर्मा (शोध-निर्देशक)

डा. महेन्द्र ने प्रथम बार प्रेमचंद के उपन्यासों में समस्या विशेष की ओर इंगित किया है और इस प्रकार शोध की नयी दिशा पर प्रकाश डाला है। विषय का प्रतिपादन सर्वथा वैज्ञानिक और स्पष्ट है। कहीं भी खींचतान नहीं की गयी है। हिन्दी में यह कदाचित्त सबसे कम पृष्ठों की; पर बड़े महत्त्व की थीसिस है। आशा है, प्रेमचंद के आलोचना-साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान होगा।

५

प्रोफेसर रामेश्वरशुक्ल 'अंचल'

'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' उच्चकोटि की आलोचनात्मक कृति है। प्रेमचंद के साहित्य की सोद्देश्यता और सामाजिकता पर गहरा विवेचन इस पुस्तक में है। विद्वान लेखक ने अपने कुशल अनुशीलन में विषय के समस्त अंगों और पक्षों पर विधिवत् विचार किया है। प्रेमचंद के साहित्य के अध्येताओं के लिए यह कृति उपयोगी ही नहीं; अनिवार्य है। इसे पढ़ कर प्रेमचंद के साहित्य के प्रेरणा स्रोतों को भली-भाँति समझा जा सकता है।

५

डा. कन्हैयालाल सहल

अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राज.

'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' द्वारा हम प्रेमचंद को नये आलोक में देखने लगते हैं। आजकल साहित्य के नये मूल्यों की बहुत चर्चा है। पुराने मूल्यों के स्थान में नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा मानवतावाद के आधार पर ही की जा सकती है। मानवतावाद के प्रति हमारी आस्था के दृढ़ीकरण के लिए प्रेमचंद का नाम चिर-स्मरणीय रहेगा। डा. महेंद्रभटनागर ने उनके सर्वत्र उभरते हुए मानवतावाद का जो जय-जयकार किया है; वह उचित ही है। प्रेमचंद के समस्यामूलक उपन्यासकार होने के संबंध में भले ही विवाद हो; किन्तु इसमें संदेह नहीं, एक अत्यधिक जागरूक कलाकार की भाँति; जिसकी चेतना सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक सक्रिय रहती है, प्रेमचंद अपने युग की समस्याओं से उलझे हैं और इसी में सच्चे कलाकार की सफलता है।

५

डा. संतोषकुमार तिवारी

डा. महेंद्रभटनागर की समीक्षात्मक कृति 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' अपनी समग्रता में प्रेमचंद की मानवीय दृष्टि को उजागर करने वाली एक महत्त्वपूर्ण सार्थक रचना है। रचनाकार की कृतियाँ पूरे युगीन इतिहास को लेकर चलती हैं; और जहाँ तक प्रेमचंद का संबंध है, उनका सम्पूर्ण कथा-साहित्य इतिहास के विविध पहलुओं को बारीकी से उकेर सका है। जीवन की ज्वलंत समस्याओं से जुड़ कर मनोवैज्ञानिक पकड़ के साथ उन्होंने युगीन स्पंदनों को जाना-समझा है। डा. महेंद्रभटनागर ने अपने सूक्ष्म विवेचन में यह रेखांकित किया है कि प्रेमचंद इतिहास के साथ-साथ मजदूर-किसान की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को अच्छी तरह समझ सके हैं। उन्होंने अपने समय से जुड़ कर स्वाधीनता की समस्या के साथ पारिवारिक जीवन के विविध पक्षों को देखा, नरेशों से लेकर वेश्याओं तक की आंतरिक उथल-पुथल को समझा और यथार्थ के धरातल पर मानवीय सदाशयता और सामाजिक आदर्श की प्रतिष्ठा की। यह कृति प्रेमचंद के उपन्यासों के सूक्ष्म अध्ययन से निःसृत जीवन-दर्शन पर आधारित है; **स्वतंत्र चिन्तन की परिचायक है; क्योंकि यह विभिन्न विद्वानों की विचार-धाराओं से आक्रांत नहीं है।** भाषा की सम्प्रेषणीयता और विश्लेषण-क्षमता सराहनीय है। उपन्यासकार प्रेमचंद के अध्येताओं को यह कृति असंदिग्ध रूप से उपयोगी है और अपनी एक नयी पहचान कायम करती है।

✘

डा. सु. शंकर राजू नायडू ,

अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

वस्तुतः प्रेमचंद के प्रमुख पात्र विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए ही लाये गये हैं। अतः उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद को 'व्यक्ति-चरित्र के उपन्यासकार' के रूप में देखना भी एक प्रकार से आपके ही मत को पुष्ट करता है; कि वे 'समस्यामूलक उपन्यासकार' थे। अतः दोनों मतों में तात्त्विक एकता ही मुझे प्रतीत होती है। आपने प्रेमचंद के द्वारा चित्रित सभी समस्याओं को स्पष्ट करके उनके व्यक्तित्व को पाठकों के सम्मुख यथावत् प्रस्तुत कर दिया है। प्रेमचंद पर लिखित आलोचना-जगत में आपके ग्रंथ का अपना एक विशेष स्थान बना रहेगा।

✘

डा. हरबंशलाल शर्मा

प्रोफ़ेसर : संस्कृत-हिन्दी विभाग, मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ़

मैंने डा. महेंद्रभटनागर की कृति 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद' आद्यन्त पढ़ी। लेखक ने इसमें प्रेमचंद के उपन्यासों की विवेचना करने में बड़ी सफलता दिखाई है। प्रेमचंद जी का सारा जीवन देश के जन-साधारण की समस्याओं के अध्ययन करने तथा समाधान जुटाने में ही व्यतीत हुआ। महेंद्र जी ने बड़ी कुशलतापूर्वक प्रेमचंद की इन समस्याओं का विश्लेषण किया है। उन्होंने स्वयं कहा है 'वास्तव में उनके मानस-पट पर भारतीय जनता की समस्याओं का जाल ऐसा बिछा हुआ था कि वे उससे किसी भी दशा में मुक्ति न पा सके और न पाना ही चाहते थे।' प्रेमचंद जी जनता को पूर्ण सुखी देखने के इच्छुक थे। वे समाज को आदर्श रूप में परिणत कर देना चाहते थे। डा. महेंद्र भटनागर के शब्दों में 'प्रेमचंद जी वास्तव में तुलसीदास की तरह लोक-हितवादी थे।' डा. महेंद्रभटनागर ने प्रेमचंद के उपन्यासों से उद्धरण दे कर तथ्यों को समझाने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये उद्धरण बोझिल होते हुए भी उपयुक्त हैं। कृति प्रेमचंद के उपन्यासों का सुन्दर विश्लेषण उपस्थित करती है। हिन्दी-साहित्य के अध्येता इससे बहुत अधिक लाभान्वित होंगे। मैं डा. महेंद्र भटनागर के इस प्रयत्न का हृदय से स्वागत करता हूँ। शुभं भूपात्।

✠

Dr. Indra Nath Madan

Head of the Hindi Deptt. Punjab University.

Dr. Mahendra Bhatnagar possesses a capacity for critical examination and judgement. His interpretation of Premchand's art and mind is full of potentiality. His point of view will lead to a new interpretation of Premchand's art and mind.

□

Dr. Rajpati Dixit, Varanasi

Presentation is clear and to the point. He has gone through the subject deeply and carefully and expressed his thought in an unostentatious, dignified and attractive style. The Thesis is satisfactory piece of research work, characterised by a fresh approach towards an interpretation of the novels of Premchand.

□

